उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-105

रीडर-एक

नाटक और अन्य

गद्य विधाएँ

हिन्दी गद्य विवेचना

(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
डॉ. जवरीमल्ल पारख

सहयोग
संजीव कुमार

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी	**संकाय सदस्य**
प्रो. गोपाल राय	प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रो. नामवर सिंह	(कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. नित्यानंद तिवारी	डॉ. जवरीमल्ल पारख
प्रो. निर्मला जैन	डॉ. रीता रानी पालीवाल
प्रो. प्रेम शंकर	डॉ. सत्यकाम
प्रो. मुजीब रिज़्वी	डॉ. राकेश वत्स
प्रो. मैनेजर पाण्डेय	डॉ. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी	डॉ. नीलम फ़ारूकी
प्रो. लल्लन राय	श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
प्रो. शिवकुमार मिश्र	डॉ. विमल थोरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह	
प्रो. सूरजभान सिंह	**पाठ्यक्रम संयोजक**
	डॉ. जवरीमल्ल पारख

निर्माण सहयोग

श्री कुलवंत सिंह	**सचिवालय सहयोग एवं**
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)	**कैमरा रेडी कॉपी निर्माण**
	श्री नरेश कुमार

अक्टूबर 2001 (मुद्रण)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001

ISBN- 81-266-0314-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. वी.रा. जगन्नाथन, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की ओर से विनय कुमार कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष 2023
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

विवरणिका

पृष्ठ संख्या

	भूमिका	5
1.	नाटक : हजारी प्रसाद द्विवेदी	11
2.	"अंधेर नगरी चौपट राजा" का रंगमंचीय अध्ययन : डॉ. देवेन्द्र राज अंकुर	30
3.	प्रसाद के नाटक : भाषा, भावबोध और मंचन : डॉ. विजयमोहन सिंह	39
4.	निर्देशक की पहल : शांता गांधी	46
5.	अधूरेपन की त्रासदी : नेमिचंद्र जैन	56
6.	राकेश के नाटक : कुछ अंतस्सूत्र : डॉ. जगदीश शर्मा	61
7.	अंधा युग : एक समीक्षा : गजानन माधव मुक्तिबोध	74
8.	"दायित्व गहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे" की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : 'अंधा युग': डॉ. निर्मला जैन	78
9.	भुवनेश्वर : एक दृष्टि : लक्ष्मीकांत वर्मा	86
10.	नये नाटक के जन्मदाता : भुवनेश्वर : विपिन कुमार अग्रवाल	91
11.	पारंपरिक रूपों और डिवाईसिज़ का सवाल : सफदर हाशमी	101
12.	निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व : डॉ. रामविलास शर्मा	111
13.	अशोक के फूल से देवदारु वन तक :कृष्णबिहारी मिश्र	131
14.	निबंधों में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व : त्रिलोचन पांडेय	143
15.	व्यंगकार : हरिशंकर परसाई : भीष्म साहनी	147
16.	गद्यकार महादेवी : गंगाप्रसाद पांडेय	152
17.	बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय : प्रयाग शुक्ल	173
18.	एक व्यक्ति : एक युग : शिवप्रसाद सिंह	179
19.	राहुल का हिमालय-प्रेम : गुणाकर मुले	184
20.	रांगेय राघव के रिपोर्ताज : मधुरेश	203
21.	श्रीकांत वर्मा की जिरह : अरविंद त्रिपाठी	---

XTERM-017

आभार

इस पुस्तक में संग्रहीत रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने हेतु लेखकों, प्रकाशकों और कापीराइट धारकों के प्रति इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय आभार व्यक्त करता है।

भूमिका

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' से संबंधित पाठ्य सामग्री के अध्ययन के एक अंग के रूप में यह पुस्तक तैयार की गई है। अब तक आपने 'हिंदी गद्य विविधा' पुस्तक, चारों नाटक और छह खंडों में प्रस्तुत छब्बीस इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। इस पाठ्यक्रम में नाटक और अन्य गद्य विधाओं को शामिल किया गया है, उन पर हम आपको काफी सामग्री उपलब्ध करा चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि इनसे संबंधित कौन-सी पुस्तकें हैं जिनका आप अतिरिक्त अध्ययन सामग्री के रूप में अध्ययन कर सकते हैं। लेकिन ये सभी पुस्तकें संभव है आपको उपलब्ध न हो। साथ ही बहुत सी सामग्री ऐसी भी है जो पत्र-पत्रिकाओं में हैं। इसको ध्यान में रखते हुए हमने यह संग्रह तैयार किया है। इसमें शामिल सभी लेख पूर्व प्रकाशित हैं और विभिन्न पुस्तकों और पत्रिकाओं से लिये गए हैं।

प्रयत्न के बावजूद हम सभी गद्य रचनाओं पर लेख नहीं दे पाए हैं। लेकिन जो सामग्री हमने शामिल की है, वह आपको सभी नाटकों और अधिकांश गद्य विधाओं को समझने में मददगार होगी, ऐसी आशा है।

इस पुस्तक का पहला निबंध नाटक पर है जिसके लेखक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी का यह लेख उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्य सहचर' से लिया गया है जिसमें नाटक के अलावा भी साहित्य की कई अन्य विधाओं पर निबंध संग्रहीत हैं। इसमें द्विवेदीजी ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के नियमों की सरल व्याख्या प्रस्तुत की है। अपनी बात को उन्होंने प्रख्यात नाटकों का उदाहरण देकर समझाया है। द्विवेदीजी का प्रयत्न यह भी रहा है कि नाटक संबंधी नियमों को वर्तमान नाटक और रंगमंच के संदर्भ में रखकर देखें और बताएँ कि ये नियम अब कितने प्रासंगिक है या नहीं है। द्विवेदीजी ने अपने इस निबंध में संस्कृत नाटकों से लेकर हिंदी के नाटकों तक की यथावश्यक चर्चा की है, और उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। यहाँ इस निबंध को शामिल करने का उद्देश्य पाठ्यक्रम में शामिल नाटकों को समझने का शास्त्रीय आधार प्रदान करना है।

पुस्तक का दूसरा निबंध प्रख्यात रंगकर्मी डॉ. देवेन्द्रराज 'अंकुर' का है, जिसमें उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रहसन 'अंधेर नगरी' के रंगमंचीय पहलुओं पर विचार किया है। 120 साल पहले लिखे गए इस नाटक की लोकप्रियता और प्रासंगिकता अभी भी पूर्ववत् विद्यमान है। रंगमंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से इस नाटक का क्या महत्व है इसी पर लेखक

ने प्रकाश डाला है। लेखक ने सत्यव्रत सिन्हा, ब.व. कारंत और स्वयं द्वारा की गई प्रस्तुति पर विचार किया है। लेखक का बल इस बात पर है कि "अंधेर नगरी" में नयी-नयी अर्थ भंगिमाओं और नये-नये रंगमंचीय प्रयोगों की प्रबल संभावनाएँ निहित हैं।

अगले दो निबंध जयशंकर प्रसाद के नाटकों से संबंधित हैं। पहला निबंध कथाकार और आलोचक विजयमोहन सिंह का है जिसमें उन्होंने प्रसाद के नाटकों की भाषा, भावबोध और मंचन से संबंधित विचार प्रस्तुत किए हैं जबकि दूसरा लेख रंगकर्मी शांता गांधी का लिखा हुआ है। उन्होंने "स्कंदगुप्त" नाटक की मंचीय प्रस्तुति पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने मंचन में आने वाली कठिनाइयों और उससे निकलने के उपायों पर प्रकाश डाला है। विजयमोहन सिंह ने प्रसाद के नाटकों के अध्ययन की अध्यापकीय परंपरा के खतरों का उल्लेख करते हुए भाषा में निहित "ड्रामेटिक डिक्शन", नाटकों के भावबोध और जीवन-दर्शन के महत्व की भी व्याख्या की है। दरअसल, प्रसाद के नाटकों को किस तरह पढ़ा जाता है, इस पर बहुत कुछ निर्भर है। रंगकर्मी शांता गांधी ने प्रसाद के इस नाटक को मंच पर प्रस्तुत किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने "नटरंग" पत्रिका में एक लेख लिखा जिसमें "स्कंदगुप्त" की प्रस्तुति के समय रंगकर्मी को किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए, किस तरह के परिवर्तन नाटक में करने चाहिए, उसकी मंच सज्जा, पात्रों की वेशभूषा और संकलनत्रय संबंधी समस्याओं का समाधान किस तरह करना चाहिए, इस पर उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इससे हम समझ सकते हैं कि "स्कंदगुप्त" को किस तरह सफलतापूर्वक मंचित किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम का तीसरा नाटक मोहन राकेश का "आधे-अधूरे" है। राकेश के पहले दो नाटकों "आषाढ़ का एक दिन" और "लहरों के राजहंस" के विपरीत "आधे-अधूरे" में मध्यवर्गीय शहरी स्त्री-पुरुष के संबंधों की जाँच पड़ताल की गई है। इस पुस्तक में हमने प्रसिद्ध नाट्य आलोचक नेमिचंद्र जैन का लेख "अधूरेपन की त्रासदी" शामिल किया है जिसमें उन्होंने इस नाटक की शक्ति और सीमाओं पर विचार किया है। नेमिचंद्र जैन का मानना है कि यह नाटक उनके पहले के दो नाटकों में व्यक्त लेखकीय अनुभव की ही आवृत्ति प्रतीत होता है। राकेश ने इसमें जो रंग-युक्तियाँ इस्तेमाल की हैं, उनको भी वे बहुत सार्थक नहीं मानते। "आधे-अधूरे" पर ही एक अन्य लेख डॉ. जगदीश शर्मा का है। डॉ. शर्मा ने अपने इस लेख में मोहन राकेश के इस नाटक पर ही विचार नहीं किया है, बल्कि पहले के दोनों नाटकों से उसकी सविस्तार तुलना भी की है। यह तुलना साहित्यिक रचना और रंगमंच पर प्रस्तुति दोनों संदर्भों में की है। डॉ. जगदीश शर्मा का विवेचन वस्तुपरक और उन्होंने मोहन राकेश के नाटकों में निहित अंतर्विरोधों की गहरी

पड़ताल की है। फिर भी, उनके विचार में राकेश ने हिंदी नाटकों की साहित्यिकता को मंच चेतना प्रदान की है।

पाठ्यक्रम में संकलित चौथा नाटक धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अंधायुग' है। इस नाटक पर पुस्तक में दो लेख हैं। एक प्रख्यात कवि और चिंतक गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा लिखित टिप्पणी है और दूसरा लेख समीक्षक डॉ. निर्मला जैन का है। अपनी टिप्पणी में मुक्तिबोध ने 'अंधायुग' की वैचारिक सीमा उजागर करते हुए लिखा है कि भारती ने मौजूदा सभयता के ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कन्फ्यूज कर दिया है। डॉ. निर्मला जैन ने 'अंधायुग' के कथ्य के विश्लेषण द्वारा उसके अस्तित्ववादी वैचारिक परिप्रेक्ष्य, फंटेसी और चरित्रों की प्रतीकात्मकता के रूप में उसकी शक्ति ाैर सीमाएँ तथा नाटक के रूप में उसकी संभावनाओं का गहन मूल्यांकन किया है।

नाटकों के बाद में हमने हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार भुवनेश्वर के 'ताबे के कीड़े' को पाठ् यक्रम में शामिल किया है। भुवनेश्वर का एकांकी नाटक एब्सर्ड नाट्य शैली में लिखा गया है, जिसे समझने में कठिनाई आती है। इकाई पढ़ने से आपको कुछ मदद मिली होगी। भुवनेश्वर के लेखन को समझने के लिए हमने इस संग्रह में दो लेख शामिल किए हैं। पहला लेख 'नयी कविता' के प्रमुख कवियों में से एक लक्ष्मीकांत वर्मा का है और दूसरा नयी कविता के ही एक अन्य कवि विपिन कुमार अग्रवाल का है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपनी टिप्पणी में भुवनेश्वर को इस ात का श्रेय दिया है कि जब यूरोपीय साहित्य में एब्सर्ड लेखन की शुरॅआत नहीं हुई थी, तब भुवनेश्वर एब्सर्ड नाटक लिखने लगे थे। हिंदी समाज उनकी प्रतिभा को नहीं पहचान सका। विपिन कुमार अग्रवाल ने अपने लेख में भुवनेश्वर के नाटकों की भाषा और शिल्प का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि वे किन रूपों में दूसरे रचनाकारों से भिन्न और विशिष्ट हैं। इस लेख में श्री अग्रवाल ने असंगत नाटक के रचनात्मक महत्व पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने, विशेष रूप से 'तांबे के कीड़े' के उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट की है। यह नाटक समझने में आपको कठिनाई अवश्य आएगी, लेकिन इकाई और इन दोनों लेखों को पढ़ने के बाद आपके लिए एकांकी नाटक को समझना आसान होगा।

इस पाठ्यक्रम में शमिल नुक्कड़ नाटक 'औरत' जन नाटय मंच, दिल्ली का रचित नाटक है। प्रसिद्ध रंगकर्मी सफदर हाशमी इस मंच से सक्रिय रूप से जुड़े थे औश्र इस नाटक को लिखने और खेलने में उनकी केंद्रीय भूमिका थी। इस पुस्तक में हम सफदर हाशमी द्वारा लिखा एक लेख दे रहे है जिसमें उन्होने नाटकों के लिए परंपरागत रूपों की उपयोगिता और प्रासंगिकता पर गहराई से विचार किया है। उनका मानना है कि कोई भी

नाटक किसी परंपरागत शैली में खेला जाता है तो उसकी सार्थकता तभी है जब वह कथ्य का इंटिग्रल हिस्सा होकर उभरे न कि उस पर थोपा हुआ लगे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों की रचना-शैली और व्यक्तित्व के प्रभाव आदि पक्षों पर विचार के लिए हमने डॉ. रामविलास शर्मा का निबंध चुना है। यह निबंध शुक्लजी पर उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' का एक अध्याय है। इस निबंध में रामविलासजी ने शुक्लजी के निबंधों विशेषतः मनोभावों संबंधी निबंधों में भावों की वस्तुपरक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही, उन्हें शुक्लजी के जीवन, जगत और साहित्य संबंधी दृष्टिकोणों के साथ जोड़कर देखा है। इस निबंध में रामविलासजी ने शुक्लजी के निबंधों की शैली, भाषा और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव का भी विवेचन किया है। इस लेख को पढ़ने से आपको 'लोभ और प्रीति' निबंध को भी समझने में मदद मिलेगी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध लेखन पर हमने दो लेख शामिल किए हैं। पहला लेख कृष्णबिहारी मिश्र का लिखा है, 'अशोक के फूल से देवदारु वन तक'। यद्यपि इस निबंध में 'कुटज' की चर्चा नहीं है, लेकिन उनके ललित निबंधों को समझने में यह मददगार होगा। कृष्णबिहारी मिश्र ने द्विवेदीजी के निबंधों के वैचारिक और भावपक्ष की चर्चा की है। साथ ही उन्होंने यह बताया है कि द्विवेदी जी अपने पांडित्य को लोकजीवन से संपृक्त करके उसे ऐसा रूप प्रदान करते हैं जिसमें न तो परंपरा की अवहेलना है और न नये से विराग। उनकी भाषिक क्षमता की भी मिश्रजी ने गहरी विवेचना की है। आप इस लेख के संदर्भ में 'कुटज' की विशेषताओं को भी समझ सकते हैं। दूसरे निबंध 'निबंधों में द्विवेदीजी का व्यक्तित्व' में त्रिलोचन पांडेय ने उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की विवेचना की है, विशेष रूप से प्रकृति के प्रति उनके लगाव को निबंधों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है। द्विवेदीजी के यहाँ प्रकृति प्रेम किस तरह जातीय परंपरा और संस्कृति को समझने का वाहक बना है, इसे भी हम उनके निबंधों में देख सकते हैं। लेखक ने द्विवेदीजी के साहित्य संबंधी विचारों का भी उल्लेख किया है जिससे उनके निबंध के साहित्यिक उद्देश्य को समझने में भी मदद मिलेगी।

पाठ्यक्रम में प्रसिद्ध व्यंगकार हरिशंकर परसाई का निबंध 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' को शामिल किया गया है। परसाई जी के व्यंग्य की विशेषताओं को व्यक्त करने वाला एक लेख 'व्यंगकार : हरिशंकर परसाई' दे रहे हैं। इस निबंध में प्रख्यात कथाकार भीष्म साहनी ने परसाईजी के व्यंग्य के सामाजिक और वैचारिक आधारों का विवेचन किया है। भीष्म साहनी के अनुसार परसाईजी के व्यंग्य व्यक्ति केंद्रित नहीं है, न ही वे यह मानते हैं

सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि उसको बदला नहीं जा सकता। यही कारण है कि उनके व्यंग्य में विनोद की मात्रा समाहित रहती है।

छायावाद की कवयित्री महादेवी वर्मा श्रेष्ठ गद्यकार भी हैं। उनके लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों को पढ़ने के बाद ही हम समझ पाते हैं कि उनका संपूर्ण लेखन कितना महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है। एक गद्यकार के रूप में (जिनमें उनका आलोचक रूप भी शामिल है) महादेवीजी के लेखन का विवेचन गंगाप्रसाद पांडेय ने किया है। उन्होंने बताया है कि महादेवी साहित्य में न सिद्धांतों को महत्व देती है, न जीवन निरपेक्ष कलावादिता को। उनके लिए जीवन के यथार्थ से भिन्न साहित्य का कोई मतलब नहीं है। वे कलाकार से किसी वाद के प्रति निष्ठा की नहीं गहरी संवेदनशीलता की कामना करती हैं। यद्यपि महादेवी का लेखन गहरे अर्थों में मानवीय और प्रगतिशील है, लेकिन वे प्रगतिवाद की विचारधारात्मक संकीर्णता का विरोध करती है। दरअसल, महादेवी प्रगतिवाद को एक राजनीतिक आंदोलन के रूप में देखती है, जो सही नहीं है।

'बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय' लेख में श्री प्रयाग शुक्ल ने अज्ञेय की बहुमुखी प्रतिभा की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। अज्ञेय ने कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण आदि विभिन्न विधाओं में समान महत्व का लेखन किया है। अपनी बात कहने के लिए उन्हें जो विधा सबसे उपयुक्त लगती थी, उसका वे इस्तेमाल करते थे। लेकिन किसी विधा में क्यों न लिखा हो, उनकी लेखन क्षमता का लोहा सभी को मानना पड़ता था। प्रयाग शुक्ल का विचार है कि अज्ञेय का रचनाकार किसी एक विधा या एक क्षेत्र से संतुष्ट होने वाला नहीं था। वह भारतेंदु, प्रसाद, निराला की परंपरा के लेखक थे जो एक साथ बहुत से क्षेत्रों में सक्रिय रहते थे।

प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' जो उनके छोटे पुत्र और कथाकार अमृत राय ने लिखी है, उसकी समीक्षा हिंदी कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने लिखी थी। हमने इस पुस्तक में उस समीक्षा को संकलित किया है। प्रेमचंद अपने जीवन को 'सपाट' मानते थे और इस कथित सपाट जीवन को रोचक, प्रेरक और रचनात्मक जीवनी में ढालना आसान काम नही था। शिवप्रसाद सिंह के अनुसार, "अमृतराय ने इस सपाट 'लैंडस्केप' की चुनौती स्वीकार की और उन्होंने प्रेमचंद के जीवन को अपनी पूरी योग्यता के साथ एक जीवंत 'डाकुमेंट' बना दिया, यह उनकी बड़ी सफलता है।"

राहुल सांकृत्यायन का लिखा यात्रा वृतांत 'किन्नर देश की ओर' पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राहुल जी को हिमालय से कितना गहरा प्रेम था। श्री गुणाकर मुले ने अपने

लेख 'राहुल का हिमालय-प्रेम' में विस्तार से बताया है कि राहुलजी ने कितनी बार, कब-कब और किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर हिमालय की यात्रा की। उनकी हिमालय पर लिखी विभिन्न पुस्तकों का क्या महत्व है, साथ ही, उनको अपनी ये पुस्तकें छपवाने में किस तरह की कठिनाइयाँ आईं। राहुलजी का हिमालय से इतना गहरा लगाव था कि उन्होंने परिवार बसाने पर वहीं रहने का निश चय किया और उसी हिमालय की गोद में उनका देहावसान हुआ।

'रांगेय राघव के रिपोर्ताज' शीर्षक आलेख का मूल शीर्षक 'नाटक और रिपोर्ताज' है। रांगेय राघव पर लिखें गए साहित्य अकादमी के मोनोग्राम से यह लिया गया है। इसके लेखक आलोचक मधुरेश है जिन्होंने रांगेय राघव के नाटकों और रिपोर्ताज पर एक ही अध्याय में विचार किया है। इस पुस्तक में अध्याय के सिर्फ उसी अंश को लिया गया है जिसमें उन्होंने रांगेय राघव के रिपोर्ताजों का विवेचन किया है।

इस पुस्तक के अंत में हमने डॉ.अरबिंद त्रिपाठी की पुस्तक ''श्रीकांत वर्मा'' का एक अध्याय शामिल किया है, जिसे पढ़ने से आपको उनके लेखन की वैचारिक बुनावट को समझने में मदद मिलेगी। ऑक्टेवियो पॉज से लिए गए साक्षात्कार में आपको इस बात का अनुमान हो गया होगा कि श्रीकांत वर्मा की मूल चिंताएं क्या थीं। यह निबंध उन चिंताओं को समझने का वैचारिक आधार प्रदान करता है।

आप इन लेखों को विभिन्न खंडों में दी गई सामग्री के साथ पढ़ेंगे तो अधिक उपयोगी होगा।

जवरीमल्ल पारख

1. नाटक

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हमने उपन्यास को समझने का प्रयत्न किया है। अब नाटक को समझने जा रहे हैं। यह क्रम कालक्रम की दृष्टि से उलटा है। पहले नाटक का आविर्भाव हुआ था और उसके बहुत बाद जाकर उपन्यास का हुआ। इस तरह कालक्रम के हिसाब से नाटक की विवेचना ही पहले करनी चाहिए थी, उपन्यास की बाद में। प्रायः ही आलोचक लोग इसी क्रम का पालन करते हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यास असल में नाटक की अपेक्षा शिथिल कथानक का साहित्य है। नाटक अधिक ठोस कथानक का साहित्य है। इसलिए उपन्यास का विश्लेषण सहज और अल्पायासग्राह्य होता है। दूसरे, नाटक उपन्यास की भाँति केवल पुस्तकगत साहित्य नहीं है। वह रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया होता है, अर्थात् केवल पुस्तक में लिखी हुई बातें ही संपूर्ण नाटक नहीं है, वे अपने आपकी पूर्णता के लिए रंगमंच की अपेक्षा रखती है। उपन्यास में यह बात नहीं होती, वह अपना रंगमंच अपने पात्रों में लिए फिरता है। तीसरे, उपन्यास लेखक जानता है कि उसका पाठक अपनी सुविधा और अवसर के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ सकता है। इसलिए वह किसी संकीर्णता में बंधा नहीं रहता, जबकि नाटक का लिखने वाला लेखक अच्छी तरह जानता है कि उसका नाटक दो या तीन घंटे के भीतर द्रष्टा को देख लेना है। और इसीलिए आकार और विस्तार के मामले में संकीर्ण सीमा में बंधा रहता है। उसकी यह मनोवृत्ति नाटक को जहाँ अधिक ठोस बना देती है वहाँ अनेक कौशल ग्रहण करने को बाध्य कर देती है। इसीलिए नाटक उपन्यास की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। एक चौथा कारण यह है कि उपन्यासकार को अपने पात्रों के भीतरी मनोभावों को खोलकर बता देने की स्वाधीनता प्राप्त रहती है, जो नाटककार को नहीं रहती। इसलिए नाटक-लेखक जहाँ अपने उपस्थापन में संक्षिप्त और ठोस होता है वहाँ अनेक बंधनों से जकड़ा भी रहता है। इस पराधीनता के कारण उसे अनेक कौशल अवलंबन करने पड़ते हैं। इन भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कौशलों के अवलंबन के कारण उपन्यास की अपेक्षा नाटक अधिक ठोस होता है। इसलिए यह मामूली कायदा सा हो गया है कि पहले उपन्यास की विवेचना कर लेने के बाद ही नाटक की विवेचना की जाए।

जिन पंडितों ने पुराने शास्त्रों का अध्ययन किया है उनका अनुमान है कि बहुत पहले भारतवर्ष में जो नाटक खेले जाते थे उनमें बातचीत नहीं हुआ करती थी। वे केवल नाना अभिनयों के रूप में अभिनीत होते थे। अब भी संस्कृत के पुराने-नाटकों में इस प्रथा का भग्नावशेष प्राप्य है। इन नाटकों में जब कोई पात्र कुछ करने को होता है तो उसका निर्देश इस प्रकार दिया जाता है - 'अमुक पात्र अमुक कार्य का अभिनय कर रहा है' (शकुंतला वृक्षसेचन नाटयति')। यह इस बात का सबूत देता है कि नाटकों में बातचीत उतनी महत्वपूर्ण वस्तु नहीं मानी जाती थी जितनी क्रिया। डिडेराट नामक पश्चिमी पंडित के बारे में प्रसिद्ध है कि उसकी यह अद्‌भुत आदत थी कि नाटक देखते समय कान बंद कर लिया करता था। ऐसा करने से वह नाटकीय क्रिया को बातचीत से अलग करके देख सकता था और नाटक की उत्कृष्टता को ठीक-ठीक समझ सकता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटक में क्रिया ही प्रधान होती है। इसका मतलब यह हुआ कि नाटक की पोथी में जो कुछ छपा होता है उसकी अपेक्षा वही बात ज्यादा महत्वपूर्ण होती है जो छपी नहीं होती और सिर्फ रंगभूमि में देखी जा सकती है : नाटक का सबसे प्रधान अंग उसका क्रिया-प्रधान दृश्यांग ही होता है, और इसीलिए पुराने शास्त्रकार नाटक को दृश्यकाव्य कह गए हैं।

उपन्यास में जितने तत्व होते हैं वे सभी नाटक में भी होते हैं। इन तत्वों के सम्मिलित जोर से ही नाटक क्रियापरायण होता है। इसलिए उसमें भी कथावस्तु उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना उपन्यास में, परंतु, जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, नाटककार हर मामले में बहुत से बंधनों से बंधा रहता है। इसीलिए वह बड़ी सावधानी से उन कम से कम घटनाओं का सन्निवेश करता है जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता। यदि वह ऐसे बेकार दृश्यों की अवधारणा करें, जो नाटक में कोई उद्देश्य ही नहीं सिद्ध करते, तो उसका नाटक शिथिल हो जाएगा। शैथिल्य नाटक का बड़ा भारी दोष है। परंतु हर बात में नाटककार को स्टेज की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार ने स्टेज में ऐसी अनेक सुविधाएँ ला दी हैं, जिनके कारण आज के नाटककार का प्राचीन नाटक की अपेक्षा कम घटनाओं के सन्निवेश से भी काम चल जाता है। कालिदास और भवभूति के नाटकों में ऐसे बहुत से दृश्य अवतरित किए गए हैं, जिन्हें आज का नाटककार छोड़ देता और स्टेज में ऐसा-निर्देश दे देता, जिससे वे बातें बिना कहे ही सहृदय श्रोता की समझ में आ जाती। इब्सन आदि आधुनिक नाटककार इस प्रकार के घटनाबहुल दृश्यों की अवतारणा न करके एक खास बात पर घटनाओं को इस प्रकार केंद्रित करते हैं कि उनका उद्देश्य प्रतिफलित हो जाता है। इसलिए नाटकीय कथाबस्तु औपन्यासिक कथावस्तु से ज्यादा कठिन होती है।

इस (नाटक के) कथावस्तु के दो अंग होते हैं, दृश्यांश और सूच्यांश। अर्थात् एक तो वह वस्तु जो नाटक की क्रिया को अग्रसर करती है और सहृदय को रसानुभूति के अनुकूल करती है। नाटककार को यह समझना चाहिए कि कथावस्तु में कौन-सा दृश्यांश होगा और कौन-सा सूच्यांश। हिंदी के एक नामी नाटककार ने राम के बन जाते समय नागरिकों का रोकना, वशिष्ठ का व्याख्यान देना आदि बातें बड़े आडंबर के साथ दृश्य रूप में अंकित की है, जब कि कैकेयी का वर मांगना और राजा का शोकाकुल होना केवल नागरिकों की बातचीत के रूप में सूचित भर कर दिया है। स्पष्ट ही वे कथा के उस मार्मिक अंश को तरह दे गए हैं, जो सहृदय के रसबोध को जागृत करता और अभिनेता के अभिनय कौशल की कसौटी होता। अगर कालिदास ने दो नागरिकों में बातचीत कराके यह सूचना दे दी होती कि शकुंतला को राजा दुष्यंत ने अस्वीकार कर दिया, तो उनका 'अभिज्ञानशाकुंतल' अत्यंत दरिद्र हो जाता। इसलिए नाटक की कथावस्तु का विचार करते समय देखना चाहिए कि नाटकाकार जिन बातों को रंगमंच पर अभिनीत होते दिखाना चाहता है वे मार्मिक अंश है या नहीं, और पूर्ववर्ती या परवर्ती घटनाओं की अनुभूति को गाढ़ा करने में कोई सहायता पहुंचा रहे हैं या नहीं।

पुराने ज़माने के नाटकों में केवल सूचना देने के लिए पाँच प्रकार के कौशल का निर्देश है। इन्हें अर्थोपस्थापक कहा गया है। प्रधान दो है : प्रवेशक और विष्कंभक। विष्कंभक या विष्कंभ सिर्फ दो पात्रों में (जो कभी भी उत्तम श्रेणी के नहीं होते) बातचीत के द्वारा भावी या अतीत अर्थ की सूचना देने के लिए अंक के आरंभ में जोड़ा जाता है। जब इसके पात्र मध्यम श्रेणी के होते थे और शुद्ध (संस्कृत) भाषा में बात करते थे तो इसे शुद्ध विष्कंभक कहा जाता था। और जब उनमें से एक निम्न श्रेणी का होता था और लौकिक (प्राकृत) भाषा बोलता था तो उसे 'मिश्र विष्कंभक' कहा जाता था। विष्कंभक नाटक के आरंभ में भी आ सकता था। प्रवेशक ठीक इसी तरह की चीज है। अंतर केवल यह है कि इसके पात्र निम्न श्रेणी के होते थे, प्राकृत में बात करते थे और नाटक के प्रारंभ में इसका प्रयोग नहीं होता था।

पर्दे के भीतर से किसी आवश्यक बात की सूचना देने को चूलिका या खंडचूलिका कहते थे। किसी अंक के अंत में आगामी अंक के विषय में दी गई सूचना को अंकमुख और एक अंक की क्रिया लगातार दूसरे अंक तक चलती रहे तो उसे अंकावतार कहा जाता था। इन कौशलों से ऐसी बातों की सूचना दी जाती थी, जो रंगमंच पर अभिनीत होने के योग्य नहीं समझी जाती थी।

उपन्यास की भांति नाटक में भी एकाधिक कथावस्तुएँ रह सकती हैं। एक घटना प्रधान होती है, बाकी अप्रधान। प्रधान को पुराने आचार्य आधिकारिक और अप्रधान को प्रासंगिक कह गए हैं। 'रामायण' में राम की कथा आधिकारिक है और सुग्रीव की प्रासंगिक।

प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की होती हैं : (1) वे, जो आधिकारिक कथा के साथ बराबर चलती रहे और (2) वे जो थोड़ी दूर तक ही चलें। पहली को पताका स्थान और दूसरी को प्रकरी कहते हैं। नाटक में यदि दो कथावस्तुओं का इस प्रकार सन्निवेश हो कि दोनों ही प्रधान-सी लगें या परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध जान पड़ें, तो वहाँ नाटककार सफल नहीं कहा जा सकता। इस बात को 'अजातशत्रु' नामक प्रसाद जी के नाटक से समझा जा सकता है। 'अजातशत्रु' की कथा में तीन घटनाएँ एक दूसरे से गूंथी गई हैं : (1) मगध के राजघराने की कलह, जिसके कारण वृद्ध राजा बिंबसार और रानी वासवी राजच्युत हुए हैं। (2) कौशल के राजा प्रसेनजित और उनके पुत्र तथा रानी का पारस्परिक मनोमालिन्य और (3) कोशांबी के राजा उदयन और उनकी रानी मागंधी तथा पद्मावती का विवाद। मागंधी ही अंत में चलकर श्यामा वेश्या बन जाती है और वही आगे जाकर आम्रपाली। यह तीसरी घटना बहुत सार्थक नहीं है। मागंधी का श्यामा के रूप में घर छोड़कर बाजार में जा बैठना थोड़ा-सा नाटकीय उद्देश्य सिद्ध जरूर करता है, पर वह नाटक का अत्यंत आवश्यक अंग नहीं है। अब इन घटनाओं पर विचार किया जाए।

वस्तुतः प्रथमोक्त दो राजघरानों के घरेलू कलह से ही नाटक की घटना बनी हुई है। वे दोनों घटनाएँ समानांतर सी है, यद्यपि दोनों का नियोग दो तरह से हुआ है। दोनों में ही पिता-पुत्र का झगड़ा है। दोनों में ही विद्रोही पुत्रों की माताएँ उन्हें उत्तेजित करने में प्रमुख भाग लेती हैं। परंतु मगध का बूढ़ा सम्राट बिंबसार नकारात्मक चरित्र का पात्र है, जबकि कौशल का प्रसेनजित घटनात्मक। इसका नतीजा यह होता है कि पहला सिहांसन त्याग कर बंदी हो जाता है और उसका विद्रोही पुत्र सम्राट बन बैठता है जबकि दूसरा (प्रसेनजित) गद्दी पर जमा रहता है और पुत्र को देश निकाले की सजा देता है।

ये दोनों कथानक बहुत कुछ निरपेक्ष से हैं। कौशल वाली कहानी मगध वाली कहानी की अपेक्षा गौण केवल इस अर्थ में है कि मगध का गृह विवाद पहले होता है और उसका समाचार पाने पर ही कौशल वाला गृहविवाद आरंभ हो जाता है, यद्यपि आगे की घटनाओं से हम जानते हैं कि इस गृह विवाद के पीछे बहुत पुराना झगड़ा है। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें कौन सी घटना आधिकारिक है और कौन-सी प्रासंगिक। नाटक के नाम से जान पड़ता है कि मगधवाली कथा को ही नाटककार प्रधान मानता है। इस कथा को अग्रसर करने में कौशल वाली घटना से थोड़ी सहायता मिली ज़रूर है, पर वहाँ भी यह निर्णय करना कठिन है कि अजात को शैलेंद्र से अधिक सहायता मिली है या शैलेंद्र को अजात से। केवल एक चरित्र - मल्लिका से - जो कौशल वाली घटना का परिणाम है, दोनों घटनाओं का घनिष्ठ संबंध है और इस एक ही सूत्र की सहायिका होने के कारण कौशल वाली घटना में प्रासंगिकता आ गई है। उदयन वाली तीसरी कथा की एकमात्र देन श्यामा है जो घटनाविकास में महत्वपूर्ण भाग लेती है, पर अगर वह पहले

मागधी के रूप में रानी न रही होती और सिर्फ काशी की वेश्या होती तो नाटक की कोई हानि नहीं होती। उसके रानीत्व की सूचना बाद में केवल विदूषक की बातचीत में आती है - खुद वह विदूषक भी इस दृश्य में केवल इसलिए खड़ा कर दिया गया है कि नाटककार ने आम्रपाली की जो कहानी नाटक में लिख दी है उसको कुछ सार्थक बना दिया जाए। किंतु यह भी बेकार ही है। यदि आम्रपाली के मागधी रूप का कथन नितांत आवश्यक भी होते तो कई दृश्यों की अवतरणिका न करके उसे सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया जा सकता था।

कुछ लोगों ने यह भ्रम फैला दिया है कि नाटक में चरित्र-चित्रण गौण वस्तु है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण और घटना विन्यास दोनों सम्मिलित भाव से उस महान् गुण को उत्पन्न करते हैं जिसे क्रिया कहते हैं। उत्तम चरित्र-चित्रण नाटककार की कृति को महान् बनाता है। सिर्फ घटनाएँ ही यदि बाहर से आ आकर पात्रों को विशेष दिशा में अग्रसर करती रहे तो पात्र निर्जीव जड़पिंड के समान मालूम होंगे और नाटकीय प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा। शंकुतला का आश्रम में आत्म-समर्पण और बाद में अपने प्रेमी के द्वारा प्रत्याख्यात होकर रोषदीप्त होना महज अपने आप में स्वतंत्र बाहरी घटनाएँ नहीं है, बल्कि शंकुतला के सरल और निष्कपट चरित्र के भीतर से उत्पन्न हुई है : 'उत्तर-रामचरित' में राम द्वारा सीता का निर्वासन राम के भीतरी चरित्र की तर्कसंगत परिणति है।

यह ज़रूर है कि नाटककार उपन्यासकार की भाँति अपने पात्रों के चरित्र विश्लेषण का सुयोग नहीं पाता। उसे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण थोड़े से इशारों से कर देना पड़ता है। उसका प्रधान अवलंब उस पात्र की बातचीत और अन्य पात्रों की, उसके संबंध में की हुई, उक्तियाँ होती है। परंतु जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, नाटक में यह बात उतनी महत्वपूर्ण नहीं है कि पात्र क्या कहता है, महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या करता है। घटना और पात्र एक-दूसरे से धक्का खाकर आगे बढ़ते रहते हैं और इस घात-प्रतिघात से उत्पन्न क्रियाओं के द्वारा हम पात्रों के चरित्र-रूपी ग्रंथ के पन्ने खोलते जाते हैं। नाटककार का बड़ा कठिन कार्य यह है कि यह प्रति मुहूर्त भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में नया नया मनोभाव स्वीकार करता रहता है और इसलिए उसका व्यक्तिगत मत और विचार बराबर दबते रहते हैं। इसी बात को नाटक का निर्वैयक्तिक तत्व कहते हैं।

कथावस्तु और पात्रों के घात-प्रतिघात से नाटक महान् बनता है। नाटककार यदि पात्रों और घटनाओं को होशियारी से संभाल सका और घटनाविन्यास की सुकुमार अवस्थाओं को पहचान सका, तो अत्यंत मामूली कहानी को भी महिमा मंडित कर दे सकता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतल' है, जिसे संक्षेप में शकुंतला नाटक कहा जाता है। महाभारत की सीधी-सादी कहानी को संभालने में नाटककार ने कमाल की सुकुमार प्रतिभा का परिचय दिया है।

महाभारत की कहानी सीधी है। राजा दुष्यंत कण्व के आश्रम में जाता है। शकुंतला को देखकर आकृष्ट होता है। वह निस्संकोच अपना अप्सरा से जन्म होना बता जाती है। दोनों में कुछ बहस होने के बाद उसे यकीन हो जाता है कि गांधर्व विवाह धर्मसंगत है। गांधर्व विवाह हो जाता है, परंतु उसमें शकुंतला शर्त करा लेती है कि उसी का पुत्र राजा होगा। राजा राजधानी को लौट आता है। शकुंतला के पुत्र होता है। उसे ऋषि के शिष्य दरबार तक पहुँचाकर चले आते हैं। राजा अस्वीकार करता है। शकुंतला कड़ी कड़ी बातें सुनाती है। फिर आकाशवाणी होती है कि शकुंतला का पुत्र वस्तुतः दुष्यंत का पुत्र है और राजा उसे स्वीकार करता है तथा बताता है कि चालाकी से देववाणी द्वारा यह कहलवा लेना उसका उद्देश्य था कि भरत वस्तुतः दुष्यंत का ही पुत्र है।

यही वह सीधी-सादी कहानी है जिसे कालिदास ने अपने नाटक के मूल कथानक के रूप में पाया था। इस अत्यंत सरल कहानी को कालिदास की जादूभरी लेखनी ने एकदम नई काया दे दी है। यहाँ लज्जाशीला तापसकुमारी अपना जन्म वृत्तांत स्वयं नहीं कहती। उसकी सखियाँ केवल उस ओर इशारा भर कर देती है। बाकी बुद्धिमान राजा को स्वयं समझ लेने को छोड़ देती है। उसके प्रेमोदय और गांधर्व-विवाह तूली के अत्यंत सुकुमार स्पर्श से चित्रित किए गए हैं। राजा के अनुचित आचरण को शाप की कथा से ढक दिया गया है, और इस आचरण की थोड़ी सी जिम्मेदारी शकुंतला पर भी डालकर कवि ने करुणतर अनुभूति का अवसर दिया है।

शकुंतला जब दरबार में पतिदर्शन की आशा से उपस्थित होती है तो शाप की घटना एक विचित्र नाटकीय 'भाग्यविडंबन' का काम करती है। राजा के मर्मांतक प्रत्याख्यान को इस शाप की कथा ने ऐसा बना दिया है कि सहृदय का क्षोभ एक विचित्र करुण रस से भीगकर ऊपर आने के अयोग्य हो जाता है। राजा पर झुंझलाने के बदले वह उस पर दया करता है। शकुंतला को शाप के वृत्तांतों से अनभिज्ञ रखकर नाटककार ने इस प्रसंग को अद्‌भुत मानसिक द्वंद्वों का करुण चित्र बना दिया है। शकुंतला का रोष, राजा का प्रत्याख्यान, ऋषि-शिष्यों का शकुंतला को छोड़ जाना – सब-कुछ विचित्र रसपरिपाक के कारण बन जाते हैं।

महाभारत की शकुंतला की भाँति कालिदास की शकुंतला राजा को शाप की धमकी नहीं देती। उसकी बातें राजवधू और ऋषि कन्या के गौरव के अनुकूल है। दुष्यंत उत्तम नायक है, क्योंकि वह राजकर्तव्यों का समुचित पालन करने वाला है। उसका निःस्वार्थ कर्तव्यमय जीवन राजर्षि की तपस्या का जीवन है। शकुंतला का परित्याग उसके उज्ज्वल चरित्र को उज्ज्वलतर बनाने योग्य ही सिद्ध हुआ है; क्योंकि अनजाने में पराई स्त्री को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना भी पाप है, और असल में वह इस पाप से बचने की ही कोशिश कर रहा था। शकुंतला का उसके प्रति जो प्रेम है वह दुख की अग्नि से परिशुद्ध है। अंतिम

मिलन प्रेमद्रविता बालिका का नहीं, बल्कि तपःशुद्धा, मातृत्व के गौरव से गौरवान्वित, विगतकल्मषा, साध्वी शकुंतला का है।

विरोधी परिस्थितियों और व्यक्तित्वों की सृष्टि करके अपने पात्रों के चरित्रगुण को उज्ज्वल करने में भी कवि ने कमाल की होशियारी से काम लिया है। लेकिन शकुंतला की तुलना में किसी भी स्त्री पात्र को रंगमंच पर दर्शक के सामने नहीं आने दिया है। विदूषक सदा राजा के साथ रहता है, परंतु अगर वह शकुंतला के प्रेम का साक्षी होता तो सारे नाटक का रस फीका हो जाता। ठीक मौके पर नाटककार ने उसे कौशलपूर्वक हटा दिया है।

कण्व का बड़ा आकर्षक चित्र है। वे संतानहीन ऋषि हैं, पर संतान के अहेतुक प्रेम से उनका हृदय भरा है। मरीच और दुर्वासा इन दो और ऋषियों को तुलना में खड़ा करके कवि ने उनके हृदय की गंभीरता, उदारता और प्रेमप्रवणता को अति उज्ज्वल कर दिया है। इसी प्रकार चरित्रों के चित्रण में और घटनाओं के गतिविकास में उनका संयोजन करके 'शकुंतला' को कालिदास ने विश्वसाहित्य की अमर विभूति बना दिया है। चरित्र-चित्रण इतना सूक्ष्म और कौशलपूर्ण है कि थोड़े समय में दिख जाने वाले अत्यंत गौण चरित्र भी स्पष्ट हो उठे हैं। शार्गंधर और शारद्वत बहुत थोड़े समय के लिए रंगमंच पर आते हैं, बातें भी कम ही करते हैं, पर उतने में ही स्पष्ट हो गया है कि शार्गंधर उद्धत और गर्वीला है, राजा को खरी-खरी सुना देता है और शारद्वत गंभीर है, और कन्या पक्ष के आदमी को जिस प्रकार बात करनी चाहिए वैसी बात करता है।

मतलब यह कि पात्रों के चरित्र और घटनाएँ एक-दूसरे से टकराकर जब नाटक को गतिशील बनाए रखें तभी वे सफल होती है। यह बात उपन्यास के लिए भी सत्य है। कोई भी रचना तभी सफल हो सकती है, जब हम यह अनुभव करते हैं कि कुछ भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति विभिन्न उद्देश्यों को लेकर एकत्र हुए, और उनके स्वभावगत और उद्देश्यगत विरोधों के संघर्ष से कुछ परिस्थितियों में घटनाएं अग्रसर होती गईं। इसलिए पात्रों का स्वभाव और उनका उद्देश्य नाटकीय कथावस्तु के लिए परम आवश्यक है। उनकी उपेक्षा दोष है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पात्रों के चरित्र-चित्रण का एक प्रधान अवलंब उनकी बातचीत है। बातचीत से हम उनके भीतरी मनोभावों का आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओं के पीछे रहने वाले उनके विचार समझ पाते हैं। इसीलिए भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पात्रों की बातचीत को नाट्य का शरीर बताया गया है। उपन्यास में बातचीत के द्वारा लेखक अपने उद्देश्यों को व्यक्त कर सकता है, अपने मान्य सिद्धांतों के गुण-दोष की विवेचना कर सकता है, अन्य पात्रों के चरित्र की व्याख्या कर सकता है, पर

नाटककार को इतना अवकाश नहीं होता। नाटककार जो बातचीत करता है उसका उद्देश्य चरित्र के भीतरी मनोभावों और वास्तविक स्वभाव को व्यक्त करके उसके चरित्रगत वैशिष्ट्य को दिखाना होता है। नाटकीय वार्तालाप कां औचित्य विचार करते समय यह देखना चाहिए कि इससे पात्र की चरित्रगत विशेषता पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी से उसकी सार्थकता का निर्णय होना चाहिए।

ऐसा संभव है कि पात्र एक ऐसी बात प्रकाश्य रूप में कहे जो उसका भीतरी मनोभाव न हो, किसी कारणवश वह झूठ बोल रहा हो। ऐसी हालत में नाटककार एक 'कौशल' का अवलंबन करता है। वह या तो पात्र से कोई स्वगत उक्ति कराता है। अर्थात् पात्र अपने आपसे ही बातचीत करके असली रहस्य खोल देता है, या फिर, यदि पात्र का कोई विश्वसनीय साथी वहाँ मौजूद हो, तो उससे जनांतिक में बात करा देता है। यह जनांतिक वाली बात सिर्फ उसका विश्वासपात्र व्यक्ति ही सुनता है।

ये दोनों बाते अजीब सी लगती हैं। रंगमंच से बहुत दूर बैठा हुआ श्रोता जनांतिक की बातें सुन लेता है, पर पास खड़ा आदमी नहीं सुन पाता, ऐसा मान लिया जाता है। स्वगत उक्ति में तो कभी-कभी लंबा व्याख्यान होता है। नाटक के रंगमंच के सिवा दुनिया में और कहीं भी दुरुस्त होश वाला आदमी इस प्रकार अपने आपको व्याख्यान नहीं सुनाता। आलोचकों में इस प्रथा के औचित्य को लेकर काफी बहसें हुई है पर ये दोनों सारे संसार के नाटककारों की चिगचरित प्रथाएँ हैं।

वस्तुतः स्वगत उक्ति पात्र का मानसिक सोच और वितर्क है। नाटककार अपने श्रोताओं की सुविधा के लिए उन वितर्कों को जोर से बोलवाता है। ज़माने से श्रोता भी उसके साथ इस प्रकार की रियायत करता आया है। भारतीय नाटकों में इससे मिलती-जुलती एक और भी विधि है। इसे आकाशभाषित कहते हैं। इसमें पात्र इस प्रकार बातचीत करता है मानो दुतल्ले पर से कोई उससे कुछ पूछ रहा है और वह उसका जवाब दे रहा है। प्रति बार वह श्रोताओं के सुभीते के लिए स्वयं ही पूछ लेता है : क्या कहा? अमुक बात और फिर अमुक बात का जवाब देता है।

आजकल की यथार्थवादी प्रवृत्ति इस प्रकार की रूढ़ियों को भद्दी रूढ़ि के रूप में ही ग्रहण करने लगी है। आधुनिक नाटककार इस प्रथा को छोड़ने लगे हैं और साधारण बातचीत के भीतर से ही पात्र के भीतरी मनोभावों को चित्रित करने का प्रयत्न करने लगे हैं। यह कठिन कार्य और भी कठिन इसलिए हो गया है कि आजकल के नाटक अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं, फिर भी, आधुनिक नाटककार ने सफलतापूर्वक इन रूढ़ियों का परित्याग किया है।

रंगमंच की सुविधा-असुविधा के अनुसार नाटक की कारीगरी में बराबर परिवर्तन होता आया है। आजकल 'रंगमंच' को वास्तविक और यथार्थ रखने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। ऐसा करने से सब समय दर्शक के साथ न्याय नहीं किया जाता। दर्शक की कल्पना को भी पूरा अवकाश मिलना चाहिए। रंगमंच के दृश्य की ओर इशारा भर हो और बाकी दर्शक की कल्पना के ऊपर छोड़ दिया जाए तो ज्यादा सरसता आ सकती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रंगमंच को अति यथार्थवादी बनाने की प्रवृत्ति को लड़कपन कहा था। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय रंगमंच आधुनिक-रंगमंच की अपेक्षा अधिक सरस और गंभीर कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे इतने सुसज्जित नहीं होते थे।

भारतीय आचार्यों ने अभिनय के चार अंग माने हैं : आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय देह और मुख संबंधी अभिनय को कहते हैं। प्राचीन ग्रंथों में सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर आदि अंगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। इन अभिनयों का किस किस कार्य में प्रयोग होगा, यह भी विस्तृत रूप से बताया गया है। वाचिक वचन-संबंधी अभिनय को कहते हैं। पदों के स्पष्ट उच्चारण, उचित स्थान पर जोर (काकु) आदि की कला इसी में गिनी जाती है। आहार्य रंगमंच की सजावट और पात्रों के वेश-विन्यास को कहते हैं। रंगमंच में यथार्थता की झलक ले आ देने के लिए उन दिनों तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बांस या सरकंडे के बने होते थे जिन पर कपड़ा या चमड़ा मढ़ दिया जाता था, ताकि पहाड़ वन आदि की झलक दे सकें, या फिर यंत्रादि की सहायता से फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता इस प्रकार की चेष्टाओं का अभिनय करता था कि जिससे दर्शक को उन वस्तुओं का बोध अपने आप हो जाता था। पुरुषों और स्त्रियों की उपयुक्त वेशरचना और उनका यथाविधि रंगमंच पर उतरना भी आहार्य अभिनय के ही अंग समझे जाते थे। परंतु इन तीनों ही की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है सात्विक अभिनय। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में ही अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती है।

इस प्रकार रंगमंच की सजावट, पात्रों का वेशविन्यास, उनकी बातचीत, उनकी आंगिक गति और उनका भावात्मक अभिनय भी भारतीय शास्त्रकार की दृष्टि में अभिनय ही है। अभिनय शब्द का अर्थ वह क्रिया है जो दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाए। रंगमंच की सजावट, पात्रों की बातचीत, उनका वेशविन्यास आदि सभी बातें रसानुभूति की सहायिका हैं। परंतु यदि ये ही प्रधान हो उठें और रसानुभूति गौण हो जाए तो ये दोष हो जाएंगी। रंगमंच के अत्यधिक यथार्थवादी बनाने के प्रयासी इस बात को भूल जाते हैं।

प्रत्येक नाटकीय कथा कुछ विरोधों को लेकर अग्रसर होती है। जो कथा सरल होती है उसमें यह विरोध दो व्यक्तियों में होता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि विरोध के लिए हर हालत में एक नायक और एक प्रतिनायक रहे ही। आधुनिक नाटकों में यह विरोध नाना

भाव से प्रदर्शित हुआ है। नायक का उसके भाग्य या परिस्थितियों के साथ विरोध हो सकता है, सामाजिक रूढ़ियों के साथ विरोध हो सकता है, और फिर अपने मत के परस्पर-विरोधी आदर्शों के संघर्ष के रूप में भी हो सकता है। विरोध व्यक्तियों, मनोभावों और स्वार्थों को केंद्र करके नाना रूप में प्रकट हो सकता है। इस विरोध से ही नाटक की घटना में गति या क्रिया आती है। विरोध के आरंभ से ही वस्तुतः कथावस्तु का आरंभ होता है और उसके अंत से ही उसका अंत हो जाता है। विरोध कथावस्तु को आश्रय करके अग्रसर होता हुआ चरम बिंदु तक उठता है, जहाँ से एक पक्ष की हार शुरू होती है और एक पक्ष की जीत, और अंत में जब हारने वाला पक्ष एकदम हार जाता है तो विरोध की समाप्ति हो जाती है।

इन क्रियाओं को पश्चिम के पंडितों ने पाँच भागों में बाँट लिया है : (1) पहली आरंभावस्था है, जिसमें कुछ ऐसी घटनाओं की अवतारणा होती है जिनमें विरोध अंकुरित होता है। (2) दूसरी विकासावस्था है, जहाँ विरोध का विकास होता है, वह अग्रसर होता जाता है। (3) तीसरी अवस्था का नाम चरमबिंदु है। यहाँ विरोध अपनी सर्वोच्च्य सीमा पर आ जाता है। (4) चौथी अवस्था ह्रासावस्था कहलाती है, इसमें विरोध उतार की ओर होता है और एक पक्ष निश्चित रूप से हार की ओर अग्रसर होता रहता है। (5) पाँचवी अवस्था का नाम समाप्ति है।

इन पाँच अवस्थाओं - आरंभ, विकास, चरमबिंदु, ह्रासावस्था, समाप्ति को लक्ष्य में रखकर पाँच अंक के नाटक लिखे जाते थे। पर नाना कारणों से अंकों का विभाजन क्वचित कदाचित ही इन पाँच अवस्थाओं के स्वाभाविक विकास के आधार पर होता है। कभी दो अंकों तक आरंभ चल रहा है, दो अंकों तक विकास चलता है। फिर धड़ाधड़ अंतिम अंक में चरमबिंदु, ह्रास और समाप्ति की योजना कर दी जाती है। यह दोष है। होना यह चाहिए कि कथावस्तु की इन पाँचों अवस्थाओं के विकास में सामंजस्य हो। सभी नाटक पाँच अंक के नहीं होते, कुछ दस अंक के भी होते हैं, कुछ चार अंक के और कुछ तो एक ही अंक के। परंतु ये पाँच तत्व-सब में वर्तमान रहते हैं। ऐसी हालत में यह तो कहना ही व्यर्थ है कि प्रत्येक अवस्था को एक-एक अंक में समाप्त कर देना संभव नहीं है, क्योंकि सभी नाटक पाँच अंक के होते भी नहीं। फिर भी यह आवश्यक है कि नाटककार इन पाँच अवस्थाओं में सामंजस्य रखे।

आलोचकों ने त्रिभुजाकार कथावस्तु की कल्पना करके यह व्यवस्था दी है कि उत्तम वस्तु वह है जहाँ समत्रिबाहु त्रिभुज की आकृति हो – अर्थात् प्रत्येक अवस्था के बीच समान समान काल लगाना उत्तम है। वस्तुतः प्रत्येक कथा के लिए एक ही प्रकार की सलाह नहीं दी जा सकती, परंतु उनकी यथासंभव समव्यवधानता होनी चाहिए।

इन पाँच अवस्थाओं के साथ पुराने भारतीय आचार्यों की बनाई हुई पाँच अवस्थाओं की तुलना की गई है। ये पाँच अवस्थाएँ हैं : आरंभ, प्रयत्न, प्राप्याशा, नियताप्ति और फलागम। इस विभाग में यह मान लिया गया है कि नाटक की समस्त क्रियाओं का कोई फल होता है। आरंभ नामक अवस्था में वह फल अंकुरित होता है। प्रयत्न में नायक उसे पाने का प्रयत्न करता है, प्रात्याशा में उस फल के पाने की आशा होती है। फिर मार्ग में आए हुए विघ्नों का उच्छेद होता है और फल प्राप्त करना निश्चित हो जाता है। इस अवस्था का नाम नियताप्ति है। अंत में फलागम होता है अर्थात नायक को अभिलषित फल मिल जाता है।

सुप्रसिद्ध विद्वान बाबू श्यामसुंदर दास ने इन दोनों विभागों में जो दृष्टिकोण लक्षित हो रहे हैं उनका अंतर इस प्रकार समझाया है : विरोध और झगड़े आजकल की सभ्यता के परिणाम है। कम से कम इनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई हैं। प्राचीन भारत में भी विरोध और झगड़े थे, पर वे इतने अधिक और प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओं में उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम के उद्देश्य से रचे और खेले जाते थे।

हमने ऊपर कहा है कि पश्चिमी पंडितों ने जिसे विरोध कहा है वह दो व्यक्तियों या दलों के विरोध तक ही सीमित नहीं है, वह सत और असत के विरोध तक भी मर्यादित नहीं है, वह नायक के भीतरी मनोभावों, सामाजिक रूढ़ियों या परिस्थितियों के साथ भी हो सकता है। नाटक मे विरोध इसलिए नहीं होता कि विरोध को आजकल रंगभूमि में दिखाने की कोई आवश्यकता आ पड़ी है, बल्कि इसलिए होता है कि किसी न किसी विरोध के भीतर से ही नाटक की क्रिया अग्रसर हो सकती है। यह गति शास्त्र का सामान्य नियम है कि दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से ही गति पैदा होती है। यह विरोध 'मृच्छकटिक' में भी है और 'शकुंतला' में भी है।[1] इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन नाटकों में विरोध का सुर कभी प्रबल करके नहीं दिखाया जाता, उसका अंत सामजस्य में होता है। 'उत्तर-रामचरित' भवभूति का लिखा हुआ प्रसिद्ध भारतीय नाटक है। इस नाटक का विश्लेषण करके देखा जाए कि वहाँ यह विरोध या द्वंद्व किस प्रकार दिखाया गया है। इस नाटक का हिंदी अनुवाद कविवर सत्यनारायण कविरत्न ने किया था।

कई आलोचकों ने कहा है कि भवभूति का 'उत्तररामचरित' नाटक की अपेक्षा काव्य अधिक है। इसमें बारह वर्ष से भी अधिक दीर्घकाल की घटनाएँ कहीं गई है। और कुछ पात्र तो (जैसे लव, कुश और चंद्रकेतु) ऐसे हैं जो नाटक में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं, फिर भी नाटक की घटना आरंभ होने के समय जनमे ही नहीं थे। जिस वस्तु को पश्चिमी नाट्यशास्त्रियों ने समय संकलन और देश संकलन कहा है उसकी भवभूति ने बिलकुल उपेक्षा की है, परंतु फिर भी उनकी प्रतिभा ने इतने दीर्घकाल में व्याप्त घटना को बड़ी

सावधानी से संभाला है। पाठक समय के व्यवधान को एकदम भूल जाता है। भवभूति की उर्वर कल्पना ने एक पर एक ऐसे आकर्षक और हृदयग्राही चित्रों की सृष्टि की है कि पाठक उन्हीं में उलझा रह जाता है। प्रथम अंक में ही उस अपूर्व योग्यता का परिचय मिलने लगता है। नाटक में जब कोई ऐसा दृश्य आता है, जिसमें पात्र विपत्ति के कगार पर खड़ा होकर सुख की कल्पना करता रहता है और वह स्वयं तो उस विपत्ति की खबर नहीं रखता पर दर्शक उसे जानता होता है, तो इस परिस्थिति को नाटकीय भाग्य-विडंबना कहते हैं।

प्रथम अंक में सीता एक अतिशय क्रूर भाग्य-विडंबना के दरवाजे पर खड़ी हैं, यह वह नहीं जानतीं और पूर्व जीवन के वनवासकालीन आनंद और दुख से मिश्रित चित्रों को देखती जाती हैं, तथा फिर एक बार उन दृश्यों को देखने की अभिलाषा प्रकट करती हैं। इस प्रकार उनके भावी निर्वासन का बहाना राम को बड़ी आसानी से मिल जाता है। उस समय समस्त वृद्धजनों को अयोध्या से दूर रखकर नाटकाकर ने राम के क्रूर निश्चय के मार्ग की सभी बाधाओं को एकदम दूर कर दिया है। इस प्रकार शुरू में ही नाटक के अंतर्निहित द्वंद्व या विरोध का सूत्रपात हो जाता है। समस्त नाटक के भीतर राम का अंतर्द्वंद्व–उनके भीतरी प्रेम और बाहरी राजकर्त्तव्य का द्वंद्व–बहुत चतुरता के साथ शुरू में ही दिखा दिया गया है।

राम के चरित्र में व्यक्ति की अपेक्षा राजा के बाह्य कर्त्तव्य का जो प्राधान्य है उसी ने नाटक को एक अपूर्व करुण भाव से आर्द्र बना दिया है। परंतु चूंकि सीता के चरित्र में एकरसता अधिक है इसलिए नाटककार शुरू में ही उनकी ओर पाठक का ध्यान नहीं आकृष्ट कर सका है। परंतु तृतीय अंक में जब सीता अपने प्रियतम को देखती और क्षमा करती है तो भवभूति का चित्रण अत्यंत सुकुमार हुआ है। राम यद्यपि कर्तव्यपालन में कठोर है पर सीता के प्रति उनका प्रेम निस्संदेह अत्यधिक हैं। राम के चरितगत इस भीतरी विरोध को जितना इस अंक की घटनाएँ स्पष्ट करती हैं उतना और किसी अंक की नहीं। देशी और विदेशी सभी पंडितों ने स्वीकार किया है कि इस अंक में सीता के शांत, गंभीर और उदार आत्मसमर्पण में एक ऐसी रसवस्तु का साक्षात्कार होता है जो भवभूति की अपनी विशेषता है। सारे अंक में यद्यपि कुछ अप्राकृतिक अवस्थाओं का सहारा नाटककार ने लिया है, पर बड़ी चतुरता के साथ इस दैवी सहायता ने भावी मिलन और प्रेम को सांद्ररूप में प्रकट करने का मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

'उत्तररामचरित' का तृतीय अंक कवित्व, कल्पना और रसपरिपाक की दृष्टि से बेजोड़ है। अंतिम अंक में भवभूति की नाटकीय प्रतिभा सर्वोच्च स्थान तक उठी है। केवल भारतीय नाटकों की मिलनांत होने वाली रूढ़ि के पालन के लिए भवभूति ने अंतिम अंक में मिलन नहीं कराया है। वस्तुतः नाटक जिस रास्ते पर अग्रसर हुआ है उसकी सर्वोत्तम परिणति

यही है। ऐसा न होता तो, जैसा ए.बी. कीथ ने लिखा है, आधुनिक पश्चिमी आलोचक की दृष्टि में भी नाटक अपूर्ण ही रह जाता।

नाटक की क्रिया वस्तुतः दो प्रकार की होती है। साक्षात प्रवर्त्तित या प्रत्यक्ष तथा असाक्षात प्रवर्तित या परोक्ष। प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्द अधिक सुगम हैं, इनके लिए साक्षात प्रवर्तित और असाक्षात प्रवर्तित ये दो शब्द शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्यक्ष क्रिया नाटक के रंगमंच पर दिखाई देती है। मारना, लड़ना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। परंतु अप्रत्यक्ष या परोक्ष क्रियाएँ सात्विक अभिनय से दिखाई जाती है। दुखी होना, अनांदित होना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। शेक्सपियर के नाटकों में प्रत्यक्ष क्रिया का बाहुल्य है और बर्नार्ड शा तथा रवींद्रनाथ के नाटकों में परोक्ष क्रिया का। दोनों में सामंजस्य विधान होना चाहिए। नाटककार को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अकारण कोई क्रिया न दिखाई जाए। प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से नाटक की क्रिया रसोद्रेक में सहायता करती है।

भरत मुनि ने कहा है कि नाटक अवस्थाओं के अनुकरण का नाम है। अनुकरण केवल तीन तत्वों तक ही सीमित है : (1) घटना का, (2) पात्र का, और (3) बातचीत का। तीनों के अनुकरण तीन-तीन तरह से हो सकते हैं। या तो उन्हें, जैसा वे होते हैं उससे अच्छा करके दिखाया जा सकता है, या बुरा करके दिखाया जा सकता है, या ज्यों का त्यों दिखाया जा सकता है। चाहे नाटक यथार्थवादी हो या आदर्शवादी, पहले दो तरीके भद्दी रुचि के परिचायक हैं। यथार्थ से बुरा करके जो अनुकरण होगा उसमें खून-खच्चर शराब-कबाब, हत्या-डकैती आदि का प्राधान्य होगा। जो यथार्थ से अच्छा होगा उसमें आकाशवाणी, देवत्वारोप, पुष्पवृष्टि आदि का प्राधान्य होगा।

वस्तुतः नाटक का अनुकरण वास्तविक होना चाहिए। केवल उसका प्रभाव ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को पशु-सुलभ मनोवृत्तियों से ऊपर उठावे। मनुष्य नाना प्रकार की दुर्बलताओं और शक्तियों का समन्वय है। उसका अनुकरण भी वैसा ही होना चाहिए। कुछ लोगों का यह भ्रम है कि पाश्चात्य देशों में जिसे ट्रैजेडी कहते हैं वह दुखांत या वियोगांत घटना है। असल बात यह नहीं है। ट्रैजेडी दुखांत नाटक है, इसमे संदेह नहीं, परंतु यदि चरितनायक में ऐसी स्वाभाविक दुर्बलता न हो, जो उसके दुखमय अंत को स्वाभाविक रूप में बढ़ा ले चले, तो वह चीज़ ट्रैजेडी नहीं कही जाएगी। यदि शुरू में ही मान लिया जाए कि चरितनायक कभी भी सत्पथ से विचलित नहीं होने वाला व्यक्ति है तो ट्रैजेड़ी का रसपरिपाक अच्छा नहीं होगा, क्योंकि ट्रैजेडी के समस्त दुखों का मूल उत्स चरितनायक की दुर्बलता ही है। इसलिए नाटकीय चित्रण में वास्तविकता आवश्यक है। इन वास्तविकताओं के भीतर से ही उत्तम नाटककार महान् बनाने वाले नाटकीय प्रभाव को पैदा करता है।

चरित्र प्रधान नाटकों के प्रसंग में हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद का नाम लिया जा सकता है। उनके नाटकों के प्रधान आकर्षण दो हैं : (1) शक्तिशाली चरित्र और (2) कवित्वमय वातावरण। यद्यपि उनके चरित्रों में अनेक श्रेणी के लोग नहीं हैं, तथापि वे इतने सजीव हैं कि पाठक उनको भूल नहीं सकता। उसके आदर्श पात्रों में वीरता, प्रेम और देशभक्ति आवश्यक रूप से विद्यमान रहते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें बहुविधता नहीं आ पाई है।

उनके सभी आदर्श और आकर्षक पुरुष पात्रों को तीन मोटे विभागो में बांट लिया जा सकता है : (1) तत्वचिंतक, (2) कर्मठ वीर सैनिक और (3) कुटिल राजनीतिज्ञ। ये सभी पात्र प्रेमी होते हैं और प्रेम ही इनको दुर्बल या सबल बनाता है। उनके स्त्री पात्रों पर भी ये ही बातें लागू होती हैं। उन्हें भी तीन श्रेणियों में बांट लिया जा सकता है : (1) कुटिल राजनीतिज्ञ (2) प्रेमिकाएँ और (3) दुर्बल हृदय की महत्वाकांक्षिणी स्त्रियाँ।

उनके सभी नाटकों में कुछ घटा-बढ़ा कर ये छः प्रकार के चरित्र खोजे जा सकते हैं। फिर भी प्रसाद के पात्र उस प्रकार के टाइप नहीं है, जैसा कि पुराने साहित्य में राजा, रानी, ब्राह्मण, मंत्री आदि के टाइप बन चुके थे। रानी को कैसा होना चाहिए, राजा को कैसा होना चाहिए, ये बातें पहले से ही तय हो गई होती थी। नाटककार इन टाइपों को ही रसोद्रेक का वाहन बनाता था। प्रसाद का नाटक उस प्रकार के टाइप नहीं हैं। परंतु उनकी समूची ग्रंथावली पढ़ने वाला पाठक जरूर अनुभव करेगा कि यद्यपि उनके पात्र पुरानी रूढ़ियों के अनुसार 'टिपिकल' तो नहीं है परंतु उनके अपने ही मन से गढ़े हुए टाइप अवश्य हैं।

प्रसाद के नाटकों का दूसरा आकर्षण उनका कवित्वमय वातवरण है। उनके कई चरित्र मनुष्य रूप में प्रगीतमुक्त हैं। देवसेना और कार्नेलिया ऐसे ही मुक्तिक काव्य हैं। उनके जीवन में एक प्रकार का संगीत है, एक विशेष छंद है। परंतु केवल चरित्र ही नहीं प्रसाद के सारे नाटकों का वातावरण ही कवित्वमय है। पात्रों की बातचीत में, नाम में, हिलने-डुलने में सर्वत्र कवित्व का सुर ही प्रबल है। उन्होंने अपने युग के प्रधान प्रश्नों से मुंह नहीं मोड़ा है। उनके नाटकों में राष्ट्रीयता, सांप्रदायिक झगड़े, स्त्री का समानाधिकार, युद्ध का विषमय परिणाम, साम्राज्यवाद, विदेशी शासन आदि सभी बातें आई हैं। पर सब कुछ पर कवित्व का एक मोहक आवरण पड़ा हुआ है। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों को उनके चरित्रों और कवित्वमय वातावरण ने आकर्षक बना दिया है।

ऊपर जिस देश संकलन, काल संकलन और वस्तु संकलन की चर्चा की गई है उस पर यहाँ विचार कर लिया जाए। बहुत प्राचीन काल से यूनान के नाट्यशास्त्रियों ने वस्तु, काल और देश संबंधी तीन बातों के संकलन की मर्यादा बांध दी थी, अर्थात् किसी नाटक

का पूरा अभिनय किसी एक ही कृत्य से संबद्ध होना चाहिए। चौबीस घंटे में घटित घटना का ही संक्षिप्त रूप होना चाहिए और किसी एक ही स्थान पर घटित घटना का रूप होना चाहिए। इनको क्रमशः 'वस्तु संकलन, 'काल संकलन', और 'देश संकलन' कहा जाता है। शेक्सपियर ने इन तीन संकलनों को नहीं माना और आजकल के नाटककार भी इन्हें ज्यों का त्यों नहीं मानते। यद्यपि एक दिन, एक स्थान और एक कृत्य की संकीर्ण मर्यादा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इससे नाटककार अनावश्यक बंधनों से जकड़ जाता है, पर इन तीनों संकलनों के अंतर्निहित सत्य को भुलाया नहीं जा सकता। रंगमंच पर यदि एक दृश्य आज का दिखाया गया हो और दूसरा दस वर्ष बाद का तो सहृदय श्रोता के चित्त में विकल्प उत्पन्न होगा और उसकी रसानुभूति में बाधा पड़ेगी। इसी तरह दृश्य यदि दूर देशों में फटाफट परिवर्तित होते जाएं तो भी सहृदय का चित्त विकल्प में पड़ जाएगा। इसलिए नाटक के देश, काल और वस्तु में यथासंभव कम अंतर होना आवश्यक है। दीर्घकाल का अंतर दिखाने के लिए नाटककार को कौशल से काम लेना चाहिए। यदि बीच-बीच में कुछ दूसरे दृश्यों से दर्शक को इस प्रकार उलझा दें कि दर्शक देशगत और कालगत व्यवधानों को भूल जाए तो कालगत व्यवधान खटकता नहीं। कालिदास ने शकुंतला के प्रत्याख्यान और पुनर्मिलन के बीच इतने दृश्यों की अवतारणा की है कि काल और देश विषयक व्यवधान दर्शक को याद ही नहीं रहता।

नाटक बहुत अधिक निःसंग रचना है। सारे नाटक में कहीं भी यह मौका नहीं रहता कि हम नाटककार के अपने जीवन या अपने विचारों के विषय में कुछ जान सकें। प्राचीन काल में भारतीय नाटककारों ने इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए नाटक के आरंभ में प्रस्तावना रखने की प्रथा चलाई थी। प्रस्तावना में नाटक का सूत्रधार (व्यवस्थापक) अपनी पत्नी नटी से बातचीत करता था और कवि के नाम, धाम और यश का पता तो बताता ही था, नाटक किस अवसर पर खेलने के लिए बनाया गया था और इसमें किस प्रकार की बात आने वाली है, इसकी सूचना भी बड़े कौशल से दे देता था। नये युग में यह प्रथा उठ गई है। छापे की मशीनों ने इस विषय में दर्शक की सहायता की है। साधरणतः नाटककार का नाम और अभिनेताओं के नाम भी छाप कर दर्शकों तक पहुँचा दिए जाते हैं। पर इस नवीन प्रयत्न में न तो पुराना कौशल ही रह गया है, और न वह रसमय कवित्व ही, जो प्रस्तावना को जीवंत बना देते थे। फिर भी नाटक निस्संग रचना है, यह बात भुलाई नहीं जा सकती। इसीलिए नाटक में नाटककार का क्या उद्देश्य है, यह समझना कठिन रह ही जाता है।

प्राचीन युग में नाटक काव्य का ही एक भेद माना जाता था। इसलिए उसमें काव्यतत्व प्रचुर मात्रा में पाया जाता था। इधर पश्चिम के बर्नार्ड शॉ आदि लेखकों से प्राप्त प्रेरणा ने हमारे लेखकों को अधिक गद्यात्मक और बुद्धिमूलक नाटक लिखने को प्रवृत्त किया है।

इन नाटकों में सामाजिक रूढ़ियों और पर्दे के पीछे जो नग्न सत्य है उसके तथा चिराचरित प्रथा के मूल में निहित सत्य का विरोध दिखाया जाता है। विरोधी प्रायः तुल्यबल होते हैं और नाटक के अंत में दर्शक केवल समाज का विश्लेषण करने की बुद्धि और अनिश्चय लेकर उठता है। इन्हें समस्या नाटक नाम दिया गया है।

व्यक्ति और समाज के संबंध में सबसे प्रमुख और प्रधान है स्त्री और पुरुष का संबंध, जिसे बर्नार्ड शा ने एक जगह अंध जीवनशक्ति (बलाइंड लाइफ फोर्स) कहा है। इस अंधशक्ति के साथ मनुष्य के परिमार्जित संस्कारों का पदे-पदे विरोध है।

हिंदी समस्या नाटकों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली लक्ष्मीनारायण मिश्र है। उन्होंने जो अनुभव किया है, उसे नाटक के रूप में हमारे सामने रख दिया है, यथार्थ, ज्यों का त्यों। उन्होंने जानबूझ कर मनोरंजन के लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी, या पुण्यात्मा नहीं बनाया, बल्कि अपने चरित्रों को ज़िंदगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थमते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गए हैं, और नाटककार बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह बड़ी सावधानी से चलता गया है। प्रेमचंद के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रांति नहीं है, क्रांति है उनके अंत में। यह सच है कि उन्होंने भी क्रांति की है, सामाजिक या राजनीतिक नियमों की अवहेलना की है, किंतु कब? विरोधी उपकरण जब ज़िंदगी की राह रोककर खड़े हो जाते हैं। यही स्वाभाविक है। मिश्रजी की यह ईमानदारी उनके नाटकों में भारी आकर्षण ला देती है। उन्होंने पुरानी भावुकता के प्रति विद्रोह किया है। उनका कहना है कि 'प्रतिभा यदि वास्तव में कहीं है तो वह उसी पुराने रास्ते में धूल के भीतर घसीटी नहीं जा सकती। उसकी इच्छा कानून है, वह जिधर नज़र डालती है, नियम बनते जाते हैं। कलाकार वह कपास है जो तूफान में ठीक उत्तर की ओर इशारा–संकेत–करना है।' इस दृष्टि से इनके नाटकों में ठीक उत्तर की ओर संकेत करना ही आदर्श है, फिर भी उन्होंने अपने नाटकों को जो समस्या नाटक कहा है उसका कारण यह है कि वह पहले से ही समाधान को दृष्टि में रखकर अपनी रचना नहीं करते। वह उस बात की ओर उन्मुख है, जो एक नई दुनिया का निर्माण करेगी, जिसका आधार संस्करण और सेवा होगा, वर्गों की विषमता और घृणा नहीं। इसीलिए वे बर्नार्ड शा की उस प्रवृत्ति का अनुकरण करना पसंद नहीं करते जिसका काम उपहास करना है, सुधार करना नहीं।

मिश्रजी के नाटकों में नाटकीय कारीगरी निर्दोष नहीं कही जा सकती। दृश्यों के विधान में और समस्याओं की बेमेल योजना में त्रुटि खोजी जा सकती है, पर निस्संदेह उनमें अपने प्रतिपाद्य के भीतर प्रवेश करने की पैनी दृष्टि वर्तमान है।

लेकिन हिंदी में आज भी नाटकों में कवित्व पूरी मात्रा में है। तीन श्रेणी के नाटक ऐसे लिखे गए हैं जो काव्य के तत्वों से परिपूर्ण हैं :

1. प्रथम है 'रूपक नाट्य' जिनमें या तो मानवीय मनोरागों–जैसे कामना, विलास, संतोष, करुणा आदि– की मनुष्य रूप में कल्पना करके नाटकीय रससृष्टि करने का प्रयास होता है, या प्रकृति के भिन्न-भिन्न उपदानों की मानवरूप में अवतारणा की जाती है। प्रसाद की 'कामना' प्रथम श्रेणी में और सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्सना' दूसरी श्रेणी में आती है इन रूपकों के माध्यम से नाटककार अपना अभिमत, उद्देश्य व्यक्त करता है।

2. गीति-नाट्य पद्यात्मक बातचीत के रूप में लिखे जाते हैं। ये भी कवित्व की मात्रा लिए होते हैं। कवित्व से मतलब केवल पद्यबद्धता से नहीं बल्कि भावावेग, कल्पना और झंकार के वातावरण से है। नाटकों की गद्यात्मक क्रिया का इससे प्राधान्य नहीं होता, यद्यपि वह नाटकीय गुण इसमें रहना आवश्यक है, जो पात्रों और घटनाओं के घात-प्रतिघात से गति उत्पन्न करता है। हिंदी में बहुत बड़ी प्रतिभावाला गीति नाट्यकार कोई नहीं है।

3. इन्हीं से मिलते-जुलते अर्थात् भावावेग, कल्पना और झंकार का कवित्वमय वातावरण लिए हुए एक और प्रकार के नाटक होते हैं, जो गद्य में लिखे जाते हैं। इन्हें भावनाट्य नाम दिया गया है। ऐसे नाटकों मे सबसे प्रख्यात है गोविंद वल्लभ पंत की 'बरमाला'। उदयशंकर भट्ट ने भी अनेक नीतिनाट्यों और भावनाट्यों की रचना की है।

इधर एकांकी नाटकों का भी प्रचलन बढ़ रहा है। पुराने ज़माने में भी एक अंक में समाप्त होने वाले नाटक लिखे गए हैं। परंतु इधर के प्रयत्न नये हैं। इनमें गद्यात्मकता, मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति और समस्याओं की ओर संकेत प्रधान हो उठा है। ये कहानी की भाँति वैयक्तिक स्वाधीनता और गद्ययुग की उपज है। इनमें बड़े नाटकों की भाँति चरित्र के विकास का ज्यादा अवकाश नहीं होता। कहानी की भाँति एकांकी नाटक के चरित्र भी लेखक के उद्देश्य के साधन हो कर आते हैं। स्थान,समय और वस्तु का संकलन एकांकी के कौशल की जान है। कहानी की भाँति एकांकी नाटक भी एक घटना, एक परिस्थिति और एक उद्देश्य से बनता है। हिंदी में डॉ. रामकुमार वर्मा ने सबसे अधिक एकांकी नाटक लिखे हैं।

नाटककार का उद्देश्य समझना उपन्यासकार के उद्देश्य के समान सरल नहीं है। नाटक भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पात्रों के मुख से बोलता है। प्रत्येक पात्र की उक्ति से नाटककार का अपना मत व्यक्त नहीं होता, परंतु दो बातों को ध्यान मे रखने से नाटककार का

अपना उद्देश्य समझ में आ जाता है। प्रथम यह लक्ष्य करना चाहिए कि नाटककार किस पात्र की ओर सबसे अधिक सहानुभूति उत्पन्न कर रहा है और किस पात्र की ओर घृणा या उपेक्षा का भाव दिखा रहा है। सहानुभूति वाले पात्र के मुख से नाटककार प्रायः अपना मत प्रकट किया करता है।

आजकल तो नाटककार दीर्घ भूमिकाएँ लिखकर अपना मत प्रकट करने लगे हैं। नाटककार की गलतियों से भी उसके पक्षपात का अनुमान होता है। क्योंकि कभी-कभी उत्तम नाटककारों को भी अपने सिद्धांतों के प्रति अतिरिक्त मोह होने के कारण शिथिल और अनावश्यक दृश्यों का अवतरण करते देखा गया है। प्रसाद प्रायः नाटकों को गतिमान बनाने के बदले अपने ऐतिहासिक मतों और दार्शनिक विश्वासों को व्यक्त करने के फेर में पड़ जाते हैं और इस प्रकार गतिहीन दृश्यों की योजना कर बैठते हैं।

परंतु नाटक की परिसमाप्ति से भी नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट होता है। शकुंतला नाटक के प्रथम अंक में कालिदास ने दुष्यंत और शकुंतला में आकर्षण की योजना यौवनलीला के भीतर से की है। परिस्थितियाँ इस उच्छृंखल प्रेमाकर्षण को छिन्न-भिन्न कर देती है। अंतिम अंक में मलिन धूसरवसना, नियमाचरण से शुष्कमुखी, शुद्धशीला शकुंतला का दर्शन होता है। वहाँ कवि ने मिलन का माध्यम बालक को बनाया है। इस आदि और अंत को देखकर सहृदय के हृदय पर यह प्रभाव पड़ता है :

> मोह में जो अकृतार्थ हुआ है वह मंगल में परिसमाप्त है। धर्म में जो सौंदर्य है वही ध्रुव है और प्रेम का जो शांत, संयत तथा कल्याणमय रूप है वही श्रेष्ठ है, बंधन में ही यथार्थ की शोभा है, और उच्छृंखलता में सौंदर्य की आशु विकृति। भारतवर्ष के प्राचीन कवि ने प्रेम को ही प्रेम का लक्ष्य नहीं माना, मंगल को ही प्रेम का अंतिम लक्ष्य घोषित किया है। उनके मत में नर-नारी का प्रेम तब तक सुंदर नहीं होता जब तक कि वह बंध्य (निष्फल, निस्संतान) रहता है, कल्याण को नहीं अपनाता और संसार में पुत्र, कन्या तथा अतिथि प्रतिवेशियों में विभिन्न सौभाग्य से व्याप्त नहीं हो जाता–रवींद्रनाथ

और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगों की भांति नाटक का भी चरम लक्ष्य वही परम मंगलमय ऐक्यानुभूति है। जिससे वह पशुसामान्य प्रवृत्तियों से ऊपर उठता है और प्राणिमात्र के सुख-दुख को अपना समझ सकता है। नाटक की आलोचना के नाम पर आजकल बहुत ऊल-जलूल भ्रामक बातें फैलाई जा रही है। सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा ने एक जगह लिखा है :

> कोई ऐसी बात नहीं कहता कि 'मैं पूर्वकालीन सुखांत और दुखांत नाटकों से उसी प्रकार घृणा करता हूँ कि जिस प्रकार धर्मोपदेशक से या संगीत से। किंतु मैं पुलिस केस या विवाह-विच्छेद के समाचार को या किसी भी प्रकार के नृत्य और सजावट आदि को पसंद करता हूँ, जो मुझ पर और मेरी पत्नी पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। बड़े लोग चाहे जो कहें मैं किसी प्रकार के बुद्धिमूलक कार्य से आनंद नहीं उठा पाता और न यही विश्वास करता हूँ कि कोई दूसरा ही उससे आनंद उठा सकता होगा।'

ऐसी बातें कही नहीं जाती। फिर भी यूरोप और अमेरिका के 90 फीसदी प्रसिद्ध पत्रों में नाटकों की समालोचना के नाम पर इन्हीं बातों का विस्तृत और पालिश किया हुआ अर्थांतर प्रकाशित होता है। अगर इन समालोचनाओं का यह अर्थ नहीं तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं है।

टिप्पणी :

1. यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय नाट्यशास्त्र में बताई हुई ये अवस्थाएँ नाटकीय कथानक के विकास की अवस्थाएँ हैं। नाटक के पांच उपादान और होते हैं। उन्हें शास्त्र में अर्थ प्रकृति कहा जाता है। पाँच और अवस्थाएँ गिनाई गई हैं जिनका नाम संधि दिया गया है। ये नाटकीय क्रिया को ध्यान में रखकर उद्भाषित की गई हैं। संधि का शब्दार्थ जोड़ है और इसलिए सहज ही अनुमान होता है कि पहले बताई हुई अवस्थाओं को जोड़ना ही संधियों का कार्य है, जहाँ नाटकीय क्रिया का स्वाभाविक विराम होता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था संक्रमित होती है, वहीं संधि होती है। पांच संधियाँ इस प्रकार हैं : मुख (आरंभ), प्रतिमुख (क्रिया की प्रगति), गर्भ (उद्भव या विकास), विमर्श (विराम) और परिसमाप्ति या निर्वहण।

2. 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का रंगमंचीय अध्ययन

देवेन्द्र राज अंकुर

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बनारस में हिंदीभाषी और कुछ बंगालियों की संस्था नेशनल के लिए एक दिन में सन् 1881 में लिखा था और काशी के दशाश्वमेध घाट पर उसी दिन अभिनीत भी हुआ यह प्रहसन। 'अंधेर नगरी' के प्रायः प्रत्येक संस्करण में यह सूचना प्रकाशित है लेकिन शायद आज तक इसे सूचना से अधिक महत्व नहीं दिया गया। यों देखा जाए तो हिंदी साहित्य समीक्षा के इतिहास में इस बीस-बाईस पृष्ठ के नाटक को ही कभी गंभीरता से नहीं लिया गया, सूचना पर कौन गहराई से विचार करता? मानो इस नाटक का एक दिन में लिखा जाना ही इसके गहन अध्ययन एवं विश्लेषण न होने का कारण बनकर रह गया।

इसके विपरीत यदि हिंदी रंगमंच के पिछले एक सौ पंद्रह वर्षों के इतिहास को उठाकर देखा जाए तो 'अंधेर नगरी' सर्वाधिक खेले गए नाटक के रूप में प्रमाणित होगा—विशेष रूप से स्वतंत्रता के पचास वर्षों में तो इसके इतने प्रदर्शन हो चुके हैं कि उनका विवरण एकत्र करना भी निहायत दुष्कर काम होगा। इससे कालांतर में इस नाटक को मिली लोकप्रियता स्वयं सिद्ध है।

बहरहाल, उपर्युक्त सूचना में ऐसा क्या है जिसके उल्लेख से इस लेख की शुरुआत की गई है? मेरे विचार में इस सूचना में दो-तीन ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी मिलती है, जो इस नाटक के रंगमंचीय अध्ययन में अत्यंत सहायक है। सबसे पहला तथ्य तो यही है कि यह नाटक विशेष रूप से एक मंडली के सदस्यों को सामने रखकर लिखा गया है। चाहे वह मंडली अपने स्वरूप में नितांत शौकिया रही हो, लेकिन नाटककार और रंगमंडली के बीच एक अंतरंग संबंध की ओर संकेत करती है। ऐसे संबंध हमारी नाट्य परंपरा में आरंभ से ही मौजूद रहे हैं, पश्चिम में भी ग्रीक एवं शेक्सपीयर के संदर्भ में इसका उल्लेख किया जा सकता है। स्वयं भारतेंदु के समकालीन पारसी रंगमंच में यह परंपरा उपलब्ध थी। अतः एक नाटक लिखने से पहले उस मंडली के सदस्यों में क्या

क्षमताएँ और संभावनाएँ हैं, इसकी जानकारी उसके पास उपस्थित है, जो निश्चित रूप से नाटक की शिल्पगत संरचना और उसकी रंगमंचीयता को प्रभावित करती है।

दूसरी महत्वपूर्ण जानकारी यह है कि उसी दिन इस नाटक का मंचन भी हुआ और स्वयं नाटककार उस प्रदर्शन से संबद्ध था। दरअसल, यही बात आलोचकों के गले नहीं उतरती कि क्या यह संभव है कि उसी दिन नाटक लिखा जाए और उसी दिन उसका मंचन हो जाए? लेकिन थोड़ा गंभीरतपूर्वक विचार किया जाए तो ऐसा होना कोई असंभव बात नहीं है। यहाँ तो फिर भी एक लिखित आलेख पहले से अभिनेताओं के सामने थे, यदि भारतेंदु मात्र एक स्थिति अथवा कहानी का खाका उनके सामने प्रस्तुत कर देते तो क्या वे अभिनेता उस पर एक नाटक प्रस्तुत नहीं कर सकते थे? यदि यह अनहोनी या असंभव-सी बात नज़र आती है, तब तो हमें मध्यकाल से चली आ रही उन तमाम लोक नाट्य कलाओं के अस्तित्व को ही नकारना होगा और यहाँ इस बात को दुहराने की ज़रूरत नहीं कि भारतेंदु स्वयं उनसे भली-भाँति परिचित थे। उन लोक नाटकों के कथानकों की तरह ही 'अंधेर नगरी' की कहानी भी न जाने कब से जन-मानस में चली आ रही है और उसी के साथ यह कहावत भी–अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

और तीसरी और शायद सबसे ज़्यादा रोचक सूचना है–नाटक का काशी के दशाश्वमेध घाट पर खेला जाना। इस दृष्टि से 'अंधेर नगरी' को हिंदी रंगमंच का पहला नुक्कड़ नाटक माना जाना चाहिए जो खुले में, पूरी तरह से अनौपचारिक वातावरण में मंचित हुआ। नाटक का खुले में मंचित होना कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि रामलीला जैसे लोकनाटक को खुले में मंचित करने की एक लंबी परंपरा स्वयं बनारस में ही विद्यमान थी, लेकिन वह वर्ष के कुछ विशेष दिनों में ही और व्यवस्थित रूप में पूर्व घोषित कार्यक्रम के अनुसार संपन्न की जाती थी। लेकिन 'अंधेर नगरी' के साथ ऐसा कुछ भी नहीं था, न तो नाटक के लिखे जाने की पूर्व सूचना और न ही उसके मंचन की पूर्व सूचना, ठीक आज के नुक्कड़ नाटक की तरह एक तात्कालिक घटना के रूप में एक स्थान विशेष पर प्रदर्शन। इतना ही नहीं, अपने कथ्य एवं कलेवर में भी आज के नुक्कड़ नाटक की-सी राजनीतिक ध्वनियाँ, गीत-संगीत एवं कोरस जैसे लोकप्रिय रंग-तत्वों का इस्तेमाल, लंबे-लंबे संवादों एवं एकालापों का अभाव और कुल मिलाकर लगभग तीस-पैंतीस मिनट की संक्षिप्त अवधि में बँधा हुआ। ये सारी चीज़ें मिलकर इस नाटक को आज के नुक्कड़ नाटकों से भी कहीं अधिक आगे की रचना प्रमाणित करती हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में इस नाटक के रंगमंचीय तत्वों पर खुलकर विचार किया जा सकता है, लेकिन उसके पूर्व एक बात की ओर संकेत करना अप्रांसगिक न होगा। आख़िर इस नाटक की सामान्य-सी, यहाँ तक कि बच्चों की-सी लगने वाली कथा में

ऐसा क्या आकर्षण है कि रंगकर्मी बार-बार इस नाटक की ओर लौटते रहते हैं? वह आकर्षण है इसके कथ्य की शाश्वतता अर्थात् एक ऐसी शासन-व्यवस्था जो भीतर तक इतनी भ्रष्ट है, जो किसी भी काल के लिए उतनी ही आधुनिक, समकालीन और सार्थक रहेगी, जितनी कि अपने समय में रही होगी। यही कारण है कि यदि उस समय इस प्रहसन को अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था के चित्रण के रूप में देखा गया, तो आज की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों में तो इसकी प्रासंगिकता और भी ज़्यादा बढ़ गई है और आगे भी बढ़ती ही जाएगी। इतिहास साक्षी है कि साहित्य में वही रचनाएँ कालजयी सिद्ध हुई हैं, जिन्होंने सदैव शाश्वत एवं सार्वजनीन कथ्यों को अपना आधार बनाया। मात्र प्रदर्शन के स्तर पर ही नहीं, 'अंधेर नगरी' ने तो लेखन की दृष्टि से भी अपनी परवर्ती कई नाट्य-रचनाओं को प्रेरित और प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, भारती का 'अंधा युग' (नाम साम्य पर भी ग़ौर करें), ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' और शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद ख़ाँ'।

भारतेंदु ने भारतीय-शास्त्रीय एवं लोक–और पाश्चात्य रंगतत्वों का ऐसा सहज, सरल एवं उन्मुक्त उपयोग किया है कि इससे नाटक के भीतर से अनेक प्रस्तुति शैलियों की खोज की जा सकती है। नाटक में छः अंक हैं, लेकिन वे अपने आकार एवं कलेवर में इतने छोटे-छोटे हैं कि उन्हें अंक की संज्ञा न देकर, दृश्य कहना ज़्यादा समीचीन होगा अथवा एक ही अंक के छः दृश्यों के रूप में लिया जाना चाहिए। लेकिन छोटे-छोटे दृश्य होने के बावजूद वे हर बार एक नए परिवेश की माँग करते हैं। यथा पहला अंक–स्थान : बाह्य प्रांत। अंक द्वितीय–स्थान : बाज़ार। अंक तीन–स्थान : जंगल। अंक चतुर्थ–स्थान राजसभा। अंक पंचम्–स्थान : अरण्य। अंक षष्टम–स्थान श्मशान।

स्पष्ट है कि कुल मिलाकर बीस-बाईस पृष्ठों के नाटक में छः दृश्य हैं और वे भी इतने छोटे-छोटे कि कोई भी यथार्थवादी दृश्य-सज्जा कारगर नहीं हो सकती। ग्रीक अथवा शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति अंक बिना लंबे-चौड़े मंच निर्देशों के सीधे-सीधे कार्य-व्यापार से शुरू होता है और तेज़ी से पटाक्षेप के साथ समाप्त भी हो जाता है। इस पटाक्षेप से एक संकेत तो मिलता है कि शायद पारसी रंगमंच में प्रयुक्त रंगे हुए परदों की परिकल्पना भारतेंदु के मन में भी रही होगी, जो उस समय विक्टोरिया रंगमंच में भी इस्तेमाल हो रहे थे। थोड़ा और गहराई से देखें तो यह परदों वाली युक्ति व्यर्थ लगने लगती है। सभी दृश्य अपने में इतने घटना-बहुल एवं जीवंत हैं कि रंगे हुए परदों जैसी स्थिर दृश्य-परिकल्पना कहीं-न-कहीं पूरे नाटकीय प्रभाव को क्षीण ही करेगी। नाटक की दृश्य-योजना में एक और नाटकीय संयोजन बड़ी कुशलता से पिरोया गया है–नाटक का एक दृश्य यदि मात्र तीन-चार पात्रों के बीच घटित होता है तो तुरंत अगला दृश्य एक बड़े

जनसमूह में परिवर्तित हो जाता है और यह प्रक्रिया पहले दृश्य से छठे दृश्य तक नियमित रूप से चलती है। यह दृश्य-विधान अप्रत्यक्ष रूप से पारसी नाटकों के उस रूप-विधान की याद दिलाता है, जहाँ एक दृश्य बाहरी होता है और दूसरा भीतरी। यहाँ बेशक सभी दृश्य बाहरी परिवेश में संयोजित हैं, मात्र राजसभा वाले दृश्य को छोड़कर, लेकिन वे इस अर्थ में भीतरी और बाहरी कहे जा सकते हैं, जैसे कि कम पात्रोंवाले दृश्य भीतरी अथवा सीमित फ़लक लिए हुए और भीड़ वाले दृश्य परिवेशगत विस्तार की अपेक्षा रखते हैं।

अतः स्वाभाविक रंग-परिकल्पना ऐसी हो सकती है कि मंच पर स्थायी दृश्य-सज्जा के रूप में कुछ भी न रहे, आवश्यकता है तो एक-आध दृश्य-खंड लाकर रख दिए जाएँ और हटा दिए जाएँ अथवा पूरे नाटक के दौरान मंच दृश्य-सज्जा की दृष्टि से बिल्कुल खाली रहे, सिर्फ कभी-कभी मंच-उपकरण लाए जाएँ, जैसे कि राजा के सिंहासन के लिए अथवा फ़ाँसी के तख़्ते के रूप में कोई उपकरण। इस प्रकार की दृश्य-सज्जा के स्रोत हमें संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय रंग-परंपरा में तो मिलते ही हैं, उसकी पुष्टि ग्रीक व शेक्सपीरियन रंगमंच और अंततः हमारी अपनी लोक नाट्य परंपराओं से भी हो जाती है।

नाटक किसी काल-विशेष की सीमाओं से भी परे है, अतः वेशभूषा, रूप-सज्जा, केश-विन्यास आदि तत्वों को लेकर भी नाटक एक उन्मुक्तता एवं स्वतंत्रता की माँग करता है। लेकिन सबसे बड़ी चुनौती है इस नाटक के लिए एक उचित एवं सार्थक अभिनय शैली की खोज। क्या इसे एक प्रहसन मानकर आवश्यकता से अधिक अतिरंजित और काफ़ी हद तक बनावटी शैली को अपना लिया जाए? क्या नाटक की तात्कालिकता एवं समसामयिकता के चलते यथार्थवादी अभिनय का आश्रय लिया जाए? क्या किसी प्रदेश विशेष की रीतिबद्ध शैली पर आधारित अभिनय एवं गतिविधान की ओर बढ़ा जाए?

मुझे नहीं लगता कि हम किसी एक शैली से काम चला सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटक के पाँच-छः गीत, जगह-जगह पर सुभाषित की तरह दोहों का प्रयोग संस्कृत नाटकों की गद्य-पद्य वाली नाट्यधर्मी प्रस्तुति-शैली की याद दिलाता है लेकिन यहाँ पद्य का इस्तेमाल पूरी तरह से उस जटिल आंगिक अभिनय की तरफ़ बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करता, क्योंकि उन गीतों में न तो कोई अमूर्त भाव या बिंब ही दृष्टिगोचर होते हैं और न ही वे किसी प्रकार के चित्राभिनय की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः नाटक का कथ्य एक लोकधर्मी प्रस्तुति-शैली की माँग करता है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि यह लोकधर्मी शैली कैसी हो? सबसे पहले तो उस लोकधर्मिता अर्थात् रोज़मर्रा की ज़िंदगी की तस्वीर का अध्ययन किया जाए। महंत और उसके दो चेले—नारायणदास और गोबरधनदास, कबाबवाला, घासीराम चने वाला, नारंगीवाला, हलवाई, कुँजड़िन, मुगल, पाचकवाला, मछलीवाली, जातवाला (ब्राह्मण), बनिया, सेवक, राजा, मंत्री, फ़रियादी,

कल्लू, कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया, कोतवाल, प्यादे, सिपाही–देश और समाज के इतने व्यवसायों और रंगों का प्रतिनिधित्व और किस नाटक में मिलेगा? यों कहने को यह एक लघु नाटक है, लेकिन यदि प्रत्येक भूमिका के लिए अलग-अलग अभिनेता लिए जाएँ तो कम-से-कम तीस-पैंतीस लोगों की ज़रूरत पड़ेगी। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि जब-जब मंच पर बाज़ार, राजसभा और श्मशान के दृश्य आते हैं तो कितनी तरह के रंग, कितनी तरह की वेशभूषाएँ, कितनी तरह की बोलियाँ और भाषाएँ, कितनी तरह की चाल-ढाल–ये सब कुछ आपस में ही एक ऐसी विविधता भरी शैली प्रस्तुत कर देते हैं कि नाटक में अलग से किसी शैली के आरोपण की तरफ़ ध्यान जा ही नही सकता। संपूर्ण भारतीय नाट्य साहित्य में जीवन की इस बहुरंगी झाँकी की दृष्टि से या तो शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की याद आती है या फिर आज के नाटक हबीब तनवीर के 'आगरा बाज़ार' को रेखांकित किया जा सकता है। कैसा संयोग है कि तीनों नाटक नाट्यधर्मी की अपेक्षा लोकधर्मी प्रस्तुति शैली पर ही ज़्यादा आश्रित हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि नाटक की सहज, सरल एवं लचीली संरचना के अनुरूप ही प्रस्तुति-शैली भी होनी चाहिए। यही कारण है कि आज तक इस नाटक की जितनी भी प्रस्तुतियों को देखने का अवसर मिला है, उनमें प्रायः पहले से बनी-बनाई अथवा किसी निश्चित शैली को न अपनाकर स्वयं से प्रस्तुति के दौरान विकसित अभिनय एवं प्रस्तुति शैली को रूपायित करने का प्रयत्न किया गया। यहाँ उन सब प्रस्तुतियों पर चर्चा करना तो संभव नहीं होगा, फिर भी सुविधा के लिए तीन प्रस्तुतियों की चर्चा एवं विवचेन अपेक्षित है, जो अपने प्रस्तुतीकरण में तो एक दूसरे से बिलकुल अलग थी हीं, इनसे इस बात के भी कुछ ठोस संकेत मिल सकेंगे कि अंततः किसी निर्देशक की अपनी मौलिक परिकल्पनाएँ एक सीधे-सादे से कथानक में कितनी गहराई, जटिलता एवं समसामयिकता खोजकर दर्शकों को चमत्कृत एवं अभिभूत कर देती हैं।

पहली प्रस्तुति है स्वतंत्रता के इक्कीस वर्ष बाद 1968 में हिंदी रंगमंच शतवार्षिकी के अवसर पर प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद द्वारा डॉ. सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में मंचित। इससे पूर्व भी एक बार डॉ. सिन्हा 'अंधेर नगरी' को 1965 में प्रस्तुत कर चुके थे, जिसमें उन्होंने इस नाटक को नए संदर्भों में स्थापित करने की चेष्टा की थी। वेशभूषा प्रायः आधुनिक ही थी, राजसभा के दृश्य में अभियुक्तों के लिए मुखौटों का प्रयोग किया गया, बाज़ार वाले दृश्य को भी आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया गया। राजा की चाल-ढाल शैलीबद्ध थी, सब्ज़ीवाली स्लैक्स में आई तो भी फ़रियादी और कुछ दूसरे पात्र परंपरागत ही रहे। इस प्रकार कुछ आधुनिक तत्वों एवं युक्तियों के प्रयोग के बावजूद प्रस्तुति की शैली परंपरागत ही रही।

लेकिन जब 1968 में निर्देशक ने इस नाटक को दुबारा मंचित किया तो पूरी प्रस्तुति का मिज़ाज ही बदल गया। यह वह समय था जब पड़ोसी देशों के साथ क्रमशः 1962 और 1965 में दो-दो युद्ध झेलने के बाद भारतीय जनमानस का पूरी तरह से मोहभंग हो चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात् उसके मन में नई दुनिया को लेकर जो भी आशाएँ, आकांक्षाएँ और सपने थे, वे टूटकर बिखर चुके थे और तात्कालिक वर्तमान की अर्थहीनता, जीवन का बेडौलपन और खोखलापन–प्रायः सब कुछ उजागर होने लगा था। अतः निर्देशक ने भी प्रस्तुति के माध्यम से नई पीढ़ी की बदलती हुई हरकत को रेखांकित करने की चेष्टा की। बाबा अर्थात् आज के शुभ्र-वेशधारी विदेशों से नाता लगाए धनसंपन्न योगी, चेले नारायणदास–गोबरधनदास यानी हमारी वह नई पीढ़ी, जिस पर हिप्पी-बीटनिक संस्कृति अनायास हावी हो रही है, राजा अर्थात् सत्ता के लिए या सत्ता पर बने रहने के लिए जितनी भी सिद्धांतहीनता बरती जा सकती है–उनका प्रतिनिधि। मंत्री मानों उन सब विदेशी ताक़तों का प्रतिनिधि जिनके इशारे पर सत्ता नाचती रहती है। फ़रियादी वह साधारणजन जो सदियों से न्याय माँग रहा है, लेकिन उसे आज तक न्याय नहीं मिला। कल्लू बनिया, कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया और कोतवाल–अपने-अपने स्वार्थों में लिप्त लोगों का जमघट, जिन्हें राजा और उनके शासन की कोई चिंता नहीं क्योंकि वे जब चाहें तब राजा को गद्दी से उतार दें। इस प्रकार सन् 1881 में लिखा नाटक निर्देशक के लिए एकदम से समसामयिक हो गया।

इसी आधुनिकता एवं समसामयिकता को प्रस्तुति की शैली में भी पिरोने की कोशिश की गई–नाटक के शीर्षक गीत 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' को आधुनिक स्वर में गाकर टेपबद्ध कर लिया गया, जिससे पूरे नाटक में एक लयबद्धता आ गई। बाज़ार-दृश्य के सभी पात्रों और नारायणदास-गोबरधनदास को पाश्चात्य नृत्य-शैली ट्विस्ट और शेक के माध्यम से गतिचर्या दी गई और उसी के अनुसार संवादों की अदायगी कराई गई। नाटक में स्थान-स्थान पर अचानक पात्रों का स्थिर हो जाना, दर्शकों के सामने ही पात्रों द्वारा नाचते-गाते मंच-सामग्री में परिवर्तन करवाना, फ़ाँसी-दृश्य में ऐसी भूखी-नंगी जनता की अवधारणा करना जो फ़ाँसी स्वीकार किए राजा को फ़ाँसी से न उतरने दे। मंच की परिकल्पना बहुआयामी थी और नाटक की शुरुआत दर्शकों के मध्य जुलूस निकालकर मंच पर पहुँचने से की गई। कुल मिलाकर 1881 की भाषा और परिवेश पर 1968 का तत्कालीन वर्तमान सफलता के साथ आरोपित हुआ और इस प्रकार वर्तमान की समस्त कुंठा, वहशीपन, नकलची प्रवृत्ति और काल से उत्पन्न खोखलापन आदि पर इस प्रहसन की ऐसी प्रस्तुति के माध्यम से किसी सीमा तक अवश्य ठोकर लगी।

संक्षेप में, डॉ. सत्यव्रत सिन्हा की यह मंच-प्रस्तुति इसलिए बेहद चर्चित, उत्तेजक एवं विवादास्पद साबित हुई, क्योंकि निर्देशक ने एक सीधे सपाट नाटक को अपने समकालीन संदर्भों से विचार के स्तर पर तो जोड़ा ही, उसकी प्रस्तुति शैली के लिए भी नितांत आधुनिक और किसी हद तक पाश्चात्य शैली से लिए गए तत्वों का उपयोग किया और उनका ऐसा सम्मिश्रण किया कि वे कहीं भी अलग से नहीं दीख पड़ते थे। आज से लगभग तीस वर्ष पहले एक भारतीय नाटक को संपूर्ण रूप में पाश्चात्य रंग एवं अभिनय शैली के भीतर से प्रस्तुत करना निश्चय ही साहस का काम था और दर्शकों ने प्रस्तुति को खुले मन से स्वीकार किया और सराहा। यह प्रस्तुति की सफलता मानी जाएगी।

'अंधेर नगरी' की दूसरी प्रस्तुति संयोग से स्वतंत्रता के बाद के पहले बहुत ही महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक दौर में होती है। इमर्जेंसी का 1975 में लगाया जाना और 1977 में हटाया जाना। चुनावों की घोषणा और पहली बार अखिल भारतीय कांग्रेस की करारी हार और उसके स्थान पर जनता पार्टी का शासन, लेकिन मात्र डेढ़ वर्षों के भीतर ही भारतीय राजनीति के इस दूसरे दौर का असली और विकृत चेहरा उजागर हो गया अर्थात् पार्टी बदल जाने से राजनीतिज्ञों के चरित्र में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया और एक बार फिर से वही अक्षम, भ्रष्ट और धूर्त शासन-व्यवस्था। इन्हीं स्थितियों की पृष्ठभूमि में ब.व. कारंत ने 1978 के उत्तरार्द्ध में इस नाटक की एक बिलकुल ताज़ी, उत्तेजक एवं आकर्षक मंच-प्रस्तुति करके दर्शकों पर एक अलग ही तरह का असर पैदा किया।

कारंत की प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रांगण में खुले आसमान के नीचे एक भव्य और विशाल अभिनय क्षेत्र को आधार बनाकर की गई। मंच के नाम पर एक बड़ा-सा गोलाकार धरातल और उसके पीछे की दीवार पर कपड़े के बदले सफ़ेद परदे पर बनारस शहर को रेखाओं में उकेरता एक चित्र–दृश्यबंध के नाम पर बस इतना ही। इसके अतिरिक्त चारों ओर फैला खुला परिवेश भी मानो अभिनय क्षेत्र का ही एक हिस्सा था। प्रस्तुति में लगभग 40 अभिनेता थे, जो नाटक के आरंभ में बहुत दूर से राम-राम भजो गाते हुए मंच पर प्रवेश करते थे और फिर नाटक के अंत तक एक घेरा बनाकर वहीं बेठे रहते थे। इसी घेरे के भीतर अलग-अलग दृश्यों के समूह बनते-बिगड़ते रहते थे।

पूरी प्रस्तुति की परिकल्पना किसी भी जानी पहचानी लोक नाट्य शैली पर आधारित नहीं थी, फिर भी गीत, संगीत, मुद्राओं और रंगों के माध्यम से अपनी ही एक नई एवं निजी शैली तैयार होती हुई जान पड़ी। एक उत्सवधर्मी और अनुष्ठानपरक वातावरण के निर्माण के भीतर से फ़रियादी की असहनीय पीड़ा और व्यवस्था के नितांत संवेदनशील चरित्र को उभारने का प्रयत्न किया गया।

संपूर्ण नाटक को एक विशेष प्रकार की संगीतमयता के माध्यम से प्रस्तुत किया गया, जिसमें एक ही गीत का बार-बार दोहराया जाना, उसी के साथ चरित्रों की गतियाँ एवं चर्चाएँ, कम-से-कम मंच-उपकरणों का इस्तेमाल और प्रत्येक पात्र के साथ गले में लटका या कमर में बँधा एक जोड़ा मंजीरा, पात्रों की वेशभूषा में कहीं तो परंपरागत धोतियाँ, पटके और पगड़ियाँ और कहीं राजा, मंत्री, कोतवाल और उनसे जुड़े लोगों के सिरों पर लंबी कार्टूननुमा टोपियाँ, नाटक में विभिन्न भाषाओं और बोलियों की ध्वनियाँ–इन सबने मिलकर एक मेले का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया।

कुछ नाटकीय युक्तियाँ तो अपनी मौलिकता में अद्भुत थीं–उदाहरण के लिए गोबरधनदास के मोटापे को दिखाने के लिए दो अभिनेताओं का एक ही ड्रेस में बंद होकर हरकतें करना, स्त्री फ़रियादी का बीच-बीच में 'मेरी बकरी' जैसे एक संगीत-याचना के रूप में हस्तक्षेप और बाज़ारवाले दृश्य में अंधेर नगरी चौपट राजा के बार-बार दोहराव के साथ गोबरधनदास का नृत्य।

लेकिन इन सारे नाटकीय एवं रंगमंचीय तत्वों की तुलना में जिस चीज़ ने सबसे ज़्यादा ध्यान आकर्षित किया, वह थी नाटक के अंत की मौलिक व्याख्या–राजा के फ़ाँसी चढ़ जाने के बाद महंत का ही राजा के रूप में सिंहासनारूढ़ होना और दोनों चेलों का उसके दरबारियों के रूप में स्थानांतरण। महंत का शराब के लिए पुकार लगाना और जैसे फिर से उसी क्रम की एक और शुरुआत–व्यवस्था कोई भी आ जाए उसका मूल चरित्र कभी नहीं बदलता और वह अंततः उसी भ्रष्ट तंत्र में परिवर्तित हो जाती है। इतिहास में फ्रांसीसी क्रांति का उदाहरण हमारे सामने हैं, कुल जमा सत्तर वर्षों में नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी रूसी क्रांति हमारे समाने है और नाटक की प्रस्तुति के लगभग एक वर्ष बाद ही दूसरी आज़ादी के रूप में प्रचारित नई शासन-व्यवस्था का अंत–इन सबके संदर्भ में प्रस्तुति के अंत की यह व्याख्या कितनी सटीक बैठती है।

दोनों प्रस्तुतियों के अभिनय पक्ष पर भी अलग से टिप्पणी अपेक्षित है। जहाँ डॉ. सिन्हा की प्रस्तुति में पाश्चात्य शैली से प्रेरणास्वरूप निर्मित शैली में अभिनेता को व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रमुखता मिली और गोबरधनदास और राजा की भूमिका में अभिनेताओं को अपने पूरे व्यक्तित्व की छाप स्थापित करने का अवसर मिला, वहाँ कारंत की प्रस्तुति में अभिनेता व्यक्तिगत रूप में अलग से उभरकर नहीं आए। इसका कारण प्रस्तुति में उत्सवधर्मी शैली का अपनाया जाना है। जिस तरह एक उत्सव में एक पूरे जनसमूह की भागीदारी होती है, उसी तरह से इस प्रस्तुति में भी सभी अभिनेता लगातार मंच पर बैठे हुए थे और उन्हीं के बीच से आवश्यकतानुसार दृश्यों का निर्माण होता चलता था। एकाध दृश्य में अपवादस्वरूप भले ही किसी अभिनेता ने अलग से ध्यान आकर्षित कर लिया हो लेकिन

सही मानों में प्रस्तुति का संपूर्ण प्रभाव उनके सामूहिक समन्वय एव संयोजन के कारण ही पड़ा। दूसरे शब्दों में कहूँ तो यह प्रस्तुति अभिनय की अपेक्षा, शब्दों, उनकी अलग-अलग ध्वनियों, अलग-अलग व्याख्याओं एवं अलग-अलग संगीत के कारण ज़्यादा चर्चित हुई थी।

अंत में, भारतेंदु नाट्य अकादेमी, लखनऊ के छात्रों के साथ 1978 के अंतिम सप्ताह में मंचित और स्वयं निर्देशित प्रस्तुति की चर्चा करना चाहूँगा। इस पर एक बार 1979 में दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस में आयोजित सेमिनार में भी चर्चा हुई थी। प्रस्तुति को नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट नाट्य-मंडप पर परिकल्पित किया था—मंच का विधान तो विकृष्ट नाट्य मंडप का था ही, अभिनेताओं की गतियाँ, प्रवेश-प्रस्थान आदि भी उन्हीं शास्त्रीय नाट्य-रूढ़ियों से प्रेरित थे। यद्यपि आंगिक अभिनय में किसी जटिल मुद्रा विधान का आश्रय नहीं लिया गया था, फिर भी संपूर्ण प्रस्तुति को मूकाभिनय पर ही केंद्रित किया गया था अर्थात् कोई भी मंच उपकरण या किसी दूसरी सामग्री को इस्तेमाल में नहीं लाया गया था।

वेशभूषा को महज़ तीन रंगों में सीमित करके एक विशेष अर्थ को व्यंजित करने की कोशिश की गई थी—महंत और उसके दोनों चेलों के लिए गहरा क़ेसरिया, राजा के लिए गहरा हरा और बाक़ी सभी पात्रों के लिए भूरा-मटमैला, जो एक प्रकार से सामान्य जनता के भी प्रतिनिधि थे। प्रस्तुति का सशक्त पक्ष था उसका वाचिक—मेरे लिए महंत और चेलों की कहानी से भी ज़्यादा जनसमूह में व्याप्त असंतोष एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण थी। इसीलिए बाज़ार के दृश्य में सभी को अपनी चीज़ें टके सेर विवशता में बेचनी पड़ रही है, राजसभा के दृश्य में सभी लोग जानबूझकर एक मूर्ख किंतु निरंकुश राजा के साथ खेल खेलते चले जाते हैं और जब अंत में उस व्यवस्था का अंत हो जाता है तो खूब खुश होकर नाचते-गाते हैं। मात्र दस अभिनेताओं की मंडली से एक बड़े जनसमूह का आभास ज़्यादा वाचिक अभिनय के अलग-अलग रूपों के प्रयोग से संभव हो गया।

अंत में, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भले ही साहित्यिक, आलोचनात्मक एवं एक पाठ्य कृति के रूप में 'अंधेर नगरी' को हाशिए पर रख दिया गया था, लेकिन मंच पर अपने लगातार प्रयोगों के कारण उसने स्वतः ही अपने-आपको भारतीय रंगमंच के एक ऐसे सदाबहार नाटक के रूप में प्रतिष्ठित करा लिया है जिसे बच्चों के साथ खेला जाए अथवा वयस्क अभिनेताओं के साथ-दर्शक उसके व्यंग्य की धार से अछूते नहीं रह पाते और उसका कथ्य सदैव ताज़ा बना रहेगा क्योंकि वह काल और स्थान विशेष की सीमाओं से परे है।

3. प्रसाद के नाटक : भाषा, भावबोध और मंचन

विजय मोहन सिंह

जयशंकर प्रसाद के नाटकों के साथ प्रारंभ में ही एक बड़ी दुर्घटना यह हुई कि वे पाठ्यक्रम में डाल दिए गए। अतः वे 'पाठ्य' बन गए, 'दृश्य' या 'श्रव्य' नहीं बन सके। यानी वे 'शिक्षण' की वस्तु तो बन गए, मगर प्रशिक्षण की नहीं। इसी क्रम में उनके 'व्याख्याताओं को (उन पर व्याख्यान देने वालों को) उनका मंचन भी टेढ़ी खीर लगने लगा। कभी उन्हें उनमें शास्त्रीय अर्थ में 'संकलनत्रयी' के समन्वय की कमी लगी, कभी उनके संवाद दुरूह और बेहद बोझिल। कभी वे उन्हें इतने लंबे और उबाऊ लगे कि संवाद बोलने वाले की साँस फूल जाए तथा दर्शकों को जम्हाइयाँ आने लगें। यही नहीं, उन्हें उनमें अद्भुत किस्म की असमझ चीज़ें नज़र आने लगीं। मसलन यदि नाटक का पहला दृश्य तक्षशिला का है तो दूसरा पाटलिपुत्र का। प्रसाद के नाटकों के इन स्वयंभू व्याख्याताओं को (हालाँकि स्वयं उन्हें न तो नाटक के बारे में कुछ पता होता था, न रंगमंच के बारे में) इन नाटकों के मंचन की इतनी कठिनाइयाँ नज़र आने लगी कि उन्हें रंगमंच से प्रायः बहिष्कृत तथा बरख़ास्त कर दिया गया। उनकी ये तथाकथित कठिनाइयाँ यदि आज के आधुनिक नाट्य निर्देशकों को हास्यास्पद लगें तो कोई अचरज नहीं। जैसे कि कैसे दिखाए जाएँगे रंगमंच पर पहाड़, नदियाँ, झरने, जंगल और किले। युद्ध तो नाट्यशास्त्र में वर्जित है और प्रसाद के नाटकों में युद्ध ही युद्ध है। हत्याएँ, आत्महत्याएँ। यह सब रसभंग तथा गर्हित है। हाँ, प्रसाद के नाटकों की तब ऐसी ही व्याख्याएँ होती थीं (इन पंक्तियों का लेखक ऐसी व्याख्याओं का भुक्तभोगी रहा है। अब भी क्लासरूम के प्रवक्ता ऐसी ही व्याख्याएँ कर रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं!) डी.लिट् की उपाधि के लिए प्रसाद के नाटकों की ऐसी ही शास्त्रीय व्याख्याएँ की जाती थीं।' प्रसाद के नाटकों के संबंध में ऐसा भ्रमजाल काफी हद तक आज भी बना हुआ है।

प्रसाद ने छोटे-बड़े आठ नाटक लिखे थे। उनकी मंचीयता, भावबोध, जीवन-दर्शन, चरित्रांकन तथा संदेश आज भी विशद आकलन की माँग करते हैं। किसी पी-एच.डी. अथवा डी.लिट् उपाधि के लिए नहीं, बल्कि उनकी अपरिचित मंचीय संभावनाओं को

उजागर करने के लिए। प्रसाद के नाटक शेक्सपियर के नाटकों से अधिक दुरूह हैं अथवा कालिदास के नाटकों से? जूलियस सीज़र में सीज़र की हत्या के बाद एंटोनी का भाषण कितना लंबा है। पर वही उसके सबसे प्रभावोत्पादक दृश्यों में से एक है। उसकी भाषा, उसका मनोविज्ञान सभी कुछ अभिनेता तथा निर्देशक को लिए बहुत बड़ी चुनौती है। प्रसाद के नाटकों के ऐसे अंश भी बड़ी चुनौतियाँ हैं और उन्हीं से उनकी अपार नाटकीय संभावनाओं के भंडार का पता चलता है। और कुछ नहीं तो केवल 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के स्वगत कथनों को एकत्र कर विश्लेषित किया जाय तो जीवन के संबंध में प्रसाद के विराट 'विज़न' का पता चलता है। मंचीय दृष्टि तथा अभिनय की दृष्टि से उनमें अंतर्निहित आवेगों, आवेशों, भाव, विभाव, संचारी भावों के अद्‌भुत उन्मेष तथा उनके नाटकीय संयोजन का भी। यहाँ उद्धरण देने का अवकाश नहीं है वरना पता चलेगा कि चंद्रगुप्त व चाणक्य के ऐसे कथन हैमलेट के विश्वविख्यात 'टू बी ऑर नॉट टू बी' अथवा ओथेलों के'पुट आउट दी लाइट ऐंड देन पुट आउट दी लाइट' से कम अर्थगर्भित नहीं है।

प्रसाद के सभी नाटक स्वतंत्रता से एक दशक पूर्व लिखे गए थे यानी 1920 तथा 1937 के बीच। उनके इन तथाकथित ऐतिहासिक नाटकों में परतंत्रता बोध की समकालीन अंतर्ध्वनियाँ और उसके त्रास के विकल कर देने वाले उद्‌घोष कितने क्रांतिकारी हैं, यह उनको 'गड़े मुर्दे उखाड़ने वाला' कहने वाले कभी नहीं समझ सकेंगे। इस संदर्भ में भी उनके नाटकों की वास्तविक व्याख्या अभी होनी है और यह व्याख्या भी उनका मंचन ही करेगा, उसके निर्देशक और अभिनेता-अभिनेत्रियाँ ही।

'मुक्ति' और 'स्वतंत्रता' प्रसाद के नाटकों के केंद्रीय शब्द हैं, बल्कि बहुत हद तक उनकी 'थीम' से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक संदर्भ में तो वहाँ यह मुक्ति कभी हूणों, शकों अथवा शासकीय कुशासन-अत्याचार और भ्रष्टाचार आदि से है, किन्तु आज के संदर्भ में उनके इस ऐतिहासिक आवरण को हटाकर देखें तो अंग्रेजों के शासनकाल में इस 'मुक्ति' की छटपटाहट, मुक्ति के लिए संघर्ष, विदेशी आक्रमणों की बर्बरता के प्रति प्रतिरोध आदि के नए अर्थ खुलते नज़र आएँगे और वे एक प्रच्छन्न नाटकीय'डिवाइस' के रूप में दिखाई पडेंगे। भयानक सेंसर तथा दमन के बीच अक्सर कलाकारों तथा साहित्यकारों को ऐसे 'डिवाइसेज़' का सहारा लेना पड़ता है। यह हम अधिक आधुनिक रूप में काफ़्का के उपन्यासों और पिकासो के चित्रों में देख चुके हैं, जहां नाज़ी फ़ौजी अफ़सर द्वारा 'गुयेर्निका' को लक्ष्य कर पिकासो से यह पूछे जाने पर कि 'यू डिड इट?' पिकासो उत्तर देता है, 'नो, यू डिड इट?' प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के गुस्सैल क्रांतिकारी युवा पात्रों का गुस्सा आख़िर किसके प्रति है। चंद्रगुप्त नाटक के प्रारंभ में ही तक्षशिला के देशद्रोही राजकुमार आम्भीक तथा मालव युवक सिंहरण के बीच जब द्वंद्वयुद्ध की नौबत आ

जाती है और आम्भीक गुस्से में तलवार खींच लेता है तो चाणक्य बीच-बचाव करते हुए कहता है कि तलवार के लिए 'शेष' में (म्यान में) स्थान नहीं है क्या? उत्तर में सिंहरण व्यंग्य और तिरस्कार से कहता है कि 'शेष' (ख़जाना) तो पहले ही विदेशी आक्रमणकारियों के उत्कोच के सुवर्ण से भर चुका है। यहाँ 'शेष' का द्विअर्थक प्रयोग केवल श्लेष के चमत्कार के लिए नहीं किया गया है, बल्कि एक युवा देशप्रेमी का अकृत्रिम आवेश घृणा से व्यथित होकर बोल रहा है। नाटक की इस प्रारंभिक प्रेरक उक्ति के समानांतर शेक्सपियर के ओथेलो की उक्ति सहज ही स्मरण हो आती है : 'कीप अप योर ब्राइट सोर्ड्स, फॉर द डियू विल रस्ट देम।'

प्रसाद के नाटकों में ऐसे आवेगपूर्ण उक्तियों से गर्भित नाटकीय संवाद भरे पड़े हैं, जिनमें कोई भी समर्थ तथा प्रतिभासम्पन्न अभिनेता अपनी वाणी तथा मुद्राओं से अपूर्व प्रभावात्मकता भर सकता है।

ऐतिहासिकता की समकालीनता ऐसे ही संदर्भों में उद्घाटित होती है और प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की समकालीनता का विधिवत विश्लेषण होना अभी शेष है।

उनके नाटकों को हम एक तरह से 'काव्य' और 'गद्य' का संगम कह सकते हैं। इनमें बीच-बीच में आने वाले 'गीत' तो महत्वपूर्ण हैं ही, उनके गद्य संवादों में भी कम कवित्व नहीं है। वस्तुतः नाट्य भाषा की प्रकृति में ही कवित्व अविभाज्य रूप से अंतर्निहित होता है। यह विशेषता प्रसाद के नाटकों से लेकर 'अंधायुग' तक की भाषा में देखी जा सकती है। मोहन राकेश के नाटकों में यदि 'आषाढ़ का एक दिन' सर्वश्रेष्ठ है तो इसलिए भी कि उसकी भाषा में यह नाटकीय कवित्व गुण है और जो उनके तथाकथित यथार्थवादी नाटक '**आधे-अधूरे**' की भाषा में नहीं है।

प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त 'गीत' महज अलंकरण अथवा अवांतर प्रसंग मात्र नहीं है। वे उनके चरित्रों की भावगत विशेषताओं तथा बहुधा वस्तुगत स्थितियों की भी संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं जो उनके नाटकीय क्रिया-व्यापार को अधिक आवेगशील बनाकर, उनकी संप्रेषण क्षमता में भी वृद्धि करती हैं। प्रसाद के पात्र यदि एक ओर चिन्तनशील तथा दार्शनिक प्रकृति के हैं तो दूसरी ओर अत्यधिक भावप्रवण। अतः यदि अलका, मालविका तथा सुहासिनी जैसे पात्रों के मुँह से भावोच्छ्वास में गीत नहीं निकलेंगे तो और किसके कंठ से फूटेंगे? ये गीत नाटक के प्रवाह में बाधा नहीं डालते, बल्कि उसे तीव्रतर करते हैं।

'स्कंदगुप्त' नाटक की पहली पंक्ति है 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन होता है।' यह स्वयं स्कंदगुप्त अनुभव करता है और नाटक के अंत में देवसेना गाती है, 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर/ मैंने निज दुर्बल पद बल से,

उससे हारी होड़ लगाई/आह, वेदना मिली विदाई।' गौर करें तो नाटक की पहली पंक्ति और इस अंतिम गीत में एक आंतरिक एकसूत्रता है जो प्रसाद के जीवन-दर्शन तथा 'विज़न' को तो व्यक्त करता ही है, पूरे नाटक की संरचना में एक अद्‌भुत विद्युत प्रवाह भी उत्पन्न करता है। 'मादक' तथा 'सारहीन' दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं, किन्तु यहाँ साथ-साथ प्रयुक्त होकर जीवन की एक गहरी वास्तविकता को व्यक्त करते हैं। स्थूल भौतिकता तथा भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति प्रसाद के नाटकों में एक गहरी विरक्ति है। चंद्रगुप्त नाटक में चंद्रगुप्त को भारत का एकछत्र सम्राट बना देने के बाद कूटनीतिज्ञ चाणक्य को भी 'भूमा के सुख' के सम्मुख भौतिक सुविधाएँ 'चमकीले नश्वर पदार्थ' ही प्रतीत होती है। जीवन की यह उच्चतर वास्तविकता प्रसाद के सभी नाटकों का केंद्रीय बोध है। इस विराट ब्रम्हांड में मनुष्य का क्षुद्र अस्तित्व काल से कैसे 'होड़' लगा सकता है। लगाने की कोशिश करेगा तो वह 'हारी होड़' ही होगी। 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर' वाली काव्यात्मक पंक्ति की अर्थगर्भिता को किसी गद्य संवाद मे 'रिड्यूस' नहीं किया जा सकता। तब उसकी समस्त प्रभावात्मकता ही तिरोहित हो जाएगी। 'अधिकार सुख इसलिए भी सारहीन है कि अंततः उसकी परिणति इस 'हारी होड़' में ही होगी। स्कंदगुप्त के सम्राट हो जाने पर देवसेना स्कंदगुप्त को प्राप्त करने की आकांक्षा से भी मुक्त हो जाती है। स्कंदगुप्त जब उससे विवाह का प्रस्ताव करता है तो वह कहती है अब तो बिलकुल ही नहीं। यानी तब उसका परिणय सम्राट स्कंदगुप्त से होगा, व्यक्ति स्कंदगुप्त से नहीं। 'प्राप्ति' के प्रति यह 'निषेध' प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में है। उनकी 'प्राप्य' तथा 'महत्' की अवधारणा ही सर्वथा पृथक है। चाहें तो इसे ही उनकी 'भारतीयता की अवधारणा' भी मान सकते हैं। इसे महज़ छायावादी रोमांस कह कर खारिज़ नहीं किया जा सकता।

नाट्य-भाषा मे काव्यात्मकता प्रसाद को अपने रचनात्मक भावबोध से स्वतः प्राप्त हुई है। शुद्ध गद्य जहाँ नाटकीयता उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, काव्यात्मकता इस अपर्याप्त की पूर्ति करती है। नाट्य भाषा में मुख्यतः संवादों में एक बिन्दु ऐसा आता है, जहाँ 'गद्य' और 'काव्य' की सीमाएँ एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं। वहाँ पात्र 'गद्य' या 'कविता' की भाषा में नहीं बोलते, वे केवल उस स्थिति विशेष में बोलते और बातें करते हैं, बिना अपने या दर्शक को उसके प्रति पृथक से सचेत कराए हुए। इससे संप्रेषणीयता में कोई आघात या झटका नहीं लगता। यदि ऐसा होता है तो इसे नाट्य-भाषा की विफलता ही समझना चाहिए। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पर्वतेश्वर (पोरस) का अपनी भागती हुई सेना को संबोधन प्रायः काव्यात्मक है, किन्तु उससे कविता का नहीं एक हताशा में ओज और उत्साह उत्पन्न करने वाला प्रभावशाली स्वर ही सुनाई पड़ता है जो उस स्थिति-विशेष में अभीष्ट है।

प्रसाद की नाट्य-भाषा उक्तियों तथा सूक्तियों से संकुल भाषा है (शेक्सपियर के नाटकों की भाषा में भी यही विशेषता देखी जा सकती है) जिसमें जीवन का भेद खोलने वाली गहरी दार्शनिकता भी है और व्यावहारिक जीवन का मर्म भी। जैसे चंद्रगुप्त नाटक के ऐसे कथन : 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है। जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते हैं।' 'चाणक्य की नीति - 'लता अंधकार में ही लहलहाती है।' अथवा 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।'

चंद्रगुप्त नाटक मे ही महर्षि दांडायन से सिकंदर की एक काल्पनिक मुलाकात में जब सिकंदर उनसे अपने विश्व विजय के अभियान की सफलता के लिए आशीर्वाद माँगता है तो वे उसकी इस निरर्थक तथा खोखली महत्वाकांक्षा का उपहास करते हए जो बातें उससे कहते हैं वे भारतीय जीवन दृष्टि की अनुपम व्याख्या है। प्रसाद की इस भारतीयता की अवधारणा में तब भी और अब भी कुछ लोगों को ब्राह्मणवाद और हिन्दूवाद की बू आती है और हमारी 'प्रगतिशील जीवन दृष्टि उसे सांप्रदायिक खाते में डालने से भी नहीं चूकती, किन्तु तब के संदर्भ में यह राष्ट्र-भावना जाग्रत करने वाली जीवन दृष्टि कितनी अपरिहार्य थी, इसे तब के राष्ट्र मुक्ति के आंदोलनों से संयुक्त करके देखना चाहिए।

इस संदर्भ में प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक ही नहीं, एक बड़े गहरे अर्थ में राजनैतिक नाटक हैं जो प्रच्छन्न रूप से साहित्यिक स्तर पर वही भूमिका निभा रहे थे जो राजनैतिक स्तर पर राष्ट्र मुक्ति के आंदोलन। यह आकस्मिक नहीं था कि तिलक तथा गाँधी दोनों ने भगवतगीता को अपने संघर्ष का आधार बनाया था, जिसमें 'कर्म' तथा 'अनासक्ति' की विशद व्याख्याएँ की गई हैं। पूरा गाँधीवादी आंदोलन अनेकानेक गीतों-भजनों तथा लयात्मक नारों से गुँथा हुआ था। इस संदर्भ में यदि हम प्रसाद के 'प्रशस्त पुण्य पंथ हैं, बढ़े चलो...' और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' आदि गीतों की व्याख्या करें तो उनकी वास्तविक भूमिका समझ में आएगी तथा उन्हें 'सांप्रदायिक' अथवा 'हिन्दूवादी' मानना असंगत लगेगा। यदि निराला का यह लिखना कि 'पश्चिम' की उक्ति नहीं गीता है, गीता है।' सांप्रदायिकता या हिन्दूवादी नहीं माना गया तो प्रसाद के नाटकों के ये गीत तथा सूक्तियाँ क्यों सांप्रदायिकता के खाते में डाल दी जाएँ? ये सभी प्रश्न प्रसाद के नाटकों की पुनर्व्याख्याएँ माँगते हैं, बल्कि नए संदर्भ में पुनर्प्रस्तुतियाँ भी।

आज कोई चाहे तो 'ध्रुवस्वामिनी' को आज के 'नारीवादी' (फ़ेमिनिस्ट) आंदोलनों के आलोक में प्रस्तुत कर सकता है, हालाँकि तब भी छायावादी (अथवा स्वच्छंदतावादी) भावबोध मे ही नारी मुक्ति एक केंद्रीय मुद्दा था जो छायावादी काव्य में ही नहीं, महादेवी वर्मा की गद्य रचना 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ था। 'ध्रुवस्वामिनी' में तो प्रसाद ने तब की सामाजिक संरचना के अनुकूल शास्त्र-सम्मत ढंग से 'क्लीव' पति के स्थान पर पौरुषयुक्त पति के वरण का औचित्य सिद्ध किया था।

ध्रुवस्वामिनी इस अभियान का नेतृत्व करने वाली पहली नारी है और हिंदी साहित्य की पहली 'फ़ेमिनिस्ट' नारी चरित्र।

इस दृष्टि से देखें तो प्रसाद अपने प्रत्येक नाटक में बड़े सुव्यवस्थित ढंग से एक निश्चित जीवन दर्शन की स्थापना करते चलते हैं जिसमें व्यंजनात्मक विविधता है : 'चंद्रगुप्त' के परम कूटनीतिज्ञ तथा अति कठोर चरित्र 'चाणक्य' से कितना भिन्न-बल्कि एक हद तक सर्वथा विपरीत है 'स्कंदगुप्त' का स्कंदगुप्त, उसमें महत्वाकांक्षा और ऐश्वर्य लिप्सा लेशमात्र भी नहीं है, केवल जीवन की प्रवंचना तथा सारहीनता का बोध है। उसमें भी 'हैमलेट' की तरह एक 'डायलेमा' है किन्तु वह 'हैमलेट' से भिन्न भारतीय भावभूमि पर आधारित है। उसे 'हैमलेट' की तरह मृत पिता का भूत नही सताता, केवल एक गुरू दायित्व का बोध उसे कभी-कभी बेहद बोझिल लगने लगता है। 'सारहीनता' का बोध 'हैमलेट' को भी है, तभी वह यह पूछे जाने पर कि 'क्या पढ़ रहे हो?' उत्तर देता है 'वर्डस, वर्डस, वर्डस।' डेनमार्क के राज्य में भी सब कुछ ठीक-ठाक नही है और स्कंदगुप्त के भारत में भी नहीं। दोनों षड्यंत्रों तथा कुचक्रों से जर्जर हैं। स्कंदगुप्त की सौतेली माँ भी कामवासना से ग्रस्त एक स्वैरिणी स्त्री है जैसे हैमलेट की माँ। इन समानताओं के बावजूद 'हैमलेट' तथा 'स्कंदगुप्त' इन स्थितियों का सामना अपने-अपने ढंग से करते हैं।

वस्तुतः किसी भी समय लिखे गए नाटकों का ठीक-ठीक अध्ययन या विश्लेषण उस समय की मंचीय पद्धतियों और प्रविधियों के संदर्भ में ही किया जा सकता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद के नाटकों के लिए मंचन की संभावनाएँ अब अधिक हैं, बजाय उस समय के जब वे लिखे गए थे। 'संकलनत्रयी' की समस्याएँ तभी थीं जब स्थान, काल और परिवेश में उन वस्तुओं की उपस्थिति•अनिवार्य लगती थी, जिनका नाटक में उल्लेख हुआ करता था। अब तो अमूर्तन की प्रविधि से वस्तुओं-और कभी-कभी व्यक्तियों की भी, प्रतीकात्मक या संकेतात्मक उपस्थिति संप्रेषण अथवा प्रभावात्मकता के लिए पर्याप्त होने लगी है, उसमें वनपथ, गिरिपथ, पर्वत, उपत्यका, निर्झर या सरोवर का स्थूल रूप में अथवा यवनिका पर चित्रित रूप में होना भी आवश्यक नही रह गया है। यद्यपि ब.व. कारंत जैसे प्रख्यात तथा प्रसाद को नाटकों के विशेषज्ञ निर्देशक ने चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त आदि में भव्य सेट्स, साज-सज्जा, वेशभूषा तथा अस्त्र-शस्त्रों का भी प्रचुर उपयोग किया है किन्तु संभवतः कोई नाट्य निर्देशक चाहे तो इनके बिना भी उनका सफल मंचन कर सकता है।

नाटक एक 'व्यावहारिक कला' है किन्तु उसे साहित्य से सर्वथा पृथक विधा मानकर मात्र व्यावहारिक प्रस्तुति के रूप में नहीं देखा जा सकता। टी.एस. एलियट और रैमंड विलियम्स जैसे नाट्य समीक्षक भी उसे साहित्य के अंतर्गत ही रखकर देखने के समर्थक हैं। प्रसाद के नाटक उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ भी हैं, जैसे कैम्यू का 'कैलिगुला' और

सार्त्र का 'प्रिज़नर ऑफ़ ऐलटोना'। वे शुद्ध साहित्यिक रचना के रूप में भी 'पाठ' और विश्लेषण की माँग करती है, बल्कि इस 'आधार' के बिना उनका सफल या सार्थक मंचन भी संभव नहीं होता। इन दोनों नाटकों में अंतर्निहित अस्तित्ववादी दर्शन को समझे बिना कोई नाट्य निर्देशक उन्हें पूरी प्रभावात्मकता के साथ मंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रसाद के नाटकों में सर्वत्र व्याप्त एक सुनिश्चित जीवन दर्शन को बिना समझे उनका मंचन असंभव है, बल्कि उँनेके नाटकों की संप्रेषणीयता में उनमें अनुस्यूत जीवन-दर्शन की सप्रेषणीयला भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। जिस सीमा तक वह जीवन दर्शन संप्रेषित होगा, उसी सीमा तक नाटक का संपूर्ण प्रभाव भी।

प्रसाद के नाटक प्रकृतिवादी नहीं है, और न प्रचलित अर्थ में यथार्थवादी ही। किन्तु वे 'स्वैर कल्पनाएँ (फ़ैंटेसी) नहीं है, जैसी उनके समकालिक छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्सना'। वे बहुत दूर तक तब के राजनैतिक वस्तुगत यथार्थ पर आधारित हैं। प्रसाद के नाटक कोई 'इतिहास दर्शन' नही देते, जीवन दर्शन देते हैं।

जब तक प्रसाद के नाटकों की विशेष भाषा (चाहें तो उसे 'ड्रैमेटिक डिक्शन' कह लें) और उसके माध्यम से व्यक्त भावबोध को संयुक्त कर उनके 'विज़न' को प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया जाएगा, तब तक उनके नाटक (और उनका मंचन) दुरूह तथा दूरारूढ़ ही प्रतीत होंगे।

4. निर्देशक की पहल
शांता गाँधी

स्कंदगुप्त : प्रदर्शन संबंधी कुछ विचार

आधुनिक हिंदी रंगमंच की शीघ्र उन्नति के मार्ग में एक बड़ी बाधा है : ऐसे अच्छे मौलिक नाटकों का अभाव जिनकी जड़ें हिंदीभाषी जनता के जीवन में हों। स्वाधीनता के बाद से रंगमंच के लिए दिनोंदिन बढ़ते हुए उत्साह के कारण अपेक्षाकृत अधिक संख्या में नाटक निरंतर लिखे जा रहे हैं। किन्तु एक-दो अपवादों को छोड़कर वे प्रायः दर्शकवर्ग के गहरे आंतरिक संस्कारों को छूने में सफल नहीं होते। साथ ही उनमें वे उच्च रंगमंचीय और साहित्यिक गुण भी नहीं होते, केवल जिनके द्वारा ही एक नियमित हिंदी रंगमंच की स्थापना और उसका निरंतर विकास हो सकता है।

हिंदी रंगमंच के विकास की इस विशेष अवस्था में जयशंकर प्रसाद के नाटक बहुत ही सहायक हो सकते हैं। उनके नाटकों में विविध प्रकार के बेशुमार सुंदर चरित्र हैं जो नये अभिनेताओं के लिए प्रेरणादायक चुनौती भी बन सकते हैं और उनकी क्षमता को अधिक व्यापक बना सकते हैं। भारतीय जीवनदृष्टि के अनुरूप उनके नाटकों का समृद्ध नाट्यतत्त्व दर्शकवर्ग को रुचिकर भी होगा और उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार भी करेगा। उनके नाटकों का साहित्यिक महत्व और उनकी विषयवस्तु की सार्वभौमिकता असंदिग्ध है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक हिंदी निर्देशक उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करते झिझकता है? शायद एक कारण यह है कि उनकी अभिनेयता के बारे में लोगों को संदेह है। पर क्या यह संदेह उचित है? अथवा, क्या मूल नाटकों में थोड़ा-बहुत सामान्य परिवर्तन करके उनकी प्रदर्शन संबंधी समस्याओं को सुलझाना संभव है? उदाहरण के लिए 'स्कंदगुप्त' को लीजिए जो कई दृष्टियों से उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

नाटक का संक्षिप्तीकरण : 'स्कंदगप्त' पाँच-अंकी नाटक है जिसमें पच्चीस पुरुष और दस-स्त्री पात्र हैं। एक औसत अव्यवसायी मंडली के लिए पात्रों की इतनी बड़ी संख्या एक बड़ी भारी बाधा बन सकती है। इसके अतिरिक्त पूरे नाटक की अवधि कम से कम चार-साढ़े चार घंटे होगी जो आधुनिक दर्शक वर्ग के लिए बहुत अधिक है। इसलिए स्पष्ट

है कि आधुनिक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के पहले इस नाटक को छोटा करना बहुत आवश्यक है। लगता है कि उसको करीब-करीब आधा काट देना आवश्यक होगा। किन्तु क्या इतने अधिक संक्षिप्तीकरण से नाटक का सार भाग इतना नष्ट-भ्रष्ट न हो जाएगा कि वह आधुनिक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के योग्य ही न रहे? मेरे विचार में यदि उसकी मूलभूत समकालीन सार्थकता को सुरक्षित रखा जाए तो ऐसा होना अनिवार्य नहीं है।

किसी क्लासिक नाटक को प्रस्तुत करते समय उसके किस विशेष तत्व पर बल दिया जाए, यह प्रत्येक युग, बल्कि प्रत्येक दशाब्दी में बदलता रहता है। आज इस नाटक को प्रस्तुत करते समय मैं दो बातों पर जोर देना चाहूंगी : एक तो गुप्तयुग के अंतिम चरण की भाँति ही आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि प्रसाद के स्कंदगुप्त जैसा ही कोई नेता सामने आए, जिसके व्यक्तित्व में अदम्य साहस, योग्यता और 'अधिकार-सुख के नशे' के प्रति उदासीनता जैसे असामान्य गुणों का समन्वय हो–कोई ऐसा कर्मयोगी जो एकता की शक्ति को जागृत कर सके और राष्ट्रीय विघटन को रोक सके। दूसरे, जो व्यक्ति सफलतापूर्वक अपने युग की चुनौती का सामना करता है वह अनिवार्य और आवश्यक रूप से ऐसी ऊँचाई पर पहुँच जाता है जहाँ उस वातावरण में उसके सहयोगी नहीं टिक पाते। इसलिए ऐसे व्यक्ति को अपने निजी जीवन में सुखद अकेलेपन को स्वीकार करना पड़ता है। ठीक वैसे ही जैसे स्कंदगुप्त अपना उद्देश्य पूरा होने के बाद उसे सहज ही स्वीकार कर लेता है।

निर्देशक इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह चाहे जिस बात पर बल दे। पर वह जो भी हो, यदि वह नाटक को समझकर संक्षिप्त करेगा तो अवश्य ही उसके आत्यंतिक नाटकीय प्रभाव को नष्ट किए बिना ही उसकी अवधि और पात्रों तथा दृश्यों की संख्या को कम कर सकेगा। निस्संदेह यह संभावना भी है कि कोई निर्देशक कुछ सतही व्यावहारिक बातों से घबड़ाकर, भली भाँति सोचे-समझे और विषयवस्तु को संवेदनशीलतापूर्वक ध्यान में रखे बिना ही, इस नाटक को संक्षिप्त कर डाले। उदाहरण के लिए, अभिनेत्रियाँ मिलने की कठिनाई के कारण कोई निर्देशक गौण स्त्री पात्रों को काट दे, और इस बात को न समझे कि ये पात्र ही उस युग के उस नैतिक-सैद्धांतिक संघर्ष की तीव्रता उद्घाटित करने के सबसे प्रभावशाली साधन हैं जिसने पारिवारिक जीवन को भी स्पर्श किया था–जब माँ-बाप अथवा पति-पत्नी जैसे परस्पर घनिष्ठ व्यक्ति भी जीवन के सामान्य मूल्यों में साझीदार नहीं रह गए थे। इस खतरे से बचने का एक उपाय यह है कि स्त्री पात्रों की संख्या कम करने में अर्थोपक्षेप जैसी प्राचीन युक्ति के किसी संशोधित प्रकार का सहारा लिया जाए।

कार्यमूलक दृश्यबंध बनाने की समस्या भी इस नाटक को यांत्रिक ढंग से काटने को प्रेरित कर सकती है। इस नाटक के पहले, दूसरे और चौथे अंकों में से प्रत्येक में सात दृश्य हैं, और तीसरे तथा पाँचवें अंक में से प्रत्येक में छः दृश्य। इनमें से प्रत्येक दृश्य का नाटकीय स्थल भिन्न है। नाटक का कार्यव्यापार दृश्य बदलते ही सैकड़ों मील दूर पहुँच जाता है, जैसा कि स्थल परिवर्तन की निम्न तालिका से स्पष्ट होगा :

स्थल परिवर्तन तालिका

अंक	1	2	3	4	5
दृश्य					
1.	गुप्त स्कंधावार (उज्जयिनी)	क्षिप्रा तट पर कुंज (मालव)	क्षिप्रा तट (मालव)	मगध के राजमहल का प्रकोष्ठ	पथ
2.	मगध का राज-महल (कुसुमपुर)	प्रपंचबुद्धि का मठ (मगध)	श्मशान (अवंती)	शिविर	समाधि (कनिष्क स्तूप के पास)
3.	पथ (कुसुमपुर मगध)	देवकी का महल (कुसुमपुर-मगध)	राजमहल (मगध)	न्यायाधिकरण (कश्मीर)	कनिष्क स्तूप
4.	अंतःपुर (कुसुमपुर)	बंदीगृह (कुसुमपुर)	उपवन (अवंती)	(नगर प्रांत)	विहार
5.	अंतःपुर का द्वार (मगध)	अवंती दुर्ग	रणक्षेत्र (गांधार)	विहार के पास चतुष्पथ	रणक्षेत्र
6.	पथ (नगर-प्रांत)	अवंती पथ	रणक्षेत्र	पथ (नगर प्रांत)	उद्यान
7.	अवंती दुर्ग	अवंती राजसभा	–	-कुटी	–

कार्यव्यापार की निरंतरता की दृष्टि से प्रचलित यथार्थवादी दृश्यबंधों का अभ्यस्त निर्देशक इस नाटक को फार्मूले के अनुसार, अर्थात् यदि समूचे ही नाटक के लिए एक स्थल नहीं तो कम से कम एक अंक के लिए, एक नाटकीय स्थल प्रस्तुत करने की बात सोच सकता है। किंतु ऐसा प्रयास अनुचित होगा क्योंकि इस नाटक में नाटकीय स्थलों की यह विविधता उसकी कथावस्तु के साथ बुनियादी तौर पर जुड़ी हुई है। दूर-दूर तक फैले हुए गुप्त साम्राज्य के आसन्न विघटन की पृष्ठभूमि में ही स्कंदगुप्त का वास्तविक महत्व उभरकर सामने आता है। किसी कर्मयोगी को उसकी कर्मभूमि के संदर्भ में ही परखा जा सकता है। इसलिए दृश्यबंध की इस व्यावहारिक समस्या का कोई दूसरा हल ढूँढ़ना आवश्यक है।

इस भाँति इस नाटक की निर्देशन संबंधी सबसे महत्वपूर्ण समस्या इसको काटने और संपादित करने की है। इस पर ही अन्य शिल्पगत समस्याओं के समाधान निर्भर करते हैं–ऐसे समाधान जो इस नाटक की भावना तथा उसके प्रदर्शन की शैली के अनुरूप हों।

प्रदर्शन की शैली : किसी भी नाटक के प्रदर्शन की शैली मुख्यतः उसके लेखन की शैली पर उसके नाटकीय रूपबंध पर, निर्भर करती है। प्रसाद में प्राचीन भारतीय रंगमंच की परंपरा तथा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित पश्चिमी रंगमंच की रूढ़ियों का बड़ा सुखद समन्वय मिलता है। एक प्रकार से यह समन्वय आधुनिक दर्शक के जीवन के मूलभूत यथार्थ को भी सूचित करता है, यद्यपि वास्तविक जीवन में वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए शायद उतना ही सुखद न हो।

इस नाटक में वीररस को प्रधान रस रखा है और साथ ही बाकी अन्य मुख्य रसों को गौण रसों के रूप में प्रयोग करके उसे पुष्ट किया है। इस उपलब्धि के लिए उन्होंने न केवल कथावस्तु तथा चरित्रचित्रण के प्राचीन भारतीय सिद्धांतों का सहारा लिया है, बल्कि संघर्ष और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नाटकीय कार्यव्यापार के सिद्धांत का भी सहारा लिया है। इस नाटक का सामान्य ढाँचा पारसी थिएटर तथा उसके रँगे हुए लिपटवाँ परदों को ध्यान में रखकर बना है। किसी विशेष दृश्य का अंत सारे पात्रों के प्रस्थान से होगा अथवा किसी झाँकी द्वारा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह विशेष दृश्य मंच के पिछले, अगले अथवा बीच के भाग में से कहाँ होनेवाला है। प्रसाद की कला में नाटकीय संवाद भी पूर्वी-पश्चिमी समन्वय से बहुत अधिक प्रभावित हैं। इस नाटक के संक्षिप्तीकरण में इस बात का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

उपलब्ध साधनों के महत्वपूर्ण प्रश्न के अतिरिक्त नाटक की रूपबंध संबंधी विशेषताओं का ज्ञान भी इसके प्रदर्शन की शैली निर्धारित करने में सहायक होगा। यह प्रदर्शन निश्चित रूप से यथार्थवादी नहीं हो सकता, न वह संस्कृत नाटकों की भाँति नाट्यधर्मी ही होगा। साथ ही प्रदर्शन की यह शैली ही इसमें अभिनय, दृश्यांकन, वेशभूषा, उपकरण, प्रकाशयोजना आदि की शैली निर्धारित करने में सहायक होगी।

वेशभूषा : इस नाटक का प्रदर्शन आज इसीलिए कोई करना चाहेगा क्योंकि इसमें समकालीन मूल्य मौजूद हैं। इसलिए इसके निर्देशक को अपने मन में बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए कि वह इन मूल्यों को किस प्रकार आधुनिक दर्शकवर्ग तक पहुँचाएगा। यह निर्णय करने के बाद ही उसको इस नाटक की वेशभूषा का अंकन करना चाहिए। एक उपाय तो यह है कि आधुनिक वेशभूषा का प्रयोग किया जाए। इससे खर्च कम होने के अतिरिक्त एक औसत अव्यवसायी दल के लिए अभिनय संबंधी समस्याएँ भी इतनी जटिल नहीं रहेंगी। विभिन्न पात्रों की सामाजिक स्थिति तथा व्यक्तिगत महत्व को प्रकट

करनेवाले वेशभूषा के आधुनिक उपकरणों का समझदारी से चुनाव करके प्रसाद तथा आधुनिक दर्शकवर्ग के बीच एक सीधी कड़ी जोड़ी जा सकती है। किंतु फिर भी युगानुरूप वेशभूषा में आधुनिक वेशभूषा की अपेक्षा एक महत्वपूर्ण सुविधा है। युगानुरूपता ऐसा सौंदर्यपरक व्यवधान उत्पन्न करता है जो स्कंदगुप्त जैसे क्लासिक नाटक के रसबोध में बहुत सहायक हो सकता है। किसी पात्र के वस्त्रों की रेखा और उनका कटाव तय करते समय गुप्तयुग की मूर्तिकला पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें पर्याप्त विविधता मौजूद है। जो कपड़ा चुना जाए उसका ताना-बाना रंगमंचीय दृष्टि से प्रभावशाली तथा पात्र की गरिमा को बढ़ानेवाला होना चाहिए। रेशम और साटन इन प्राचीन पात्रों के लिए आवश्यक रूप से उपयुक्त नहीं है।

रंगयोजना का समग्र प्रभाव धूसर रंग में से उभरकर खिलते हुए नारंगी रंग का हो सकता है। अलग-अलग पात्रों को लिए उन रंगों को चुनना बेहतर होगा जो पात्रों द्वारा व्यक्त रस के अनुकूल हों। स्कंदगुप्त के लिए रंग धूसर और नारंगी होंगे, देवसेना के लिए फीका नीला और नांरगी, विजया को लिए धूसर रंग से घिरा हुआ लाल अथवा शायद काला होगा, इत्यादि। प्रत्येक दृश्य के लिए वेशभूषा बदलना आवश्यक नहीं है, चाहे उन दृश्यों के बीच स्थान और समय का कितना ही व्यवधान क्यों न हो। जब सर्वथा आवश्यक हो तब उत्तरीय जैसे किसी गौण उपकरण का परिवर्तन ही पर्याप्त होगा।

दृश्यबंध : आज के औसत भारतीय रंगमंच पर, जिसके पास चक्री मंच नहीं है, प्रसाद के नाटक अभिनेय मानने का एक कारण यह है कि उसमें दृश्यपरिवर्तन बहुत है। इससे दृश्यांकनकार का काम जटिल हो जाता है। साथ ही यह एक ऐसी चुनौती है जो किसी भी संवेदनशील दृश्यांकनकार की कल्पनाशक्ति को जागृत और प्रेरित करेगी और नाटक की मूल वस्तु के प्रति उसकी संवेदनशीलता की परख प्रस्तुत करेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि यथार्थवादी संदूकिया दृश्यबंध बनाने का विचार बिलकुल छोड़ देना चाहिए। इस नाटक को लिखते समय प्रसाद ने नाटकीय स्थलों के जल्दी-जल्दी परिवर्तन के लिए संभवतः लिपटवाँ परदों के ऊपर यथार्थवादी ढंग से चित्रित दृश्यों की कल्पना की होगी। आज पुराने लिपटवाँ परदों का व्यवहार आधुनिक दर्शकवर्ग को बहुत अच्छा न लगेगा। किंतु फिर समस्या उठती है कि नाटकीय कार्यव्यापार के प्रवाह में बाधा डाले बिना इन विभिन्न नाटकीय स्थलों को किस तरह से स्थापित किया जाए? इसका एक उत्तर हो सकता है–विभिन्न धरातलोंवाले 'यूनिट' दृश्यबंध का एक परिवर्तित रूप। इसमें चबूतरों, सीढ़ियों और ढलानों का आकार, रूप तथा उनका लगाने का क्रम ऐसा होना चाहिए जो एकदम कोणीयता का प्रभाव तो पैदा करे, किंतु साथ ही सौंदर्यबोध की दृष्टि से अप्रिय न हो। इस सिद्धांत को आधार बनाकर प्राचीन संस्कृत तथा अर्वाचीन पारसी मंच पर प्रयोग में आनेवाली रूढ़ियों में और भी परिवर्तन सोचे जा सकते हैं। किंतु

वे सब परिवर्तन चुनी हुई शैली से इस तरह समंजित होने चाहिए कि समूचे नाटक का एक संयुक्त प्रभाव पड़े। यदि नाटक का प्रदर्शन किसी एक बंद रंगभवन में होना है जिसमें दृश्यबंध के अलग-अलग खंडों को उठाने-उतारने की व्यवस्था है, तो उसका भी अवश्य ही उपयोग किया जा सकता है। बीच-बीच में आधे या चौथाई आकार के लिपटवाँ परदों का भी प्रयोग किया जा सकता है, जिनके ऊपर मोटी रेखाओं में कुछ अंकित हो अथवा कुछ भी अंकित न हो। इन परदों के उपयोग से दृश्य की रूपरेखा में समृद्धता और विविधता आ सकती है। पर यदि दृश्यखंडों को ऊपर उठाने-उतारने का प्रबंध न हो, तो मंच पर रखे हुए चबूतरों में किसी युक्ति से हल्की बल्लियाँ आसानी से लगाने और हटाने का उपाय करना चाहिए। यह कार्य स्वयं अभिनेता ही अपने नाटकीय कार्य-व्यापार के एक अंग के रूप में कर सकते हैं। सीमित साधनवाली अव्यवसायी नाटक मंडली के लिए यह अच्छा होगा कि वह ऐसे एक या दो प्रतीकात्मक उपकरण खंडों का सहारा ले जो आसानी से, और संभव हो तो स्वयं अभिनेताओं द्वारा, लाए-ले जाए जा सकें। स्थलपरिवर्तनों की तालिका का सावधानी से अध्ययन करने पर ऐसा कोई न कोई उपयुक्त उपकरण खंड अवश्य सूझ सकता है। यह खंड ऐसा होना चाहिए जो उस युग और उस स्थान का वास्तविक सार प्रतीक रूप में प्रस्तुत कर सके।

दृश्यांकनकार का कार्य इस बात से सरल हो जाता है कि इस नाटक में बहुत से दृश्य बाह्य हैं जिनको गगनिका की सहायता से प्रभावशाली बनाया जा सकता है। प्रामाणिक रूप में अंकित मंचीय उपकरण तथा हस्तोपकरण भी नाटकीय स्थलविशेष को स्थापित करने के लिए काम में लाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक का उचित रीति से संपादित रूप भी इस कार्य में सहायक होगा। यद्यपि प्रसाद के नाटकीय संवाद संस्कृत नाटकों की भांति स्थल के शब्दचित्र नहीं प्रस्तुत करते, फिर भी उनकी लेखनशैली में इस बात की बहुत गुंजाइश है कि स्थान का उल्लेख, विशेषकर जहाँ वह पहले से ही मौजूद न हो, किसी पात्र द्वारा किया जा सके।

जहाँ तक अंतरंग दृश्यों का प्रश्न है, उनमें से बहुतों को, नाटक के विशेष अवसर की नाटकीय आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, अर्ध-बाह्य दृश्यों में परिवर्तित किया जा सकता है। पहले तीन अंकों में सबसे महत्वपूर्ण नाटकीय स्थल मालवा या मगध में ही स्थित है। इनका प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण ऐसा उपयुक्त और साहसपूर्ण हो सकता है कि सहज ही उस पर ध्यान जाए। मालवा के विभिन्न भागों में स्थित नाटकीय स्थलों में कोई बुनियादी मालवी प्रतीक मौजूद रहना चाहिए। इसी प्रकार मगध के विभिन्न नाटकीय स्थलों में किसी मगध प्रतीक की उपस्थिति होनी चाहिए। इसमें जहाँ भी आवश्यक हो, कोई विशेष प्रतीक, जैसे छड़ोंदार चौखटा जो जेल को सूचित कर सके, अथवा

राजदरबार को सूचित करनेवाला सिंहासन, इत्यादि भी जोड़ा जा सकता है। किंतु किसी भी हालत में अभिनयक्षेत्र को बहुत सारे उपकरणों से नहीं भरना चाहिए।

प्रकाश योजना : नाटकीय स्थलों की समस्या को सुलझाने में दृश्यांकनकार के प्रयासों को उपलब्ध प्रकाशव्यवस्था संबंधी साधनों के निपुणतापूर्ण उपयोग से बहुत सहायता मिल सकती है। प्रकाशयोजना ऐसी होनी चाहिए जो निरंतर बदलती हुई मनोदशाओं को संप्रेषित करने में सहायक हो। इस नाटक में प्रकाश संबंधी तिकड़मों का प्रयोग करने की बड़ी गुंजाइश है, जैसेः डूबने के दृश्य, रत्नगृह का पता लगाने के दृश्य, इत्यादि में, यदि निर्देशक में सुरुचि और संयम न हो तो, इस बात की बहुत आशंका है कि निर्देशन बहुत ही फूहड़ स्तर पर उतर आए। प्रकाशयोजना ऐसी नहीं होनी चाहिए जो दर्शकवर्ग को नाटक की मूल भावना और उसकी कथावस्तु से हटाकर दूसरी अनावश्यक बातों की ओर बहका ले जाए।

प्रदर्शन के विभिन्न पक्षों को इस प्रकार एक ही चरम लक्ष्य पर संकेंद्रित करना चाहिए। वह है इस नाटक की गरिमा को पुष्ट करना। 'स्कंदगुप्त' में महाकाव्य जैसी गरिमा चाहे न हो, पर वह रोज़मर्रा की ज़िंदगी का ऐसा मामूली कारोबार भी नहीं है जिसे एक साधारण संकुचित ढाँचे में बिठाया जा सके। जो लोग आधुनिक हिंदी रंगमंच के लिए प्रसाद की देन की निहित संभावनाओं में विश्वास करते हैं, उनके लिए उसके प्रदर्शन की शिल्पगत समस्याएँ कोई भारी बाधाएँ नहीं बन सकतीं। प्रसाद के नाटकों की सभी समस्याओं को सुलझाकर उन्हें अत्यंत सफलतापूर्वक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है और उनका अवश्य ही प्रदर्शन होना चाहिए।

स्कंदगुप्त की प्रदर्शनीयता के सामान्य सूत्रों की चर्चा ऊपर की गई। हाल ही में (1968) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों के साथ मैंने उसे कलकत्ता में प्रस्तुत किया। इसलिए यह प्रश्न उठता ही है कि प्रस्तुतीकरण के बाद इस समस्या के बारे में अब मेरी राय क्या है।

जब प्रसाद के नाटकों की प्रदर्शनीयता के बारे में शंका प्रकट की जाती है तो आम तौर पर उसमें मुख्य सवाल यह होता है कि इन नाटकों के एक ही अंक में सैकड़ों मील दूर के स्थानों पर बार-बार बदलते हुए दृश्यस्थलों को कैसे दिखाया जाएगा। स्थान और काल की अन्वितियों के बारे में प्रसाद की उदासीनता पर अगर यथार्थवादी प्रस्तुति की दृष्टि से विचार करें तो प्रस्तोता का काम बहुत ही कठिन हो जाता है। 'स्कंदगुप्त' में दृश्यस्थलों के परिवर्तन का नाटक की विषयवस्तु के साथ गहरा संबंध है, पर उसकी यथार्थवादी प्रस्तुति आवश्यक नहीं है। कलकत्ता में अपनी प्रस्तुति के अनुभव से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि दृश्यस्थलों और विषयवस्तु के संबंध के महत्व को भलीभाँति उभारने लिए

इस नाटक को खाली मंच पर, किसी रूपवादी प्रतीकवादी दृश्यबंध के भी बिना, करना चाहिए।

किंतु फिर भी यदि प्रसाद को आधुनिक दर्शकवर्ग के और भी समीप लाना है तो उनके नाटकों में मौजूद कुछ अन्य समस्याओं को समझ के साथ सुलझाना बहुत ज़रूरी है। ये समस्याएँ कई प्रकार की हैं। एक, दर्शकवर्ग 'स्कंदगुप्त' की मूल कथावस्तु को आसानी से नहीं समझ पाता। कार्यव्यापार की गति सहज नहीं है। बहुत सी बातें जिन्हें प्रसाद मानकर ही चलते हैं, आज के हर दर्शक की समझ में ही नहीं आतीं। उदाहरण के लिए, सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए जो संघर्ष हुआ, उसका मूल कारण यह था कि पिता की मृत्यु के बाद सबसे बड़े लड़के को ही सिंहासन मिलने का निश्चित नियम या परंपरा गुप्त साम्राज्य में नहीं थी। प्रसाद इस बात का संकेत नाटक के प्रारंभ में एक वाक्य में बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक करते हैं। यह संवाद नाटक के एकदम प्रारंभ में होता है, जब तक दर्शक ठीक से अपने स्थानों में व्यवस्थित भी नहीं होते। और इस बात की पूरी संभावना रहती है कि वे इस महत्वपूर्ण वाक्य को ठीक से सुन भी न पाएँ। इसका नतीजा यह होता है कि बाद में जो घटित होता है उसे समझना और उसकी सार्थकता पहचानना कठिन हो जाता है।

दूसरे, इस नाटक में प्रसाद ने जो बहुत सारे चरित्र रचे हैं उनकी उपस्थिति की नाटकीय सार्थकता सदा अनिवार्य नहीं लगती। इनमें से प्रायः प्रत्येक चरित्र का अंकन बहुत अच्छा है, पर उनके भावों और आवेगों का नाटकीय कार्यव्यापार को सघन या गहरा करने में योग कम होता है, बल्कि अकसर उनकी उपस्थिति से कार्यव्यापार में रुकावट पड़ने लगती है, या अनावश्यक शिथिलता आने लगती है। गोविंदगुप्त, धातुसेन, रामा आदि चरित्र ऐसे ही हैं; वे अपने आपमें आकर्षक अवश्य हैं, पर मुख्य कथावस्तु के साथ उनका संबंध बहुत क्षीण है।

तीसरे, प्रसाद की अभिव्यंजनापूर्ण भाषा, अपनी सारी सुंदरता के बावजूद, उस औसत दर्शक की समझ में आसानी से नहीं आती जो इन नाटकों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी अकसर अपरिचित होता है। उनके बहुत से ऐतिहासिक और पौराणिक संकेत आधुनिक दर्शकों के मन में वे संदर्भ नहीं जगा पाते जो नाटककार चाहता था।

मगर क्या प्रसाद के नाटकों की ये विशेषताएँ उन्हें मंच के अनुपयुक्त बना देती हैं? मेरे विचार से ऐसा नहीं है, यद्यपि मैं यह अवश्य सोचती हूँ कि आधुनिक दर्शकों के लिए नाटकों के संबंध-सूत्रों को अधिक स्पष्ट करना, या जहाँ ये नाटकों में नहीं हैं वहाँ नए सूत्र जोड़ देना, ज़रूरी है। विघटित होते हुए गुप्त साम्राज्य की उलझी हुई परिस्थितियों में स्कंदगुप्त के महत्वपूर्ण स्थान को और भी स्पष्ट करने की ज़रूरत है, मुख्य चरित्रों के

पारस्परिक संबंधों को और भी निश्चित बनाने की ज़रूरत है। इसी प्रकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी और स्पष्ट होनी चाहिए, वज्रयानी बौद्धों और कटु धर्मांध हिंदुओं के संघर्ष और उनके स्वस्थतर मूल तत्वों के समन्वय को और भी उभारना ज़रूरी है। यह भी आवश्यक है कि कहानी की मूल रूपरेखा दर्शक की समझ में स्पष्ट आ जाए। इसके लिए नाट्य रूपांतर में और भी संशोधन तथा अर्थोपक्षेपकों की सूत्र जोड़नेवाली युक्तियों का सहारा लेना आवश्यक है।

इस नाटक के लिए मंडली में, विशेषकर स्कंदगुप्त की भूमिका करनेवाले अभिनेता में, ऊँचे दर्जे की अभिनयक्षमता भी बहुत आवश्यक है। जाहिर है कि ये सब कठिनाइयाँ ऐसी नही हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता। आवश्यक विश्वास, संकल्प और समुचित साधन हों तो इन सभी कठिनाइयों को दूर करके इस नाटक का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया जा सकता है–केवल कुछ चुने हुए समझदार दर्शकों के सामने ही नहीं, बल्कि आम दर्शकों के लिए भी।

प्रसाद के नाटकों की भाषा भले ही आज के अधिकांश दर्शकों के लिए पूरी तरह सुगम न हो, पर ये नाटक जिस जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करते हैं, वह हमारी मौजूदा पीढ़ी के मन और सौंदर्याबोध का संस्कार करने के लिए बहुत ही गहरे महत्व की है। उसका समकालीन महत्व भी बहुत है, हमारे आज के धर्मसंकट के संदर्भ में उसमें बड़ी सार्थक प्रासंगिकता है। दूर-दूर तक फैले हुए गुप्त साम्राज्य को विघटित करनेवाली शक्तियों और हमारी आज की परिस्थितियों के बीच, एक गहरे तल पर, बड़ी विचित्र समानता है। आज हमें भी किसी ऐसे आधुनिक स्कंदगुप्त की ही तलाश है जो प्रकट होकर अपने महान् स्वार्थत्याग के द्वारा इस देश की एकता की रक्षा कर सके और उसे सुदृढ़ बना सके। स्कंदगुप्त भी चाहता तो अपने युग का तटस्थ दर्शक मात्र बना रहता। पर उसने यह नहीं किया। राजसत्ता के प्रति अपनी उदासीनता के बावजूद, वह अपने युग के संघर्ष में खिंच आने को बाध्य हुआ। गहरे आत्मंथन की प्रक्रिया में से गुजरता हुआ वह अधिकार और सत्ता के उस चरम शिखर पर पहुँचा जहाँ से वह अपने युग के भारत में एकता और स्थिरता के लिए प्रयत्नशील शक्तियों का आह्वान और संगठन कर सका। पर उसकी कर्त्तव्यभावना और समर्पित कर्मशील जिंदगी ने उसे एकदम अकेला कर दिया। उसमें मन की कोमलतम भावनाओं को गहराई से अनुभव करने की क्षमता थी और वह कवि का-सा जीवन बिताना ही पसंद करता। पर फिर भी उसने अपने देशवासियों का व्यावहारिक नेता बनना तय किया और इसका मूल्य बहुत ही सीमित वैयक्तिक जीवन स्वीकार करके चुकाया। अपनी राजनीतिक और नैतिक सफलताओं के लिए उसे अपने निजी जीवन के संतोष और सुख की बलि देनी पड़ी। यह निर्णय उसके लिए सुखद न था, पर उसने परिस्थितियों की चुनौती स्वीकार करके इसे सहर्ष अपनाया और दृढ़तापूर्वक उसका

पालन किया। स्कंदगुप्त की यह कहानी आज की पीढ़ी को बार-बार सुनाने-दिखाने की ज़रूरत है।

कलकत्ता में प्रदर्शन के अनुभव से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि यदि ज़रूरी समुचित साधन, अभिनयप्रतिभा, और पर्याप्त समय सुलभ हो तो यह नाटक मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है और ज़रूर किया जाना चाहिए। उसकी तैयारी में विभिन्न स्तरों पर जो समस्याएँ आती हैं, और आना अनिवार्य है, उन्हें सुलझाने के लिए प्रयोग कर सकने का वक्त बहुत आवश्यक है। तभी इस प्रदर्शन को आधुनिक दर्शक के लिए सार्थक नाटकीय अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, और यह निस्संदेह करने योग्य काम है। इसके लिए समय की कंजूसी करना ठीक नहीं। आख़िर ब्रैश्ट भी अपने बड़े और महत्वपूर्ण नाटकों की तैयारी के लिए , कभी-भी एक या दो साल तक लगाता था। हिंदी रंगमंच के लिए 'स्कंदगुप्त' निश्चित रूप से बड़ा और महत्वपूर्ण नाटक है। उसे प्रस्तुत करने के लिए न तो चार सप्ताह का समय काफी है न सीमित अभिनयक्षमता। आशा करनी चाहिए कि कभी न कभी यह अवश्य संभव हो सकेगा।

5. अधूरेपन की त्रासदी

नेमिचन्द्र जैन

मोहन राकेश के नये नाटक **आधे-अधूरे** के प्रकाशन पर समीक्षकों, दर्शकों और पाठकों की प्रतिक्रियाएँ कुछ इस तरह दो छोरों पर हुईं कि उसका सही मूल्यांकन जितना ज़रूरी था, शायद उतना ही कठिन हो गया। जहाँ किसी को उससे ब्रेश्ट, स्ट्रिंडवर्ग, इब्सन, ओनील, आर्थर मिलर सब एक साथ या एक-दो करके याद आये, वहाँ किसी और को वह व्यावसायिक अपील को क्रान्तिकारी लिबास में छिपाता हुआ, सतही और भीतर से खाली जान पड़ा। बुनियादी तौर पर यह फ़र्क़ रंगमंच के और सामान्यतः अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों के विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में संवेदनशीलता के अलग-अलग स्तरों का फ़र्क़ है। हमारे देश के रंगमंच पर अभी तक कलात्मक अभिव्यक्ति के मानक आमतौर पर बहुत पिछड़े हुए और हलके हैं। साथ ही नाटकों की इतनी कमी है कि मामूली तौर पर सफल नाटक भी बड़ी उपलब्धि-जैसा लग सकता है।

दरअसल, कलाकृति के रूप में **आधे-अधूरे** को जाँचने से पहले यह समझ लेना ज़रूरी है कि यह निस्सन्देह रंगमंच पर प्रस्तुत करने योग्य, सार्थक और समकालीन संवेदना के समीप नाटक है। हिंदी के ही अब तक के अधिकांश महत्वपूर्ण नाटकों से भिन्न, **आधे-अधूरे** आज के इंसानों की ज़िंदगी को किसी कदर आज के ही मुहावरे में पेश करता है। खास कर उसमें नाटक की सही भाषा की गहरी तलाश है। इस दृष्टि से वह निश्चित ही हिंदी नाटक को एक क़दम आगे ले जाता है।

यह नाटक आज के एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार के टूटने की प्रक्रिया के एक रूप को पेश करता है जिसमें पुरुष महेन्द्रनाथ बहुत दिन पहले व्यापार में सारी पूँजी गँवाकर अब बेकार है। पत्नी सावित्री नौकरी करके घर चलाती है। कई तरह की परिस्थितियों और अपने-अपने स्वभाव के कारण अब दोनों एक-दूसरे से बेज़ार हैं, नफ़रत करते हैं, मगर फिर भी किसी के लिए कोई और रास्ता नहीं है, दोनों साथ रहने को मज़बूर हैं। सावित्री को महेन्द्रनाथ सदा से दब्बू, व्यक्तित्वहीन, पर-निर्भर लगा है, आधा-अधूरा आदमी। सावित्री अपने लिए पूरा आदमी चाहती है। इसलिए उससे कटती जाती है, और लगातार

किसी पूरे आदमी की तलाश करती रहती है जो उसे कहीं नहीं मिलता। उधर महेन्द्रनाथ को शायद लगता है कि वह ज़बरदस्ती उस पर हावी होने की कोशिश करती है और उसे अपनी ज़िंदगी नहीं जीने देती और हमेशा अपमानित करती है। वह भी बार-बार उससे भागने की कोशिश करता है, मगर उस पर इतना निर्भर है कि हर बार लौट आता है।

इस प्रकार दोनों को किसी भिन्न व्यक्ति की तलाश है। दोनों अपने में आधे-से हैं, अधरे हैं, पर दूसरा उस अधूरेपन को कम नहीं करता, बल्कि उसके अहसास को और भी तीव्र कर देता है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि दोनों एक-दूसरे को छोड़कर जा नहीं सकते–इतने अधूरे हैं, इतने पंगु हैं। हर मंगल-शनीचर की भाँति इस बार भी महेंद्रनाथ अगले दिन शाम तक लौट आता है। सावित्री भी जगमोहन के साथ घर छोड़ने के प्रयास में असफल होकर वहीं लौटती है। दोनों इसी प्रकार एक साथ रहने को बाध्य हैं – शायद दुर्बलता के कारण, शायद आदत के कारण, शायद परिस्थितियों के कारण।

पति-पत्नी के बीच इस असामंजस्य और कलह का असर बच्चों पर भी भरपूर है। बड़ी बेटी बीना ने माँ के ही एक प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लिया, पर फिर भी दुखी और संत्रस्त है। बेटा अशोक पिता की भाँति बेकार है, उसका किसी नौकरी में मन नहीं लगता, और मनपसंद कोई काम मिलता नहीं। छोटी बेटी किन्नी इस वातावरण में सहज ही बिगड़कर ज़िद्दी, चिड़चिड़ी और विद्रोही हो गयी है। बिन्नी के इसी घर में लौट आने और अशोक की बेकारी में जैसे सावित्री और महेन्द्रनाथ की ज़िन्दगियों की ही पुनरावृत्ति है, वैसे ही तनावभरी, असंगत और व्यर्थतापूर्ण स्थितियों की नयी शुरुआतें।

यह स्थिति अपने आप में त्रासद भी है और करुण भी। अवश्य ही आज के पारिवारिक या स्त्री-पुरुष संबंधों की इससे कोई नयी, गहरी या सूक्ष्म पहचान नहीं मिलती, पर उसके सारे सतहीपन के बावजूद उसमें सच्चाई का एक स्तर मौजूद है। और हिंदी नाटक के लिए समकालीन सच्चाई की इतनी और ऐसी तलाश भी नयी है। इसी से जहाँ सृजनात्मक चेतना के स्तर और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत सामान्य, बल्कि घिसी-पिटी, होने पर भी इसकी विषयवस्तु नयी भी लगती है और मन को कहीं-न-कहीं छूती और प्रभावित भी करती है। बहुत सार्थक और महत्वपूर्ण सृजनात्मक कृति न होने पर भी **आधे-अधूरे** एक उल्लेखनीय नाटक है, इस बात को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। **आधे-अधूरे** कोई बड़ा, गहरा या विक्षोभकारी सृजनात्मक अनुभव नहीं प्रस्तुत करता, फिर भी उसमें एक आम हिन्दी नाटक से भिन्न और अपेक्षाकृत सार्थक नाटकीय अनुभव अवश्य है और यह उसकी स्पष्ट सफलता है।

मगर साथ ही यह नाटक इससे अधिक आगे नहीं जाता। 'उसमें महेन्द्रनाथ-सावित्री को जिस रूप में मूर्त किया गया है, उसमें उनके संबंध और टकराहट की कोई गहरी स्थिति

स्पष्ट नहीं। वह केवल दो व्यक्तियों के बीच ग़लतफ़हमी और झगड़े को, या अधिक-से-अधिक उनकी टकराहट की अनिवार्यता को ही पेश कर पाता है, उसे किसी बुनियादी इन्सानी संकट, पारस्परिक सम्प्रेषण असम्भव होने की स्थिति, अथवा किसी अन्य व्यापक कारण के साथ नहीं जोड़ पाता, दो इन्सानों या स्त्री या पुरुष मात्र के बीच उठने वाले सवालों की तह तक नहीं पहुँचता। उसमें न संबंधों की सार्विकता स्थापित होती है न किसी मानवीय स्थिति की अनिवार्यता ही उभरती है। नाटक का पूरा अनुभव-क्षेत्र बहुत ही छोटा, संकुचित और विशेष व्यक्तियों में सीमित है।

यहाँ प्रसंगवश कुछ दिलचस्प बातें राकेश के नाटक-जगत के बारे में कही जा सकती हैं। उनके तीनों नाटकों की विषयवस्तु पुरुष पात्र से जुड़ी है, पर हर नाटक का केन्द्रीय चरित्र स्त्री बन जाती है। चाहे वे कालिदास-मल्लिका हों, नन्द-सुन्दरी हों, चाहे सावित्री-महेन्द्रनाथ। तीनों नाटकों में ग़लती पर स्त्री ही होती है, पुरुष उसे छोड़कर चले जाने के लिए मज़बूर दिखाई पड़ता है। **आषाढ़ का एक दिन** में कालिदास और **लहरों के राजहंस** में नन्द एक बार वापस लौटकर दोबारा जाते हैं। **आधे-अधूरे** में महेन्द्रनाथ लौटता तो है, पर फिर जाता नहीं, वहीं रहने को मज़बूर है। न जाने क्यों, राकेश अपने नाटकों में स्त्री-पुरुषों के बीच चरम साक्षात्कार कराने से कतराते हैं। उनके सभी पुरुष पात्र स्त्री से खीझकर, निराश होकर या अन्य किसी कारण से खिसक जानेवाले भगोड़े हैं। वे अपने संबंधों की नियति का सामना करने से बचते हैं। ऐसा लगता है कि एक ही अनुभव छोटे-मोटे परिवर्तन के साथ बार-बार दोहराया जा रहा है। उसमें ताज़गी या आयाम अथवा स्तर की नवीनता बहुत कम है। सावित्री के महेन्द्रनाथ और जुनेजा के साथ बहुत-से संवादों में **लहरों के राजहंस** के नये रूप में नन्द-सुन्दरी के बीच अन्तिम संवादों की बहुत ज़्यादा अनुगूँज है।

नाटक एक प्रकार की प्रस्तावना से शुरू होता है जिसमें एक 'काले सूट वाला आदमी' आता है जो कि पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन तथा पुरुष चार की भूमिकाओं में भी है। हर भूमिका में पात्र के अनुसार उसके वेश का कुछ अंश बदल जाता है, बाक़ी वही रहता है। यानी कि जैसा सावित्री अन्त में कहती है –'बिलकुल एक-से हैं आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही है।' पता नहीं राकेश ने इस युक्ति का सहारा क्यों लिया है? नाटक में नवीनता पैदा करने के लिए? नाटक को एक व्यापक दार्शनिक सार्थकता देने के लिए? इन कुछ व्यक्तियों के अनुभव को हर आदमी का अनुभव सिद्ध करने के लिए? मुझे तो काले सूटवाला आदमी एकदम निरर्थक, अनावश्यक बल्कि खिझानेवाला आडम्बर या तिकड़म-जैसा ही लगा। क्योंकि वह जो बातें कहता है वे नाटक में प्रस्तुत अनुभव से कहीं चरितार्थ नहीं होतीं, उनकी नाटक की मूल भावधारा के साथ कोई संगति नहीं। यह बात सही नहीं लगती कि नाटक में एक ही आदमी से हमारी

भेंट कई बार होती है। पुरुष एक, दो, तीन और चार एक ही व्यक्ति के खंडित या विभाजित रूप नहीं है, वे चार निश्चित अलग-अलग व्यक्ति हैं, और उनकी भूमिकाएँ अगर अलग रहें तो नाटक की संवेदना में, उसकी बात के सम्प्रेषण में, रत्ती भर फ़र्क़ नहीं आता। बल्कि यह आरोप उस बात के सम्प्रेषण में बाधा डालता है, उनकी सच्चाई से हमारा ध्यान हटाता है। इनमें से कोई भी व्यक्ति सावित्री के साथ होता तो उसकी और उन दोनों की ज़िन्दगी भिन्न प्रकार की होती। महेन्द्रनाथ के सिवाय अन्य किसी अनिश्चित आदमी से हमारी मुलाक़ात नही होती। बाक़ी सबके अपने निश्चित व्यक्तित्व हैं, सड़क पर टकराने वाले आदमी की तरह व्यक्तित्वहीन नहीं। स्वयं नाटक भी अनिश्चित नहीं है, वह एक निश्चित बात कहता है, निश्चित रूप लेता है। नाटक में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं आता–शायद महेन्द्रनाथ को छोड़कर–जिसने 'मैं कौन हूँ? ' सवाल का कभी सामना किया हो और अब छोड़ दिया हो। इसी प्रकार इस नाटक से ज़ाहिर नहीं होता कि 'आप में और उसमें, उसमें और उस दूसरे में, उस दूसरे में और मुझमें...।' वही समानता है। यह भी सही नहीं है कि 'परिस्थितियाँ बदल जातीं तो भी मैं वही रहता।' यह सिद्धांत अपने आप में एक निहायत रूमानी क़िस्म के समाजशास्त्र पर आधारित आधा या चौथाई सत्य होने के अलावा इस नाटक की परिस्थितियों में फ़िट नहीं बैठता। यदि इस विशेष मध्यवर्गीय परिवार की केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही भिन्न होतीं तो नाटक में उस 'सत्रांस' का, या कि जिसे नाटककार ने 'हवा' कहा है उसका, बहुत मामूली-सा ही असर रह जाता। यह नाटक सिर्फ़ इन्हीं पात्रों का, इन्हीं परिस्थितियों का है, उसमें इस कारण एक प्रकार की सचाई भी है, पर उसके अर्थ को फैलाते ही वह सीमित सचाई भी झूठी पड़ने लगती है।

इसी प्रकार एक ही अभिनेता के पाँच भूमिकाएँ करने पर आग्रह में चाहे जितनी चौंकानेवाली नवीनता हो, यह कोई बहुत अच्छी रंगमंचीय युक्ति नहीं। उसका ठीक-ठीक व्यवहार अगर असंभव नहीं तो बहुत ही कठिन अवश्य है। हिंदी क्या, देश भर में ऐसे अभिनेता कहाँ मिलेंगे जो पूरे अभिनय को कृत्रिम, सतही और झूठा बनाये बिना पाँच भूमिकाएँ कर सकें? उससे कुछ भी हाथ नहीं लगता, उल्टे नाटक के सहज और उचित विकास और बुनावट में बाधा पड़ती है। शायद उसके कारण भी सावित्री का महेन्द्रनाथ से आमना-सामना सीधे न होकर जुनेजा के माध्यम से होता है जो एक अनुभव के प्रत्यक्ष और सीधे रूपायन की बजाय सूचना-उद्‌घाटन के रूप में सामने आता है। चरमबिन्दु पर उद्‌घाटन की यह प्रक्रिया नाटक की गति को सीधी और सपाट कर देती है। इसी युक्ति के कारण अन्त भी बेहद बनावटी और हास्यास्पद हो जाता है–जब जुनेजा 'संभलकर महेन्द्रनाथ संभलकर' कहता हुआ बाहर जाता है और कुछ ही पल बाद महेन्द्रनाथ बनकर लौटता है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाटक के हर प्रदर्शन में इस स्थल पर दर्शक में करुणा

के बजाय हँसी उभरती है। युक्ति के इस आडम्बर के कारण नाटक में सीधे-सहज अनुभव की सच्ची और प्रभावी तस्वीर भी कुछ धुँधली होने लगती है।

तरह-तरह की रंग-युक्तियों के द्वारा निर्देशक और अभिनेता का काम अपने हाथ में लेने की प्रवृत्ति इस नाटक में बहुत ही ज़्यादा है। अभिनेता की हर गति और रंगचर्या को नाटककार ने निर्धारित कर देना चाहा है। इस प्रक्रिया में नाटक में बहुत-सी घिसी-पिटी रंगचर्याओं का सहारा लिया जाता है : जैसे, महेन्द्रनाथ का फ़ाइलें झाड़ना, अशोक का कैंची से कागज़ काटते रहना, सावित्री का तुतलाकर बोलना, बिन्नी द्वारा डिब्बा नहीं खुल पाना, अशोक का पैंट में कीड़ा घुसने का नाटक करना, किन्नी का कुंडी बन्द कर लेना, आदि। यह घिसा-पिटापन बहुत-सी नाटकीय युक्तियों में भी है, जैसे, अशोक के कार्टून में सावित्री को महेन्द्रनाथ की शक्ल नज़र आना, मोटर की बैटरी बिगड़ जाना, आदि-आदि।

आधे-अधूरे के चरित्रों की परिकल्पना में बहुत सूक्ष्मता या सफ़ाई या सृजनात्मक कल्पनाशीलता कम है और संग्रह-वृत्ति बहुत लगती है। स्वभाव और व्यवहार की कई प्रकार की विशेषताएँ एक ही चरित्र में एक साथ इकट्ठी कर दी गयी हैं जो अलग-अलग दिलचस्प होकर भी रचना की दृष्टि से एक दूसरे को काटती और तोड़ती है। महेन्द्रनाथ दब्बू और पर-निर्भर है, व्यक्तित्वहीन-सा इन्सान है, जो दरिन्दा बन जाता है और उसकी इस दरिन्दगी को सावित्री-जैसी स्त्री बाईस वर्ष तक बर्दाश्त करती रहती है। सिंहानिया में इतने सारे व्यक्तियों का असंगत मेल है कि वह कैरीकेचर बन गया है। जुनेजा के बारे में शुरू से एक प्रकार के स्वार्थी दुष्ट व्यक्ति का प्रभाव बनाया गया है, पर अंततः वह इतना समझदार साबित होता है कि सहानुभूति महेन्द्रनाथ के साथ होने लगती है। सावित्री के व्यक्तित्व में बेहद इकहरापन है, शुरू से आख़िर तक सिर्फ़ चिड़चिड़ेपन के सिवाय और कोई रूप उसका नहीं उभरता। यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि इतने सारे पुरुषों के साथ उसके संबंध किस तरह के हैं? शरीर के भी? महेन्द्रनाथ के साथ उसकी टकराहट का क्या यह भी एक कारण है? यह संकेत मान लिया जाय तो नाटक का अर्थ ही बदलने लगता है। पर लेखक ने इस मामले में बड़ी असावधानी बरती है।

इस तरह की ब्यौरे की बहुत-सी बातें नाटक के कथ्य और शिल्प की कमज़ोरी और अस्पष्टता के बारे में कही जा सकती है। **आधे-अधूरे** का महत्व यह है कि वह आज के यथार्थ को सीधे पेश करता है, अतीत की किसी कथा के माध्यम से नहीं। पर सृजनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से वह **आषाढ़ का एक दिन** से पीछे ही रह जाता है। यही कारण है कि जहां उससे हिन्दी रंगमंच के लिए उपलब्ध प्रभावी और सुगठित नाटकों में एक स्वागतयोग्य वृद्धि हुई है, वहीं सृजनात्मक साहित्य के स्तर पर उसके बारे में बहुत अधिक उत्साहित हो सकना कठिन है।

6. राकेश के नाटक : कुछ अंतस्सूत्र
जगदीश शर्मा

मोहन राकेश का कहना है कि उनका नाट्य लेखन हिंदी रंगमंच की तलाश के रूप में आरंभ हुआ था। हिंदी के अपने रंगमंच की यह खोज हिंदीभाषी प्रदेश की अपनी संस्कृति के प्रश्न से जुड़ी थी। 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में इस संबंध में उन्होंने लिखा हैः 'हिंदी रंगमंच को हिंदीभाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन में राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूप नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा।' 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में इसी बात पर जोर देते हुए उन्होंने फिर लिखा : 'दिल्ली के तथाकथित 'हिंदी-रंगमंच' (वस्तुतः अंग्रेज़ी-पंजाबी रंगमंच) की अपेक्षाओं की पूर्ति इससे न हो, तो मैं अपने को दोषी नहीं मानूंगा। ऐसे किसी रहस्य का बीज इस नाटक में नहीं है जो तीसरे अंक के अंत में जाकर खुलता हो।'

'लहरों के राजहंस' में तो सचमुच ऐसा नहीं हुआ है, लेकिन राकेश के अन्य दो नाटकों के संबंध में यह दावा नहीं किया जा सकता। 'आषाढ़ का एक दिन' और '**आधे-अधूरे**' दोनों में घटनात्मक रहस्य न सही, मनोवैज्ञानिक रहस्य अवश्य गर्भित है, जो तीसरे अंक के अंत में ही खुलता है। फिर भी, यह सही है कि इस रहस्य का उपयोग कौतूहल और सनसनी के लिए नहीं किया गया है, उसे नाटक के कथानक के भीतर सहज रूप से खपा दिया गया है। हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्ति इन नाटकों में किस प्रकार की गई है, यह स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य है कि पहले दो नाटकों में हमारे सांस्कृतिक अतीत की झलक मिलती है। 'आषाढ़ का एक दिन' की मंचसज्जा तथा प्रकृति और मानवसंबंधों के प्रति भावुक दृष्टिकोण में और 'लहरों के राजहंस' में मंचसज्जा के साथ वैराग्य और भोगवाद के द्वंद्व में भारत की अतीतकालीन संस्कृति का प्रभावशाली अंकन उपलब्ध है, लेकिन '**आधे-अधूरे**' मे परिवार संस्था के विघटन में सांस्कृतिक पूर्ति की खोज एक कठिन कार्य है। पहले दो नाटकों में सांस्कृतिक अतीत के चित्रण में पश्चिम की अस्तित्ववादी जीवनदृष्टि भी अंतर्व्याप्त है, जो '**आधे-अधूरे**' में खुल कर सामने आई है।

मोहन राकेश ने जब 'सांस्कृतिक पूर्ति' की बात सोचते हुए नाटक रचना आरंभ की थी, उस समय उनके सामने संभवतः प्रसाद के नाटकों का आदर्श था। दूसरी ओर उनके सामने यथार्थवादी रंगमंच था। उनके पहले दो नाटकों में प्रसाद के नाटकों की अतीत-कालीन सांस्कृतिक भव्यता और यथार्थवादी रंगमंच के समन्वय की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। लेकिन उन्होंने प्रसाद के नाटकों से सांस्कृतिक अतीत को चित्रित करने की प्रेरणा जिस मात्रा में ली, उससे कहीं अधिक मात्रा में रूमानी भावबोध की परंपरा ग्रहण की। पहले दो नाटकों में तो यह स्पष्ट ही है, तीसरे नाटक में भी आधुनिकता और यथार्थपरक दृष्टिकोण के बावजूद रूमानी स्वर अव्यक्त नहीं हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रकृति और प्राणिजगत के साथ तादात्म्य तथा भौतिक सुख-सुविधा और महत्वाकांक्षा को त्यागकर भावना में जीवित रहने की प्रेरणा में स्पष्टतः छायावादी स्वर सुनाई देता है। 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी का भोगवाद रूमानियत से आवृत है और बलात मुंडन कर दिए जाने पर नंद की भावुकता का विस्फोट भी रूमानी है। '**आधे-अधूरे**' के आरंभ में जिस सामाजिक यथार्थ के धरातल पर परिवार की आधुनिकता से उत्पन्न हुए प्रश्नों को उतारा गया है, अंत में उसकी परिणति ऊब, अतृप्ति और कुंठा के भावात्मक अंकन में हो जाने से उसमें भी रूमानियत मुखर हो उठी है। यह सही है कि '**आधे-अधूरे**' राकेश का सबसे अधिक गद्यात्मक और वस्तुपरक नाटक है, लेकिन अंत में भावुकतापूर्ण जीवनदृष्टि का उन्मेष अत्यंत तीव्र होने से वह रूमानियत से मुक्त नहीं रह सका है।

फिर भी, मोहन राकेश ने हिंदी नाटक को जो नया मोड़ दिया है, वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने नाटकों में परंपरागत वस्तुविन्यास का परित्याग कर, घटनाक्रम के स्थान पर स्थितिसर्जन के सहारे कथानक को गति प्रदान की। सहजता के भीतर दंशपूर्ण संवादों की सृष्टि की और संवेदनाघातों के मध्य बौद्धिक सप्रश्नता का प्रकाश बिखेरा, लेकिन जो सबसे बड़ा कार्य किया वह यह कि हिंदी नाटक की साहित्यिकता को पूरी तरह प्रबुद्ध एवं समृद्ध मंच चेतना में ढाल दिया।

राकेश की मंच चेतना 'परदों' से 'प्रकाश' की ओर बढ़ी है। 'आषाढ़ का एक दिन' परदा उठने के रंगनिर्देश के साथ आरंभ होता है। प्रथम अंक के अंत में परदा गिरने या बदलने अथवा प्रकाश लुप्त होने का कोई निर्देश नहीं है। द्वितीय अंक के आरंभ में भी इस संबंध में कोई निर्देश नहीं है कि दो अंकों के मध्य अंतराल की व्यवस्था के लिए इस नाटक में राकेश के ध्यान में परदों की व्यवस्था थी या प्रकाश की। तृतीय अंक के आरंभ में दिए गए रंगनिर्देश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह नाटक लिखते समय अंकपरिवर्तन के लिए भी राकेश के मन में परदे के उपयोग की ही कल्पना थी। निर्देश दिया गया है : 'परदा उठने पर वही प्रकोष्ठ'। 'लहरों के राजहंस' की रचना भी परदे वाले रंगमंच को ध्यान मे रखकर की गई है, लेकिन अंकपरिवर्तन के लिए प्रकाशव्यवस्था का उपयोग

करने का निर्देश दिया गया है। नाटक का आरंभ परदा उठने से ही होता है। लेकिन सभी अंकों का अंत और द्वितीय अंक का आरंभ भी प्रकाशव्यवस्था द्वारा होता है। नाटक के अंत में समापन के लिए प्रकाशव्यवस्था और ध्वनिव्यवस्था का सम्मिलित उपयोग किया गया है। नाटक के अंत से कुछ पहले ही 'प्रकाश धीमा होने लगता है और उसके साथ-साथ नेपथ्य में श्यामांग के शब्द सुनाई देते हैं !... इस बीच सुंदरी की छायाकृति चेहरे से हाथ हटाती है', और अंत में 'नेपथ्य का स्वर और मंच की आकृति दोनों साथ-साथ विलीन हो जाते हैं।' इस प्रकार नाटक के आरंभ में जो परदा उठाया गया था, उसे बिना गिराए ही प्रकाश और ध्वनि के सहारे नाटक समाप्त कर दिया गया है। अपने अगले और अंतिम नाटक '**आधे-अधूरे**' में नाटक का आरंभ उन्होंने परदे और प्रकाश व्यवस्था के सम्मिलित उपयोग से किया है : 'परदा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टेबिल पर छोड़ा गया अधटूटा टी सेट आलोकित होता है। फिर फटी किताबें और टूटी कुर्सियों आदि में से एक एक। कुछ सेकंड बाद प्रकाश सोफे के उस भाग पर केंद्रित हो जाता है जहाँ बैठा काले सूट वाला आदमी सिगार के कश खींच रहा है। उसके सामने रहते प्रकाश उसी तक सीमित रहता है, पर बीच में कभी यह कोना और कभी वह कोना साथ आलोकित हो उठता है।' काले सूट वाले द्वारा बांधी गई भूमिका के बाद नाटक का मुख्य भाग आरंभ होने पर फिर प्रकाश व्यवस्था का ही उपयोग किया गया है। काले सूट वाला 'हल्के अभिवादन के रूप में सर हिलाता है जिसके साथ ही उसकी आकृति धीरे-धीरे धुंधलाकर अंधेरे में गुम हो जाती है। इसके बाद कमरे के अलग-अलग कोने एक एक करके आलोकित होते हैं और एक आलोकव्यवस्था में मिल जाते हैं।' पहले अंक का अंत 'लहरों के राजहंस' के समापन के समान प्रकाश और ध्वनि के सम्मिलित प्रभाव द्वारा किया गया है : 'एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत।... प्रकाश आकृतियों पर धुंधलाकर कमरे के अलग अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है। मंच पर पूरा अंधेरा होने के साथ संगीत भी रुक जाता है।' द्वितीय अंक के आरंभ में फिर प्रकाश का नाटकीय उपयोग किया गया है : 'दो अलग अलग प्रकाशवृत्तों में लड़का और बड़ी लड़की...प्रकाश पूरा होने पर कमरे में वह बिखराव नज़र आता है, जो एक दिन ठीक से देख-रेख न होने से आ सकता है।' नाटक का अंत प्रकाश और ध्वनि के उपयोग के संबंध में राकेश की बढ़ती हुई समझ और सूझ का परिचय देता है : 'प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक ही सीमित हो जाता है।...हल्का मातमी संगीत उभरता है जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है। तभी लगभग अंधेरे में लड़के की बांह थामे पुरुष एक की धुंधली आकृति अंदर आती दिखाई देती है।...उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है।'

पहले नाटक में परदा ही अंको के उदय और अस्त का साधन था; दूसरे नाटक में परदा नाटक आरंभ होने से पहले रंगस्थल को प्रेक्षागृह से अलग करने का ही–नाटक आरंभ होने से पूर्व सेट को दर्शकमंडली की दृष्टि से ओझल रखने का ही–साधन रह गया। एक बार सेट सामने आ जाने पर परदे का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई, क्योंकि नाटक के आरंभ से अंत तक सेट वही रहता है। अंक केवल समय का अंतराल सूचित करते हैं। दो अंकों के बीच के इस व्यवधान के लिए दूसरे नाटक में प्रकाशव्यवस्था का उपयोग किया गया है, लेकिन इसमें प्रयुक्त प्रकाशव्यवस्था बहुत सादी है। प्रायः मंद पड़ते प्रकाश का सहारा अंक के समापन के लिए लिया गया है। इसी नाटक के अंत में प्रकाश को ध्वनि का सहयोग प्रदान कर प्रकाश और ध्वनि के मिश्रित प्रभाव को अधिक संश्लिष्ट और कलात्मक रूप दिया गया है। तीसरे नाटक में यह कला और भी निखर गई है। प्रकाश का उपयोग नृत्यमय भंगिमा के साथ किया गया है और उसकी भूमिका अपेक्षाकृत विलंबित है। इस नाटक के अंत में ध्वनि प्रकाश को सहयोग देने के स्थान पर विरोध द्वारा उस तनाव को उभारती है जिसके साथ यह नाटक समाप्त होता है। इस प्रकार इस नाटक के अंत तक आकर राकेश ने अपने मंच संबंधी अनुभव का पूरा लाभ उठाया है।

अपने अंतिम दो नाटकों को परदे से मुक्ति दिलाने मे राकेश को सफलता यथार्थवादी मंच के कारण मिली है। यथार्थवादी मंच की अपनी सीमा होती है। कुछ समीक्षकों का विचार है कि यथार्थवादी मंच के आग्रह ने कहीं कहीं राकेश के नाटकों की कथा के सहज विकास को कुंठित किया है, लेकिन राकेश की नाट्यचेतना ढली ही यथार्थवादी रंगमंच के ढांचे में है। उनकी नाट्यकल्पना कथा की घटनाओं के साथ नहीं, उन स्थितियों के साथ चलती है जो चारित्रिक द्वंद्व को उजागर करती है और यह चारित्रिक द्वंद्व एक स्त्री का होता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में वह मल्लिका के चरित्र का द्वंद्व है, 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी के चरित्र का और '**आधे-अधूरे** में स्त्री के चरित्र का। इसलिए कथा चरित्र का अनुसरण करते हुए घर के भीतर ही घटित होती है, और वहाँ भी किसी खास कमरे में जहाँ नायिका प्रायः बनी रहती है। कुछ समय के लिए वह वहाँ से हटती अवश्य है, लेकिन उस अवस्था में भी मंच पर उपस्थित पात्रों की चेतना पर वह छाई रहती है। फलतः उनके सभी नाटकों में नायिका का वर्चस्व दिखलाई देता है।

नायिका की तुलना में नायक की भूमिका उनके नाटकों में गौण है। चारित्रिक द्वंद्व नायकों में भी है, लेकिन एक तो वह नाटक का केंद्रबिंदु नहीं है, दूसरे वह स्थानीय होता है–इसलिए या तो नाटक के अंत में प्रकट होता है अथवा प्रारंभ में ही व्यक्त होकर रह जाता है, देर तक उसका निर्वाह नहीं होता। कालिदास का द्वंद्व नाटक के अंत में फूटता है, नंद का द्वंद्व भी नाटक के अंत में ही प्रकट होता है, पुरुष-एक का द्वंद्व भी नाटक के

आरंभ में अपनी झलक दिखलाकर रह जाता है; जबकि मल्लिका पहले अंक के आरंभ से अंतिम अंक के अंत तक रंगमंच पर अपने आपसे जूझती रहती है, सुंदरी पहला अंक आरंभ होने के कुछ देर बाद अपने प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को उद्‌घाटित करती हुई रंगमंच पर आती है तो उस पर अनेक चोटें सहती हुई तब तक वहीं बनी रहती है जब तक अंत में स्वयं टूट नहीं जाती; '**आधे-अधूरे**' की स्त्री बीच में कुछ देर के लिए बाहर अवश्य जाती है, लेकिन उस कालांश को छोड़कर वह बराबर मंच पर बनी रहती है और जिस बीच वह मंच पर नही होती, उस बीच भी मंच पर उपस्थित पात्रों की चेतना पर छाई रहती है।

राकेश के नाटकों के नायकों का चरित्र नायिकाओं की तुलना में निस्तेज है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के नायक दुविधाग्रस्त हैं, किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले उन्हें इधर से उधर और उधर से इधर बहुत होना पड़ता है, उनका तथाकथित निर्णय या तो नायिकानिर्दिष्ट होता है उसके किसी निर्णय की प्रतिक्रिया। कालिदास उज्जयिनी जाने का निर्णय मल्लिका के निर्देश पर करता है और 'अथ से आरंभ' करने के विचार से इसलिए पलायन कर जाता है कि मल्लिका उससे पहले ही निर्णय ले चुकी थी, जिसका परिणाम उसकी बालिका थी; अंत में कालिदास का पलायन मल्लिका के इस निर्णय के ज्ञान का परिणाम था। 'लहरों के राजहंस' में नंद गौतम बुद्ध के पीछे जाने का निर्णय सुंदरी के आदेश पर लेता है और अंत में पलायन उस ग्लानि के कारण करता है जो उसके मुंडित रूप को देखकर सुंदरी के डर जाने से उसे हुई थी। '**आधे-अधूरे**' के नायक का चरित्र भी सूच्य कथावस्तु के अनुसार (बकौल जुनेजा) ऐसा ही रहा था, लेकिन पुरुष दो के आने पर घर से चले जाने का निर्णय वह स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक लेता है, फिर भी वह इतना दब्बू है कि अपने निर्णय और उनके कारणों को स्पष्ट रूप से प्रकट न कर बहानेबाजी करता है जिससे उसका चरित्र अपनी दबंग स्त्री के सामने फीका पड़ जाता है।

तीनों नाटकों के अंत में नायकों की विवश स्थिति अंकित है। तीसरे नाटक का अंत पहले दो नाटकों के अंत से इस रूप में अवश्य भिन्न है कि उसमें नायक घर लौटता हुआ दिखलाई देता है, जबकि पहले दो नाटकों के अंत में नायक घर से पलायन करता है। इस भिन्नता में भी एक समानता है, और वह यह कि दोनों परिणाम उसकी अभिशप्त नियति के द्योतक हैं। घर में रह सकने की स्थिति में वह नहीं है, लेकिन घर से बाहर रह सकना भी उसके वश की बात नहीं है। इस दृष्टि से '**आधे-अधूरे**' का अंत पहले दो नाटकों के अंत का पूरक है। इस गृहकेंद्रित स्त्रीप्रधान नाट्यसंरचना के मूल में यदि कोई मनो-विश्लेषणात्मक कारण नहीं है तो यथार्थवादी रंगमंच की चेतना का हाथ उसमें अवश्य है। यथार्थवादी मंच के भारी-भरकम सेट को बार-बार बदलना संभव नहीं होता।

इसलिए एक ही सेट पर पूरा नाटक खेलना होता है। संभवतः इस विवशता ने राकेश को ऐसे कथानक चुनने को प्रेरित किया है जो एक घर के भीतर–घर के किसी एक कमरे में ही–घटित हो सकते हैं। ऐसे नाटकों के केंद्र में गृहिणी रहे, यही स्वाभाविक है।

एक दृश्यबंधीय नाट्यरचना में कथानक की गति बनाए रखना बहुत कठिन होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिए राकेश ने रंगमंच पर पात्रों को बराबर बदलते रहकर कथास्थितियों को परस्पर जोड़ा है। पात्रों का एक दल एक स्थिति उत्पन्न करता है, तब तक उनमें से कुछ पात्र मंच से चले जाते हैं और उनके स्थान पर कुछ नए पात्र आ जाते हैं जो मंच पर पहले से रह गए पात्रों के साथ मिलकर पहले वाली कथास्थिति को आगे ले जाते हैं। इस प्रकार नई-नई कथास्थितियाँ उत्पन्न होती रहती है और पहले वाली स्थितियों की श्रृंखला में नई-नई कड़ियाँ जोड़ती जाती है। इन्हीं कड़ियों के माध्यम से कथानक को गति प्राप्त होती है। फलतः उनके नाटकों में कथानकों की गति धारावाही न होकर कथास्थितियों के खंडयोगों से निर्मित होती है।

इससे नाटक की अन्विति में सूक्ष्म दरार पड़ जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। राकेश के नाटकों में ऐसी दरार प्रायः दिखलाई देती भी है। 'आषाढ़ का एक दिन' के पहले दो अंकों में मल्लिका के उत्सर्ग की कथा उभरती है, लेकिन तीसरे अंक में वह कालिदास के अंतर्द्वंद्व की कथा में परिणत हो जाती है। 'लहरों के राजहंस' में भी पहले दो अंकों में सुंदरी के रूपदर्प और भोगवादी दृष्टिकोण की जो कथा उभरी है, तीसरे अंक में उसका स्थान नंद की अस्तित्ववेदना ने ले लिया है। इसी कारण इन दोनों नाटकों के पहले दो अंकों की नायिका प्रधानता का स्थान तीसरे अंक में आकर एकाएक नायक का वर्चस्व ले लेता है। **'आधे-अधूरे'** में तो कथानक की गति और भी अधिक विभाजित है। आरंभ के दांपत्यसंघर्ष का स्थान थोड़ी देर बाद ही सिंघानिया का हास्यास्पद व्यवहार ले लेता है, उसके बाद भूतपूर्व प्रेमी का सहारा पाने के लिए स्त्री की निष्फल अभ्यर्थना सामने आती है, फिर छोटी लड़की का उद्दंड व्यवहार और अंततः जुनेजा के साथ स्त्री की झड़प के माध्यम से नायिक-नायिका के मनोविज्ञान का उद्घाटन होता है। इससे कथानक के बल अवश्य बदले हैं, लेकिन इन बदलते हुए बलों के बावजूद एक केंद्रीय संवेदना उसके भीतर से प्रवाहित होती हुई नाटक के अंतर्प्रवाह को अक्षुण्ण रखती है।

कथानक के खंडयोगों, कथास्थितियों के बीच छूटी हुई जगहों को भरने के लिए राकेश ने सूच्य कथा का सहारा भी लिया है, जो कभी-कभी अस्वाभाविक हो गया है। 'लहरों के राजहंस' में व्याघ्र के साथ नंद के द्वंद्व की सूचना देने के लिए सुंदरी के कक्ष में भिक्षु आनंद का प्रवेश बहुत अस्वाभाविक है, इसी प्रकार **'आधे-अधूरे'** में स्त्री और जगमोहन

के बीच जो बातचीत हुई थी, जुनेजा द्वारा उसकी कल्पनाश्रित सूचना अस्वाभाविक नहीं तो अरुचिकर अवश्य है।

एकदृश्यबंधीय व्यवस्था के परिणामस्वरूप सूच्य कथा ही नहीं, दृश्यकथा भी अनेक बार अस्वाभाविक हो गई है। शायद इसी कारण 'आषाढ़ का एक दिन' में विलोम जैसे खलपात्र का मल्लिका के घर में बेरोक-टोक प्रवेश दिखलाया गया है और इसी कारण 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी के शयनकक्ष में श्यामांग और श्वेतांग डोरी सुलझाते हैं और '**आधे-अधूरे**' में जिस कमरे में बाहर के लोग आकर बैठते हैं उसी में घर के लोग चाय पीते है और वहीं पति-पत्नी आपस में झगड़ते हैं तथा लड़का भी उसी स्थान पर कैंची से तसवीरें काटता रहता है, जबकि घर में दूसरे कमरे भी हैं।

एकदृश्यबंध की सीमा के कारण नाटक की गति एकस्थानीय रहती है। फलतः देर तक बहुत कुछ ऐसा बच रहता है जो मंच पर प्रदर्शित अथवा सूचित कथास्थितियों में नहीं समेटा जा सकता। इस प्रकार के अवशिष्ट प्रकरण के लिए नाटकों के अंत में स्थान निकाला गया है। इसलिए अनेक बार गर्भित परिस्थिति की व्याख्या नाटक के अंत में उपलब्ध होती है। इसका परिणाम यह होता है कि नाटक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते व्यंजनाधर्मी कथास्थितियों का स्थान अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के व्याख्यात्मक समाधान ले लेते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के अंत में कालिदास लंबी वक्तृता के साथ यह स्पष्ट करता है कि कश्मीर का शासक नियुक्त होने पर अपने गाँव से गुजरते समय वह मल्लिका से मिलने क्यों नहीं आया। 'लहरों के राजहंस' में बलपूर्वक मुंडन कर दिए जाने के संबंध में नंद का भावावेश एक लंबे भाषण के रूप में व्यक्त हुआ है। **आधे-अधूरे** के अंत में महेंद्रनाथ के निकम्मेपन की व्याख्या भी जुनेजा के संवाद में काफ़ी लंबी हो गई है। स्पष्टीकरण और व्याख्या के प्रयत्न में विगत प्रसंगों की सूचनाएँ दीर्घाकारी संवादों के रूप में नाटकों के अंत में आई हैं। अंत के ये लंबे संवाद नाटक के मुख्य भाग में आए संक्षिप्त संवादों से एकदम अलग दिखलाई देते हैं।

अंत में संवादों के लंबे हो जाने का एक कारण यह भी है कि यहाँ तक पहुँचकर मुख्य पात्र टूटने की चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं। अब तक जो तनाव थोड़ा-थोड़ा करके रिसता रहा था, वह यहाँ आकर निःशेष हो जाता है। इसलिए राकेश के नाटकों के अंत में स्थगित प्रश्नों के उत्तर ही नहीं, भीतर थमे हुए आवेश का फूट पड़ना भी अंत के संवादों के लंबे हो जाने के लिए उत्तरदायी है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका तो पहले ही थोड़ा-थोड़ा करके टूटती रही थी, अंत में कालिदास भी टूटता दिखलाई देता है और मल्लिका के टूटने की चरम परिणति भी वहीं होती है। इसलिए मल्लिका व कालिदास दोनों के संवाद अंत में लंबे हैं। 'लहरों के राजहंस' में भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। सुंदरी का तनाव देर तक मंच पर व्यक्त होता रहा है, लेकिन नंद काफी देर तक

संतुलित दिखलाई देने के बाद अंत में चोट खाकर फूट पड़ता है और संवाद की नाटकीयता गद्य काव्य में परिणत हो जाती है। '**आधे-अधूरे**' में तनाव पूरे नाटक में फैला हुआ है और पहले दो नाटकों के विपरीत इस नाटक में नायक की टूटन भी पहले अंक में ही चरम सीमा पर पहुंचती दिखलाई देती है, जब वह यह कहता हुआ घर से चला जाता है : 'मुझे पता है, मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर ही अंदर इस घर को खा लिया है। पर अब पेट भर गया है मेरा। हमेशा के लिए भर गया है और बचा भी क्या है, जिसे खाने के लिए रहता रहूँ यहाँ?' लेकिन अभी त्राण की संभावना समाप्त नहीं हुई है। पति-पत्नी दोनों उस घर से नाता तोड़कर त्राण पाने के लिए सचेष्ट हैं। दोनों की यह चेष्टा अंत में असफल होती है। दोनों उसी घर में जीने के लिए अभिशप्त हैं। इस अभिशाप की अनुभूति ही नाटक की चरम सीमा है और इसलिए यहाँ आकर स्त्री तथा दूसरी ओर महेंद्रनाथ की ओर से जुनेजा की वेदना का विस्फोट होता है। इस प्रकार राकेश के तीनों नाटकों के अंत मे आए हुए लंबे संवादों के मूल में पात्रों की भावावेशमयी मनोदशा का काफी योग रहा है। यदि उसके साथ परिस्थिति प्रेरित भावावेश न जुड़ा होता तो लंबे संवाद नाटकों के अंत को अवश्य बोझिल बना देते, जिससे उनके प्रभाव की गहरी क्षति होती।

इस तनाव और टूटन में लेखक की अस्तित्ववादी दृष्टि अंतर्निहित है। अपने नाटकीय लाघव के बल पर राकेश ने अपने दृष्टिकोण की दार्शनिकता को मुखर नहीं होने दिया है। वह कथास्थितियों, प्रतीकों और संवेदनशीलता में घुल गई है, फिर भी दार्शनिकता सर्वथा अनचीन्ही न रह जाए, इसलिए उसके संबंध में लेखक ने एकाध स्थान पर संकेत कर दिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मुक्ति की तलाश में असफल हुए व्यक्ति की यंत्रणा अंकित की गई है। कश्मीर के शासन को त्याग कर आया कालिदास कहता है : 'सत्ता और प्रभुसत्ता का मोह छूट गया है। आज मैं उस सबसे मुक्त हूं जो वर्षों से मुझे कसता रहा है। काश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया है परंतु मैंने संन्यास नहीं लिया है। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ...।' उसका मन मुक्ति के लिए पहली बार तब व्याकुल हुआ जब कश्मीर जाते समय अपने गांव से गुजरते हुए उसने अपने आगमन पर लोगों को उत्सव मनाते देखा था। 'परंतु उस समय मुक्त होना संभव नहीं था।' मुक्त होना क्या कभी संभव है? 'आषाढ़ का एक दिन' से नहीं, '**आधे-अधूरे**' से भी यही उत्तर मिलता है कि मुक्ति दुर्लभ है।

मुक्ति के समान ही वरण की स्वतंत्रता भी सुलभ नहीं है। स्त्री जगमोहन से कहती है : 'मैंने...कल एक फैसला कर लिया है मन में।... वैसे उन दिनों भी सुनी होगी तुमने ऐसी बात मेरे मुंह से...पर इस बार सचमुच कर लिया है?' थोड़ी देर बाद ही स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे फैसले रखे ही रह जाते हैं क्योंकि मनुष्य वरण की स्वतंत्रता से वंचित है। स्त्री को इस वास्तविकता से अवगत कराता हुआ जुनेजा कहता है : 'फिर भी तुम्हें लग रहा

है कि तुम चुनाव कर सकती हो। लेकिन दाएँ से हटकर बाएँ, सामने से हटकर पीछे, इस कोने से हट कर उस कोने–क्या सचमुच कहीं कोई चुनाव नज़र आया है तुम्हें।' जगमोहन ने भी कभी स्त्री से कहा था : 'सोचने से कुछ होना हो, तब तो सोचे भी आदमी।' 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास 'इच्छा के साथ समय का द्वंद्व' देखकर उसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'समय अधिक शक्तिशाली है...क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।' **आधे-अधूरे**' का जगमोहन भी इस सचाई से परिचित है, इसलिए वह कहता है : 'कल और आज में फर्क होता है।' 'कल और आज' का यह फ़र्क ही नंद से निर्णय की स्वतंत्रता छीन लेता है।

मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन सबसे अधिक मृत्यु के हाथों होता है। इसीलिए 'लहरों के राजहंस' में कमलताल की लहरों पर उतरती हुई छाया को देखकर श्यामांग 'प्रकाश की एक किरण, केवल एक किरण' के लिए चिल्लाता रहता है और व्याघ्र के साथ द्वंद्व में क्षत-विक्षत नंद को लगता है : 'मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है।' वह मानता है कि 'जिए जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के अनंत विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थाई हैं, सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पंदन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की अकुलाहट...।' फिर भी अस्तित्व को निरर्थक मानने के पक्ष में वह नही है, इसलिए पूछता है : 'परंतु वह स्पंदन, वह अकुलाहट क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है?' ऐसा है, तभी तो वह मानता है : 'मन में मृत्यु का भय है...किसी भी प्रकार की मृत्यु का ....परंतु उस भय के साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।' अस्तित्व की यातना की संकल्पनात्मक परिणति राकेश के जीवन में दर्शन को एक स्वस्थ धरातल प्रदान करती है : 'लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है...ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं है।' नंद भले ही निर्णय न ले पाए, लेकिन वह गौतम बुद्ध के मृत्युसंवेदित वैराग्यधर्म की ऋणात्मकता के विरुद्ध जीवन लालसा के द्वंद्व को पूरी प्रखरता के साथ उजागर करता है।

अस्तित्व की यातना को यथार्थ के धरातल पर उतारने के लिए राकेश ने मनोविज्ञान की सहायता ली है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास की बेचैनी का कारण अनुरक्ति और महत्वाकांक्षा के द्वंद्व में निहित है–पारिभाषिक शब्दावली में उसका कारण अहं और राग के मध्य विरोध है। कालिदास को अपनी अहंजनित दुर्बलता का पता था–इसलिए वह उज्जयिनी के निमंत्रण को स्वीकार करने में हिचक रहा था : 'मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा

और सम्मान के वातावरण में आकर मैं कैसा अनुभव करूँगा? मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा...और यह आशंका निराधार नहीं थी।' यह बात उस समय प्रमाणित हो जाती है जब कालिदास मल्लिका के सामने अपनी मनोग्रंथि खोलता है : 'तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं कश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने अब तक मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।' लेकिन उसने अहं की तुष्टि अनुरक्ति का मूल्य चुका कर की थी और इस अपराध की चेतना उसके मन के किसी न किसी कोने में बराबर बनी हुई थी। इसी अपराध चेतना का परिणाम था कि वह कश्मीर जाते समय अपने गाँव से होकर नहीं गुजरना चाहता था, उधर से गुजरा तो जिन्होंने उसके गाँव आने से अपने को उपकृत माना उनसे उसे वितृष्णा हुई और वह मल्लिका से मिलने का साहस नहीं कर सका। कश्मीर से लौट कर उसने मल्लिका को यही बतलाया : 'कश्मीर जाते हुए मैं यहाँ से होकर नहीं जाना चाहता था। मुझे लगता था कि यह प्रदेश, यहां की पर्वतश्रृंखला और उपत्यकाएँ मेरे सामने एक मूक प्रश्न का रूप ले लेंगी। फिर भी लोभ का संवरण नहीं हुआ। परंतु इस बार यहां आकर मैं सुखी नहीं हुआ। मुझे अपने से वितृष्णा हुई। उनसे भी वितृष्णा हुई जिन्होंने मेरे आने के दिन को उत्सव की तरह माना !... मैं तब तुमसे मिलने के लिए नहीं आया क्योंकि भय था तुम्हारी आँखें मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देंगी।' 'लहरों के राजहंस' में मनोवैज्ञानिक अवधान का केंद्र सुंदरी है जहां उसके अहं की टक्कर निरंतर विपरीत परिस्थितियों से होती रहती है। '**आधे-अधूरे**' में आकर राकेश ने पहली बार नायक और नायिका दोनों की मनोवैज्ञानिक जटिलता उद्घाटित की है–यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि '**आधे-अधूरे**' के मनोविज्ञान पर जो प्रकाश डाला गया है उसमें वस्तुसत्य कितना है, क्योंकि दोनों पात्रों का मनोविज्ञान आरोप-प्रत्यारोप के रूप में सामने आया है, उसमें किसी न किसी अंश में पूर्वग्रह होना अपरिहार्य है। उसका नायक अपनी पत्नी के शब्दों में 'सिर्फ दूसरों के खाली खाने भरने की चीज़ है', अपने आप में 'वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है'–वह व्यक्तित्वहीन व्यक्ति है, जिसमें आत्मचेतना का नाम भी नहीं है। दूसरी ओर उसकी पत्नी आत्मचेतना के अतिरेक से पीड़ित है। उसकी अतिरंजित अपेक्षाएँ ही उसे कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होने देतीं। इसीलिए जुनेजा के अनुसार उसे अपना पति महेंद्र ही नहीं, अपने जीवन में आनेवाला प्रत्येक पुरुष आधा अधूरा प्रतीत होता है। इस नाटक की मनोवैज्ञानिक चेतना विशेष रूप से प्रखर है। सिंघानिया का आत्मकेंद्रित व्यक्तित्व और जगमोहन का मिष्टभाषी काइयांपन ही नहीं,

लड़के का पिता से तादात्म्य भी राकेश की मनोवैज्ञानिक अभिरुचि के विकास की ओर संकेत करता है।

अस्तित्व की यातना और मनोवैज्ञानिक सजगता के बीच मोहन राकेश ने हास्य के लिए भी अवकाश निकाल लिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में हास्य की सृष्टि आयास-पूर्वक की गई है। इस नाटक में पात्रों के दो जोड़े हास्य की सृष्टि के लिए ही रखे गए हैं। अनुस्वार और अनुनासिक तथा रंगिणी और संगिनी हास्य की सृष्टि के प्रयोजन से ही मंच पर उतारे गए हैं। अनुस्वार और अनुनासिक मुख्य रूप से विदूषक हैं। नाटक में उनको रखने का औचित्य मल्लिका से कहे गए प्रियंगुमंजरी के शब्दों में इस प्रकार सिद्ध किया गया है : 'तुम उनमें से जिसे भी अपने योग्य समझो, उसी के साथ तुम्हारे विवाह का प्रबंध किया जा सकता है।' लेकिन इसके लिए उन्हें मंच पर लाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, विशेष रूप से उस स्थिति में जब प्रियंगुमंजरी को एक क्षण बाद ही यह कहना पड़ा हो : 'परंतु राज्य मे दो ही नहीं, और भी अनेक अधिकारी हैं। मेरे साथ चलो। तुम जिससे भी चाहोगी...।' स्पष्ट है कि उनसे मल्लिका के विवाह का प्रयोजन तो एक बहाना है, वास्तव में वे हास्य की सृष्टि के लिए नाटक में रखे गए हैं। उनकी तुलना में रंगिणी-संगिनी की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक गंभीर अभिप्रायों की वाहक है। अनुसंधान के नाम पर चल रहे कार्य का खोखलापन उनके संवादों में मूर्त हो उठा है। उनकी उक्तियों में चुभता हुआ व्यंग्य है, यह बात अलग है कि उनकी भूमिका भी नाटक के घटनाक्रम की मुख्य धारा का अंग नहीं बन सकी। इसके विपरीत मातुल पर बड़प्पन की मार और दार्शनिक मुद्रा का अटपटापन हास्य के लिए अधिक स्वाभाविक है। इस नाटक की तुलना में 'लहरों के राजहंस' का हास्य अधिक सहज और मार्मिक है और उसकी मात्रा भी पहले नाटक की तुलना में बहुत कम है। श्यामांग के रूप में अंतर्मुख चिंतन में खोए भावुक व्यक्ति का मन अपने आप में उलझकर किसी काम का नहीं रह जाता और इस विडंबना पर सुंदरी का वाक्यप्रहार वेदनासंवलित गंभीर और संयत हास्य की सृष्टि करता है : 'तुम खड़े खड़े सोच क्या रहे हो? कि आग काठ के अंदर है या बाहर?' इसी प्रकार 'खड़े खड़े क्या सोच रहे हो? 'कि डोरियां पत्तियों में उलझी हैं या पत्तियां डोरियों में?' अनोखा लोकविश्वास भी सुंदरी के इस कथन में हास्य का उपकरण बनकर व्यक्ति हुआ है : 'पता है लोग क्या कहते हैं?...आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।' इस नाटक में हास्य पात्रनिर्भर नहीं, स्थितिनिर्भर है। '**आधे-अधूरे**' में हास्य फिर पात्रनिर्भर हो गया है, लेकिन इस बार उसके लिए विदूषक का सहारा नहीं लिया गया। सिंघानिया अपने आभिजात्याभिमान की त्रासदी में हास्यास्पद बना है।

'आषाढ़ का एक दिन' से आरंभ होकर '**आधे-अधूरे**' तक राकेश के नाटकों में हास्य-संवेदना निश्चित रूप से विकसित हुई है। अपने पहले नाटक में उन्होंने हास्य का उपयोग मंचीय सफलता के संबंध में आश्वस्त होने के लिए एक मसाले के रूप में किया है, लेकिन आत्मविश्वास प्राप्त होते ही उन्होंने हास्य की सृष्टि अधिक परिमार्जित रूप में की है। अपने दूसरे और तीसरे नाटक में वे गंभीरतर परिस्थितियों में हास्य के दर्शन कर सके हैं। 'लहरों के राजहंस' और '**आधे-अधूरे**' में राकेश का हास्यबोध उस बिंदु पर पहुंच गया है जहाँ करुण और हास्य के विरोधी छोर परस्पर मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

समय के साथ जीवन के दंश की अनुभूति राकेश के नाटकों में बराबर बढ़ती गई है। पहले नाटक के आरंभ में मल्लिका जीवन के कटु अनुभवों से सर्वथा अछूती है, कटुता और तनाव उसके जीवन में आगे चलकर आते हैं। दूसरे नाटक में आरंभ से ही अवसाद की छाया नाटक पर पड़ी रहती है। भोगवाद के प्रति सुंदरी का आग्रह अवसाद से घिर कर ही व्यक्त हुआ है। तीसरा नाटक तो आरंभ से अंत तक तनाव से भरा हुआ है—यहां तक कि हास्य भी उस तनाव का अंग बन कर व्यक्त हुआ है।

दंश की यह अनुभूति नाटकीय विडंबना (ड्रैमेटिक आइरनी) के प्रयोग द्वारा और तीखी बना दी गई है। आकस्मिकता का नाटकीय प्रयोग नियति के समक्ष मनुष्य की विवशता को उघाड़कर रख देता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में जैसे ही कालिदास मल्लिका से यह प्रस्ताव करता है कि 'हम फिर से अथ से आरंभ कर सकते हैं' वैसे ही अंदर से बच्ची के कुनमुनाने और रोने का स्वर सुनाई देता है, जो फिर से अथ से आरंभ करने की उसकी इच्छा का उपहास करता प्रतीत होता है। उसे समय की गति के सामने अपनी पराजय स्वीकार करनी होती है। जैसे ही वह यह पराजय स्वीकार करते हुए कहता है : 'समय अधिक शक्तिशाली है' वैसे ही 'फिर अंदर से बच्चे के रोने का एक शब्द सुनाई देता है' जो मानो उस समय की शक्ति के समक्ष कालिदास के आत्मसमर्पण पर अपनी मुहर लगा रहा हो। '**आधे-अधूरे** में भी त्रासदी का स्रोत नियति के हाथों मनुष्य की इच्छा के पराभव में निहित है। यह पराभव भी राकेश ने नाटकीय विडंबना के सहारे अंकित किया है। जुनेजा कहता है : 'मुझे पता है कि कितना मुश्किल होगा यह, फिर भी यह बात उसके दिमाग में बिठाकर रहूंगा इस बार कि...।' वह अपने संकल्प को पूरी तरह व्यक्त भी नहीं कर पाता कि महेंद्र घर लौटता दिखलाई देता है और उसका इस प्रकार एकाएक लौट आना जुनेजा के संकल्प पर पानी फेर देता है। इन दोनों नाटकों की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी की इच्छाशक्ति बहुत प्रबल है, लेकिन वह जितनी प्रबल है उतनी ही भारी मार उस पर विपरीत परिस्थिति की पड़ती है और उतनी ही बारीकी से नियति ने उस पर चुटकियां ली हैं। यशोधरा के संन्यासग्रहण का उपहास करने के लिए सुंदरी ने उसकी पूर्वसंध्या को कामोत्सव का आयोजन किया था, किंतु वह स्वयं नियति के

उपहास का पात्र बन गई है जब उसके उत्सव में सम्मिलित होने के लिए कोई नहीं आया। तभी कुछ लोगों के आने की आहट सुनाई देती है जिससे लगता है कि कोई आ रहा है, किंतु यह उत्सुकता तुरंत निराशा में बदल जाती है जब आने वाला और कोई नहीं, घर के कर्मचारी निकलते हैं। आयोजन के लिए कृतसंकल्प सुंदरी के कामोत्सव का आयोजन जब अतिथियों के न आने पर व्यर्थ हो जाता है तभी शशांक के इस वाक्य के रूप में मानो नियति उसके दर्प पर मुस्कराने लगती है : 'अथितियों के बैठने की सारी व्यवस्था हो गई है, कुमार! देवी के आदेशानुसार उद्यान के एक एक वृक्ष कै नीचे...।' संकल्पशक्ति की अद्वितीय दृढ़ता नियति का खिलवाड़ बन गई है।

हो सकता है कि राकेश का यह जीवनदर्शन अग्राह्य प्रतीत हो क्योंकि इसमें नियति की क्रूरता के समक्ष मनुष्य को अत्यंत विवश बतलाया गया है। उसमें मनुष्य की इच्छा ही नहीं, उसके प्रयत्नों के प्रति भी अविश्वास का स्वर सुनाई देता है। इस दृष्टि से राकेश के नाटक निराशावादी दिखलाई देते हैं।

लेकिन दृष्टिकोण की स्वतंत्रता कलाकार का अपना अधिकार है। इसलिए कला की समीक्षा के लिए उसे आधार बनाना उचित नहीं है। मुख्य बात है सर्जनात्मक उपलब्धि की। इसमें संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं कि राकेश ने हिंदी नाटक को एक निश्चित मोड़ दिया है। 'प्रसाद के नाटक साहित्यिक दृष्टि से कितने ही उत्कृष्ट रहे हों, रंगमंच के लिए चुनौती ही थे। इसके बाद जो नाटक लिखे गए उनमें उठाए गए प्रश्न और उनका विश्लेषण बहुत बनावटी था। राकेश ने हिंदी नाटक की साहित्यिकता को मंचचेतना से संपृक्त कर उसे पहली बार सार्थकता प्रदान की है।

7. अंधा युग : एक समीक्षा
गजानन माधव मुक्तिबोध

स्वाधीनता-संघर्ष के बाद, दुनिया में एक ओर भारत की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, तो दूसरी ओर, घर में सामाजिक ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगे। इस सामाजिक ह्रास के कई लक्षणों में से एक है चरित्र के क्षेत्र में व्यक्तिगत धरातल पर नैतिक भावना और व्यवहार की बढ़ती हुई कमज़ोरी। इन कमज़ोरियों के सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के संवेदनात्मक आघात-प्रत्याघात अपना एक इतिहास बनाने लगे। कुछ लोगों को यह नई सामाजिक परिस्थिति अत्यंत सुविधाजनक प्रतीत हुई। एक विशेष प्रकार के चरित्र के लोग, आवश्यक मनोवैज्ञानिक उपादान जिनके पास थे ही, साथ ही, प्रस्तुत सामाजिक परिवेश, सामग्री और साधन (भी थे।) चरित्र की अन्य शैली के लोग इस ह्रासग्रस्त परिवेश से अपना सामंजस्य स्थापित न कर सके। वे उन्नति की ओर नहीं प्रगति की ओर बढ़े।

प्रगति की ओर उनकी उन्मुखता ने कई रूप लिए। सामाजिक परिवेश में परिवर्तन सभी का अभीष्ट था। किंतु प्रगति क्या? उसके आदर्श क्या हैं? आदि-आदि बातों पर अलग-अलग रास्ते अपनाए गए। इन अलग-अलग रास्तों के आपसी झगड़े महत्वपूर्ण हैं, किंतु वे इस लेख के क्षेत्र के बाहर हैं।

एक बात सर्व-सामान्य है। वह यह कि सामाजिक ह्रास आज के युग की एक महत्वपूर्ण वास्तविकता है। इस वास्तविकता की कुछ विशेषताओं को एक फैण्टेसी के ज़रिए श्री धर्मवीर भारती ने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

इस फ़ैण्टेसी का भावनात्मक केंद्र है मौजूदा सभ्यता (यह शब्द भारी-भरकम है, इसलिए यथार्थ कहिए) की समीक्षा जो महाभारत काल के कुछ चरित्रों के अंकन के द्वारा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार के प्रयत्न के दो पहलू ध्यान में रखने लायक हैं। एक, चरित्रों के आघात-प्रत्याघात द्वारा जो मानव-दृश्य उपस्थित किया गया है, वह दृश्य और उसकी प्रभावकारिता। दूसरे यह कि इस दृश्य द्वारा सभ्यता की जो आलोचना की गई है उसके सही या गलत होने की स्थिति। इन पहलुओं का आपसी संबंध द्रष्टव्य है।

कुल मिलाकर, जो दृश्य उपस्थित किया गया है उसका मूल भावना-केंद्र सभ्यता की आलोचना है। **उत्तररामचरित** के समान, या शेक्सपीयर की किसी ट्रैजेडी की भाँति, यदि उस दृश्य के मूल में आलोचनात्मक भावना न रहकर कोई और भावना रहती, तो उस दृश्य की प्रभावकारिता तथा उस समस्त दृश्य के अंग-रूप पात्रों के सौंदर्य के विशेष विश्लेषण से ही काम चल जाता। **अंधा युग** उस ढंग से चरित्र-प्रधान नहीं है, जैसे कि अन्य नाटक हुआ करते हैं। उसमें चरित्र का कोई विकास नहीं है, वे बने-बनाए हैं। उनका महत्व और मूल्य यही है कि वे लेखक के भाव, विचार और भाषा बोलते हैं, तथा तिगड्डों पर खड़े होकर उन तिगड्डों की स्थितियों की दृष्टि से एक यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। लेखक द्वारा यथार्थ के आकलन के चरित्र के वे विभिन्न प्रतीक हैं; उसकी दृष्टि और वाणी प्रकट करने के साधन हैं। इस दृष्टि से, यह दृश्य-काव्य आत्मपरक है, 'सब्जेक्टिव' है।

और उसकी यह सब्जेक्टीविटी आज की पीढ़ी का एक मूड बताती है और साथ ही एक धारणा भी स्पष्ट करती है। इसलिए वह महत्वपूर्ण हो उठी है। वह मूड वास्तविक है, वह धारणा वास्तविक है।

मूड यह है कि मौजूदा सभ्यता या समाज या यथार्थ -- जैसा कि वह है — से किसी मानव-प्रगति की आशा नहीं की जा सकती। सामाजिक संबंधों के यथार्थ से प्रेरित इस निराशा की भावना की तह में यह धारणा प्रतिष्ठित है कि मौजूदा सभ्यता के मसीहा जिस वर्ग या श्रेणी या तबके से निकले हैं, उनके नेतृत्व में चलने वाली सभ्यता या समाज, कुछ भी कह लीजिए, का नाश अवश्यम्भावी है।

इस मनोवैज्ञानिक केंद्र से विकसित यह फ़ैण्टेसी समाज की जिन विशेषताओं को प्रकट करती है, वे विशेषताएँ महत्वपूर्ण होने के कारण फ़ैण्टेसी और भी महत्वपूर्ण हो उठी है। उसका भावनात्मक आघात अचूक हो गया है। उसका रसात्मक प्रभाव केवल भाव या रस तक ही सीमित न रहकर विचारोत्तेजक बन गया है। दूसरे शब्दों में, भावना की राइफ़ल से विचारों के कारतूस कौंधकर निकल पड़े हैं। इस फ़ैण्टेसी की यह सफलता द्रष्टव्य, विचारणीय और मूल्यवान है।

चूँकि यह मौजूदा समाज की एक ढंग से आलोचना है, इसलिए इस प्रश्न को ठुकराया नहीं जा सकता कि उसकी सीमाएँ और क्षमताएँ क्या हैं, यानी प्रस्तुत आलोचना की पर्यालोचना आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

पहली बात जो बार-बार दिमाग़ से टकराती है, वह यह है कि श्री भारती ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कन्फ़्यूज़ कर देते हैं। नैतिक गिरावट स्वयं एक लक्षण है, जो अन्य घटना-क्रमों या अन्य मानसिक विकार-दृश्यों का कारण हो सकती है। किंतु इस गिरावट

का कारण व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक है या ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय? इस प्रश्न पर या तो श्री भारती ने विचार नहीं किया, या विचार करके उसे छोड़ दिया, उसकी तह में नहीं गए। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो श्री भारती सभ्यता की आलोचना तो करते हैं, किंतु समाजशास्त्रीय जिज्ञासा के अभाव के शिकार होकर। सभ्यता का ह्रास संवेदनात्मक रूप से अनुभव करते हैं; उसे प्रकट करने के लिए उन्हें आलोचना की शरण लेनी ही पड़ती है। किंतु उनकी आलोचना केवल व्यक्तित्व और व्यक्ति-मानव की शुभेच्छात्मक संवेदनाओं के नैतिक दृष्टिकोण को त्याग नहीं पाती। यह प्रकट करता है कि श्री भारती का वैचारिक अंतरंग छायावादी है। सभ्यता या समाज अनेक श्रेणियों में सूत्रबद्ध मानव का समुदाय है, जिसके भीतर एक ढाँचा है। उस ढाँचे का एक इतिहास है। इस इतिहास में एक विकास सूत्र है। इस विकास सूत्र के कुछ नियम हैं। इन नियमों के प्रति सच्ची समाजशास्त्रीय जिज्ञासा आवश्यक है। श्री भारती के पूरे मनोलोक में समाजशास्त्रीय जिज्ञासा का नितांत अभाव है। इस अभाव पर हमें खेद है। खेद इसलिए कि सभ्यता और समाज की प्रचण्ड उपस्थिति श्री भारती के मन में होते हुए भी, वे उस सभ्यता और समाज के स्वरूप के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने के लिए तत्पर नहीं हैं, जबकि आज विज्ञान किसी भी फ़िलॉसॅफ़ी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो उठा है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत फ़ैण्टेसी यथार्थ की कुछ प्रमुख विशेषताओं को रूपक से प्रकट करती है। यदि श्री भारती में यह समाजशास्त्रीय जिज्ञासा होती, तो इस फ़ैण्टेसी का रूपायन किसी और ढंग से होता, और उसका मूल्य और भी बढ़ जाता।

फिर भी, श्री भारती ने अपनी फ़ैण्टेसी के अंतर्गत व्यक्तियों द्वारा उभारे गए (उन्हीं के शब्दों में) जिन निष्क्रिय सत्यों, तटस्थ सत्यों और अर्ध-सत्यों को उद्‌घाटित करने का प्रयत्न किया है, वे सत्याणु, वस्तुतः, कुछ प्रवृत्तियाँ सूचित करते हैं - ऐसी प्रवृत्तियाँ जो संस्कृति और समाज के नेतृ-वर्ग की हैं।

इस वर्ग के शासन-प्रशासन-अनुशासन में चलने वाली सभ्यता ह्रास-ग्रस्त है। उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। किंतु, सामाजिक रूपांतरों के घटना-क्रम विकसित करने वाली शक्तियाँ कौन-सी हैं, इसका क्रम-उल्लेख प्रस्तुत काव्य में नहीं है। इसका कारण यह है कि लेखक के मनोलोक में ऐसी किन्हीं शक्तियों की स्थिति की जानकारी या ज्ञान-संवेदना का अभाव है। इस अभाव के फलस्वरूप, मानव-सुलभ आशात्मक भविष्यवाद का एकमात्र आधार वे क्षण हैं जहाँ मनुष्य मनुष्य हो जाता है। यह संवेदनात्मक व्यक्ति-मानव अपनी संवेदनाओं के सामान्यीकरण के द्वारा ही मुक्ति और दायित्व (उन्हीं के शब्दों में) के प्रयास करेगा।

श्री भारती को यह जानना चाहिए था कि भिन्न-भिन्न वर्गों में मुक्ति या दायित्व की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। दायित्व की जो कल्पना एक श्रमिक की है, वह धनिक की नहीं। जो मज़दूर की है वह पूँजीपति की नहीं। मौजूदा जनतंत्रात्मक प्रणाली द्वंद्व-प्रणाली है। **कामायनी** में इड़ा अपने आत्मनिवेदन में, रहस्यात्मक शब्दावली में ही क्यों न सही, इसे स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। इस द्वंद्व में 'दायित्व' और 'मुक्ति' और 'मर्यादा', यहाँ तक कि 'मानवता' की कल्पना भी भिन्न-भिन्न है।

इसलिए, जिस 'दायित्व' और 'मुक्ति' की कल्पना को सभ्यता के अवलम्ब के रूप में श्री भारती प्रकट करते हैं, वह व्यक्ति-मानव की एक शुभेच्छा में एकरूप, किंतु विभिन्न वर्गावस्थाओं में भिन्न स्वरूप है। श्री भारती का आशात्मक भविष्यवाद एक बहलावा है। वह बहलावा इसलिए है कि उसमें सामाजिक रूपांतर के किसी ठोस वैज्ञानिक आधार का अभाव है।

डॉ. देवराज को **अंधा युग** पढ़कर, **कामायनी** की याद आई। यह स्वाभाविक है, किंतु **अंधा युग** का लेखक दार्शनिक नहीं है। **कामायनी** में विचारों और अनुभवों के सामान्यीकरण का दर्शन है। उसकी आलोचना एक दार्शनिक की समीक्षा-बुद्धि प्रकट करती है।

श्री भारती की आलोचना एक उत्पीड़न-विवेक का विस्फोट है। प्रकृति, दिशा और जीवन-अनुभवों की दृष्टियों से ये दो कवि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और स्तरों के हैं।

अंधा युग नयी साहित्यिक पीढ़ी का एक अत्यंत मूल्यवान और महत्वपूर्ण प्रयास है - ऐसा प्रयास जिस पर व्यापक बहस होना आवश्यक है। हम इस कृति के लिए श्री भारती का अभिनंदन करते हैं।

8. 'दायित्व गहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे' की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : 'अंधा युग'

निर्मला जैन

'अंधा युग' का रचनाकाल (1954) 'मानव मूल्य और साहित्य' में संकलित लेखों के आसपास का रचनाकाल है। कवि के अनुसार : 'इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है, उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है।' महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक 'प्रख्यात' और 'उत्पाद्य' के मेल से इस काव्य-रूप की प्रसंग व पात्र-योजना की गई है। महाभारत की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का निवेश कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष रूप में कर लिया गया है। कथानक की घटनाएँ समस्याओं का माध्यभ भर हैं क्योंकि उठाया घटनाओं को नहीं समस्याओं को गया है।

'राष्ट्रवाणी' में मानव की धुरीहीनता पर प्रकाशित लेख की भी चिंता यही है। कहने का आशय यह है कि कवि की चिंता द्वापर के बाद अवतरित होते हुए कलियुग की नहीं बल्कि उस अंधे युग की है जो 'बीतता नहीं रह-रहकर दुहराता है'। महत्वपूर्ण वह मानव अवस्थिति है जो समय-समय पर किन्हीं परिस्थितियों में अपने को दोहराती है। यह आकस्मिक नहीं है कि विश्व युद्ध से प्रेरित भारती के समसामयिक अन्य वरिष्ठ/कनिष्ठ कवियों ने भी पीछे मुड़कर महाभारत की ओर ही देखा है। दो-दो भयंकर विश्व-युद्धों का साक्षी कवि अनुभव करता है कि :

> 'हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
> हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है।'

युद्ध है तो प्रश्न है। प्रश्न के अनेक पहलू हैं, आयाम हैं। महाभारत की अंतिम संध्या में उसका प्रतिबिम्ब है। यही उसका देशकालातीत है। समस्या जब देशकालातीत है, तो उसकी विचारणीयता भी क्रमिक है। समय-संदर्भ के अनुरूप अनेक प्रतिप्रश्न हैं। उत्तर की खोज है, और प्रायः आकांक्षित या फिर प्रस्तावित हल भी हैं ही। पर अंत में प्रश्न अपनी जगह वहीं का वहीं है। प्रश्न की भाषा की तुलना में उत्तर की भाषा अधिक बदली है।

"दायित्वगहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे" की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : अंधायुग

नीति/अनीति, मर्यादा/मर्यादाहीनता, उचित/अनुचित, धर्म/अधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न महाभारतकार के सामने न उठा हो, ऐसा तो नहीं है। वहाँ तो प्रश्न युद्धारम्भ में ही प्रस्तुत है पर उस युग का सबसे सबल उत्तर है आस्था। मानव-अस्तित्व का एक सर्वाधिक ठोस आधार - समस्त तर्क-वितर्क की पर्यवसान-भूमि। जीवन के केंद्र से उतर जाने का मतलब है इसी आस्था का शंकास्पद हो जाना। महाभारत-युग के अर्जुन के लिए सभी कर्म (भले ही वह हिंसा हो) कृष्णार्पित कर देना सम्भव था क्योंकि शंका करना वहाँ पाप है। इसके ठीक विपरीत, आधुनिक मानव का अस्तित्व ही शंका-जीवी है। भारत-पाक विभाजन और गांधी की हत्या इसका प्रमाण है।

'अंधा युग ' की संरचना का मूल यही शंकास्पद मानसिकता है। दो महायुद्धों के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित मूल्य-विनाश वैचारिक स्तर पर जिस सर्वनिषेधवाद और नैराश्यजनक मानसिकता को जन्म देता है उसी का एक लघु-संस्करण भारत में राजनीतिक फेरबदल के निजी एवं तात्कालिक संदर्भ में घटित होता दिखाई पड़ता है।

आस्था का आधार लुप्त हो गया है यह वस्तुस्थिति है और उसे देखने वाली दृष्टियाँ अंधी हो गई हैं - यह आत्मस्थिति। गांधी की मृत्यु पर नेहरू की प्रतिक्रिया 'द लाइट इज़ गान.... ' इसी सत्य को व्यंजित करती है। मूल्य-संकट से उत्पन्न यह आपात स्थिति सम्वेदनशील कवि के सामने दूसरा असमंजस उपस्थित करती है : 'दायित्व गहन, भाषा अपूर्ण, श्रोता अंधे / पर सत्य वही देगा उनको संकट क्षण में।' यह बात अलग है कि वह भी 'इस मोहनिशा से घिर कर / है भटक रहा / जाने किस कंटक-पथ पर।' वह प्रतिबद्ध है - 'सत्य कितना कटु हो / कटु से कटुतर हो / कटुतर से कटुतम हो / फिर भी कहूँगा मैं।' किंतु समस्या अपनी जगह है 'लेकिन आज अंतिम पराजय के अनुभव ने / जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की / आज कैसे वही शब्द / वाहक बनेंगे इस नूतन अनुभूति के? ' यानी समस्या दुहरी है - पहली सत्य की प्रकृति के बदल जाने की और दूसरी बदली हुई प्रकृति के अनुरूप भाषा की अपर्याप्तता के एहसास की।

'अंधा युग' की मुख्य कथा इस प्रकार मूल्यों की विकृति या मूल्यहीनता की है। पूरा प्रश्न जिस ढाँचे में उठाया गया है, वह अस्तित्ववादी विचारधारा का है। युद्ध की स्थिति इसका विभावन-व्यापार (ओब्जेक्टिव कोरिलेटिव) है। यह युद्ध महाभारत हो सकता था, कोई और हो सकता था। जो वस्तुगत ढाँचा मनुष्य के विवेक, नीति, मर्यादा, आस्था आदि के लिए चुनौती प्रस्तुत कर दे, वही कवि के लिए ग्राह्य है। महाभारत के युद्ध से जीवन की चरम स्थितियों (हत्या/आत्महत्या/सामूहिक हत्या) के समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश है। इन्हीं स्थितियों के माध्यम से 'अंधा युग' में दर्शन का रूप निखरता है।

कथानक-संरचना इस रूप में की गई है कि ये तमाम स्थितियाँ 'अंधा युग' के कथानक को उसकी चरम स्थिति 'प्रभु की मृत्यु' की ओर बढ़ाती हैं। आस्था के आधार कृष्ण की मृत्यु का परिणाम है 'प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत / कलियुग ने धरा प्रथम चरण।' प्रश्न तो इस घटना से पहले भी बहुत से हैं, किंतु वास्तविक समस्या तो कलियुग के आरम्भ से सम्बद्ध है। एक ओर प्रभु की मृत्यु का प्रतीकात्मक प्रतिफलन है कि 'हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं' और दूसरी ओर प्रेतात्मा युयुत्सु का विश्वास है 'नियति है बँधी हमारी / प्रभु के मरण से नहीं / मानव भविष्य से।' स्वयं प्रभु का संदेश है 'मरण नहीं है जो व्याध / मात्र रूपांतरण है वह......' और इसके उपरांत अस्तित्ववाद की शब्दावली में 'दंडित मुक्त' अश्वत्थामा, और प्रेत-रूप युयुत्सु 'दायित्व युक्त मर्यादित आचरण' का संदेश ग्रहण करते हैं। प्रभु-वचन के स्वीकार के लिए आस्था अनिवार्य है और आस्था की उपलब्धि के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की इस शर्त को अश्वत्थामा दंड रूप में ग्रहण करता है : 'मैं हूँ दंडित / लेकिन मुक्त हूँ।' मुक्ति दंड है क्योंकि वह 'मर्यादायुक्त आचरण' का दायित्व है, अमर्यादित स्वेच्छाचार का भोग नहीं। प्रभु की मृत्यु के बाद अपना दायित्व प्रभु को सौंप कर मुक्तता के अनुभव का विकल्प भी समाप्त हो गया। जिस युग ने प्रभु की हत्या की है उस आस्थाहीन प्रभुहीन युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना दायित्व वहन करने के लिए विवश है, अभिशप्त है। आस्था का आधार उसके लिए अब न ईश्वर है न धर्म, बल्कि अपना विवेक है। इसीलिए 'वे हैं भविष्य / किंतु हाथ में तुम्हारे हैं।' भविष्य की यह साधना कर्म-निर्भर है अन्यथा दिव्य दृष्टि सम्पन्न संजय भी 'कर्म से पृथक क्रमशः अपने अस्तित्व का अर्थ' खोता जाता है। उसकी विडम्बना यही है कि 'जीवन भर रहा मैं निरपेक्ष सत्य। कर्म में उतरा नहीं'।

'अंधा युग' की 'लोक-सम्पृक्ति' 'समूचे कथानक और प्रेरणा' को समसामयिक आलोचकों ने प्रायः यथार्थधर्मी कहा है। कवि के वक्तव्य के अनुसार भी 'कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अंधापन' -- इन सबने उसे निडर धँसकर छिपे हुए सत्य के दुर्लभ कणों को ढूँढ निकालने के लिए आमंत्रित किया है। जाहिर है उसमें इस तमाम विकृति में धँसने का उत्साह है, आवेग है, सबकी वेदना भोगने और सत्य को पाने का भ्रम और एहसास भी है, और इस सत्य को बाँटने का हौसला भी। 'अंधा युग' की तात्कालिक प्रभावात्मकता और लोकप्रियता का एक बड़ा कारण युग-स्थिति के प्रति कवि का यह आवेगमय रुझान है।

नाटककार ने स्वयं रंगमंच संबंधी 'निर्देश' देते हुए 'अंधा युग' को 'दृश्य-काव्य' कहा है। रंग-निर्देश जितने विस्तार से दिए गए हैं, उससे स्पष्ट है कि इसकी रचना रंगमंच/रेडियो पर प्रस्तुति के लिए की गई है। महाभारत का कथानक अनेक सजीव एवं सशक्त प्रसंगों का कोश है। 'अंधा युग' में विचाराधीन प्रश्नों के लिए ऐसी अनेक घटनाएँ प्रासंगिक हैं :

जिनमें कार्य-व्यापार-संकुलता एवं गति हो। दुर्योधन एवं भीम का युद्ध, अश्वत्थामा द्वारा पांडव शिविर का ध्वंस, अर्जुन एवं अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र प्रयोग, धृतराष्ट्र-गांधारी, कुंती का दावाग्नि में जलना, पांडवों का हिमालय प्रस्थान, कृष्ण की मृत्यु (जो इस कृति की चरम घटना भी है) आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग इस नाटक में उपस्थित हैं - और इस सबके बीच है विचारात्मक ऊहापोह। विडम्बना यह है कि युद्ध-संबंधी इस नाटक में एक भी युद्ध रंगमंच पर घटित नहीं होता। नाटककार को सुविधा है — दिव्य-दृष्टि सम्पन्न एक ऐसे पात्र की योजना की जो परम्परानुमोदित भी है। यह पात्र संजय है। समूचे कथानक में घटनाओं को शब्द-चित्रों में साकार करके प्रस्तुत करते रहने का दायित्व उसी पर है। और इसीलिए शंका, संदेह, मूल्य-विकृति के भयावह माहौल में उपयुक्त शब्द-माध्यम खोजने की पीड़ामय अनुभूति भी उसी की है। पीड़ा इसलिए कि वह सत्य कहने के लिए प्रतिबद्ध है। यह बात अलग है कि वस्तुस्थिति के दबाव से सत्य की परिभाषा बदल गई है और इस बदली हुई परिभाषा के लिए सही भाषा की तलाश ही समसामयिक लेखक की भी सबसे बड़ी पीड़ा है। नाटककार इसी 'तटस्थद्रष्टा', 'शब्द-शिल्पी' के माध्यम से अधिकांश घटनाओं को सूच्य बनाकर प्रस्तुत करता है और अभिनय संबंधी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों से बचाव का मार्ग ढूँढ लेता है। जहाँ संजय की भूमिका नाकाफी होने लगती है वहाँ वह 'कथा-गायन' की योजना से काम लेता है या फिर प्रहरी, विगत या अनागत प्रसंगों पर टिप्पणी करके या उनका पूर्वाभास देते हुए सूत्रों को जोड़ते चलते हैं।

इस नाटक की सबसे बड़ी खूबी है वाच्य से दृश्य का प्रभाव उत्पन्न करना। कथा न कहीं रुकती है न ठिठकती है। कृष्ण की मृत्यु के प्रसंग तक घटनाएँ तीर की तरह बढ़ती चली जाती हैं। कार्य-व्यापार की अनुपस्थिति को अश्वत्थामा के चरित्र की गत्यात्मकता ने और गांधारी की तर्क-कर्कशता ने काफी दूर तक भरा है। पाँच दृश्यों में विभाजित इस काव्य-रूपक में किसी भी सफल नाटक के अनुरूप-स्थापना-अंतराल एवं समापन किया गया है। भारती ने काव्य के उपकरणों से नाटक के उपकरणों का काम लिया है। वर्णनों की चित्रात्मकता इसका प्रमाण है।

इसी कारण एक बार 'अंधा युग' को एक साथ श्रेष्ठ काव्य और समर्थ नाटक कहकर दोनों तत्वों में परस्पर पोषण का गुण देखने वाले आलोचकों को दूसरी बार उसमें वस्तु योजना और रंग-विधान की पारस्परिक असंगति का भ्रम होने लगता है : 'उसकी रचना के नाटकीय अंकों में कथा का फैलाव है, घटना-स्थलों में विलगाव है, कई धरातलों की विचारधारा का ऊहापोह है। इसी सबके बीच पात्र स्वगत और अर्ध-स्वगत कथनों में युद्ध के धर्म-अधर्म पक्षों पर व्याख्याएँ करते हुए आते-जाते हैं। इस सबको समेकित करने का एकमात्र साधन कथा गायन रखा गया है। वही अंकों की कथा को समेटता है, वही

घटनास्थलों को अन्विति देता है : किंतु नाटक की धर्मिताओं को वह शक्ति नहीं देता, शायद उनको दुर्बल ही करता है....

जिसे सुरेश अवस्थी फैलाव और विलगाव कहते हैं उसे भारती ने बड़े कौशल से 'समेकित' किया है। केवल कथा-गायन के द्वारा नहीं, संजय के वर्णनों के और प्रहरियों के बीच सम्वाद के माध्यम से भी नाटक की घटनाओं में तीव्रता आती है। संकलनत्रय का निर्वाह होता है। दृश्यों के भीतर दृश्य-योजना करने पर भी अभिनय की व्यावहारिकता के प्रति पूर्ण सजगता है। युद्ध के दौरान और युद्ध के उपरांत मूल्य संकट और मूल्य-विघटन की जिस मानव-अवस्थिति को लेखक ने उठाया है उसकी बहुआयामी प्रस्तुति के लिए स्वीकृत विभावन व्यापार सर्वथा संगत है। नाटक की स्थितियों के बीच जिस वैचारिक ऊहापोह की चर्चा सुरेश अवस्थी ने की है उसमें नाटकीयता वहीं तक है जहाँ तक ऊहापोह है। कृष्ण की मृत्यु की घटना के साथ यह ऊहापोह समाप्त हो जाता है। रह जाती है केवल विचारधारा। जिस अलौकिक, तर्कातीत, आस्थावाद के विरोध में सारी तर्कशीलता, सारा विरोध द्वंद्वात्मक/नाटकीय रूप धारण करता है, उसी अलौकिक, तर्कमुक्त आस्था की युक्ति से विरोध का शमन किया जाता है। यही इस नाटक की सबसे बड़ी विडम्बना और असंगति है। आकस्मिक नहीं है कि इसकी अधिकांश रंगमंचीय प्रस्तुतियों का अंत कृष्ण की मृत्यु के उपरांत की घटनाओं को शीघ्रता से समेकित करके किया जाता रहा है। वस्तुतः अंत में वृद्ध याचक के माध्यम से अस्तित्ववादी भाषा में प्रसारित संदेश नाटक की तार्किक नहीं आरोपित परिणति प्रतीत होता है। शायद सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त मूल्य-संकट के बोध के प्रति थिराए हुए विवेक के बजाय जो विस्फोटक आवेग दिखाई पड़ता है उसका यही अतार्किक अंत हो सकता था। आवेग का प्रभाव अपनी तात्कालिकता में तीव्र एवं आक्रामक होता है, प्रायः स्थायी और गहन नहीं। इसीलिए प्रायः उस प्रभाव में कालातिक्रम से विशेष मौलिक अंतर नहीं आता। बहुआयामी या बहुस्तरीय अर्थ-सम्भावनाएँ भी पैदा नहीं होतीं। एक विशेष कालावधि में अत्यंत लोकप्रिय और प्रभावक्षम होने पर भी 'अंधा युग' के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न यदि नहीं उठा तो यह केवल संयोग नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि इस रचना में प्रचुर काव्य-गुण है। अंधों को दृष्टि देने वाला संजय अपने वर्णनों में अर्थ ग्रहण नहीं बिम्ब ग्रहण कराता चलता है। वह सूचनाएँ नहीं देता अपने अंधे श्रोताओं की कल्पना के लिए चित्र खड़े करता है। इस 'दिव्यदृष्टि सम्पन्न शब्द-शिल्पी' की भाषा अक्सर आलंकारिक और मूर्तिविधायनी हो उठती है। अवध्यता का वरदान पाकर भी आसन्न मृत्यु की भयावहता उसे ऐसी लगती है :

जैसे तेज बाण किसी
कोमल मृणाल को

"दायित्वगहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे" की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : अंधायुग

ऊपर से नीचे तक चीर जाय
चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया
कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से?

मृत्युबोध की यही अस्तित्ववादी मुद्रा सत्य की विकृत अनुभूति के लिए जिम्मेदार है। इसी प्रकार धृतराष्ट्र को जब अपनी वैयक्तिक सीमाओं/मूल्यों और ज्ञानहीन आस्थाओं के बाहर सत्य की व्यापक वस्तुगत स्थिति का भान होता है तो ऐसे कि :

सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषम जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अंतर्मन में पैठ गया।

आचार्य शुक्ल ने मार्मिक स्थलों की पहचान को प्रबंध की कसौटी माना है। प्रबंधकार के विवेक की परीक्षा इसी बात में होती है कि वह विस्तृत एवं बिखरे हुए कथा-प्रसंगों में से अपनी रचना के लिए व्यापार-शोध किस रूप में करता है। 'अंधा युग' में कथ्य के अनुरूप मर्मस्पर्शी स्थितियों की पहचान और उनके काव्यात्मक चित्रण का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

प्रबंध में मार्मिकता का आग्रह यदि केवल भाव-विगलन की दिशा में होता है तो उससे कारुणिक प्रगीतात्मक प्रभाव पैदा करने की सम्भावना/आशंका होती है। 'अंधा युग' में गृहीत मार्मिक प्रसंगों की शक्ति उनकी विडम्बनापूर्ण स्थिति में है भावाकुलता में नहीं। अश्वत्थामा का चरित्र युवा मानस की प्रश्नधर्मी प्रकृति को जिस आवेश की मुद्रा में प्रस्तुत करता है, उतने ही अप्रभावी ढंग से उसके विरोध का शमन हो जाता है। 'अंधा युग' की वास्तविक प्रश्नाकुलता के वाहक पात्र इसीलिए अपनी सारी मुखरता के बावजूद अश्वत्थामा और गांधारी नहीं, बल्कि युयुत्सु और संजय हैं। युयुत्सु के चरित्र की रीढ़ उसकी विडम्बनापूर्ण स्थिति है। इसी प्रकार धृतराष्ट्र और गांधारी का अंधापन महज एक तथ्य नहीं है - वह एक स्थिति है; प्रवृत्ति है जिसका बोध और दंश पूरे नाटक में इन दोनों पात्रों के साथ ही पूरे वातावरण पर लटका है। अश्वत्थामा में पशुत्व का उदय एक भावावेग, उत्तेजना मात्र नहीं है वह युधिष्ठर के 'अर्धसत्य' की तार्किक परिणति है जो क्रमशः मनोग्रंथि का रूप ग्रहण करती है। नाटक का घटना चक्र जिस क्रम से गांधारी के शाप के प्रसंग तक पहुँचता है, उस विधान में कृष्ण द्वारा शाप की नतमस्तक स्वीकृति पूरी स्थिति को एक विडम्बनापूर्ण नाटकीयता प्रदान करते हुए प्रभावी बनाती है। कृष्ण पक्ष

से प्रस्तुत तमाम तर्क युक्तियों की अपेक्षा यह एक प्रसंग उस आस्था को स्वर देने में कहीं अधिक समर्थ है जो 'अंधा युग' का कथ्य है। पूरे नाटक की संरचना द्वंद्वधर्मी न होकर असमंजसधर्मी है। यह असमंजस ही मूल्य-संक्रमण की ढुलमुल मानसिकता का लक्षण है। द्वंद्व प्रायः प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ देता है और असमंजस उन्हें आरोपित, अप्राकृतिक एवं अतार्किक परिणतियों तक ले जाता है। ऐसी परिणति उस स्थिति में और निश्चित हो जाती है जब आस्था या आदर्श सहज प्रेरित न होकर अर्जित हो। उत्तर तक पहुँचने का आग्रह 'अंधा युग' की वस्तु-योजना के नाटकीय तनाव को शिथिल ही करता है। कवि का संकल्प अंधों के माध्यम से 'ज्योति' तक पहुँचने का है जबकि वास्तविकता में ज्योति है कहाँ?

कृति के नाट्य शिल्प को भारती ने आरम्भिक 'निर्देश' में सविस्तार समझाया है। और तमाम बातों के अतिरिक्त इस रचना में प्रयुक्त भारतीय और पाश्चात्य परम्परा के साक्ष्य को प्रमाणित करने का आग्रह उनमें विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। नाट्य में शिल्प की दृष्टि से मौलिक या प्रयोग क्या है? की अपेक्षा भारती की चिंता यह अधिक है कि 'शास्त्र' और परम्परा किस बात की अनुमति कितनी दूर तक देते हैं और इसमें पूर्व और पश्चिम का मेल-मिलाप किस हद तक होता है।

'अंधा युग' के संदर्भ में प्रतीकात्मकता की बात प्रायः उठाई जाती रही है। प्रतीकात्मकता निश्चय ही किसी भी रचना में अर्थ विस्तार करती है। प्रतीक की प्रकृति आत्मनिषेधपरक होती है। प्रतीकात्मकता कभी-कभी अतिरिक्त दुरूहता या अस्पष्टता का खतरा भी पैदा कर सकती है।

ऐसा प्रायः प्रतीक के अन्योक्तिधर्मी प्रयोग से होता है जहाँ प्रस्तुतार्थ गौण होकर सांकेतिक अर्थ प्रधान हो जाता है। 'अंधा युग' की कथा में पात्र एवं घटनाओं का प्रयोग समासोक्तिपरक है। देश कालगत अर्थ-व्याप्ति उनके निजी ऐतिहासिक संदर्भ का निषेध कर उसे अप्रासंगिक नहीं बनाती।

'अंधा युग' के हर प्रसंग या पात्र का एक नियत ऐतिहासिक एवं दूसरा अनियत देश-कालातीत संदर्भ है। इसलिए एकातिरिक्त अर्थ की सम्भावना बराबर बनी रहती है। पूरा 'अंधा युग' जो कवि के अनुसार कलियुग है 'आस्था हत' युग का प्रतीक है। आस्था का आधार इस युग में विलुप्त हो गया है -- यह वस्तुस्थिति है और देखने वाली दृष्टियाँ अंधी हैं यह आत्मस्थिति या मानसिक स्थिति है। इस अंधी पीढ़ी को सत्य से अवगत कराने वाला संजय स्वयं दिव्यदृष्टि सम्पन्न किंतु अकर्मण्य पात्र है। उसकी समस्या दुहरी है -- 'कर्म-क्षेत्र में उतरे बिना जीवन की सार्थकता की खोज' और सत्य एवं अनुभूति का रूप अनिश्चित एवं विकृत हो जाने के कारण भाषा की अपर्याप्तता या अपूर्णता की गहरी

पीड़ा। नाटक के कई पात्र 'अंतराल' के रूप में रचित फैंटेसी के माध्यम से अपने और स्थितियों के प्रतीकात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हैं। 'अंतराल' की रचना नाट्य-तत्व के अनुरोध से नहीं, प्रतीकों की व्याख्या के उद्देश्य से की गई है। नाट्धर्मिता को यह अंश, किसी रूप में शक्ति नहीं देता।

'अश्वत्थामा' इस कृति का सर्वाधिक विद्रोही, प्रश्नाकुल और क्षुब्ध चरित्र है। आधुनिक युग के उस युवा-मानस का प्रतिनिधि, जिसमें प्रतिशोध से प्रेरित कर्म का आवेग तो बहुत है किंतु सुस्थिर व्यवहार का विवेक उतना नहीं। उसमें आवेश है, असंतुलित आतुरता है, क्योंकि कर्म के परिणाम के प्रति दायित्वबोध का उसमें एकांत अभाव है। उसकी मनोग्रंथियों का दायित्व दूसरों पर है। उसकी विवेकहीन अनास्था की परिणति भी विवेकातिक्रांत आस्था में होती है। अश्वत्थामा से भिन्न युयुत्सु तर्कशील चरित्र है। उसकी स्थिति पूरे नाटक में अत्यंत विडम्बनापूर्ण है। वह विवेकाश्रित आस्था से आरंभ करता है और मोहभंग की निराशाजन्य आत्मघाती नियति को प्राप्त होता है। प्रश्न का विवेकसम्मत समाधान उसे भी नहीं मिलता। वस्तुतः स्थितियाँ अपने प्रकृत रूप में किसी निदान की ओर बढ़ती ही नहीं किंतु नाटककार उत्तर पाने के लिए प्रतिबद्ध है। अतः ज्योति के नाम पर वह अस्तित्ववादी विचारधारा की रूढ़ शब्दावली का संयोजन समाधान-सूत्र में कर देता है :

पर एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में
साहस में, स्वतंत्रता में, नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्वयुक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में

यही नाटक की संरचनात्मक विफलता है। प्रश्न की उठान जितना प्रभावित करती है समाधान उतना ही अप्रभावी और अतार्किक प्रतीत होता है।

रचनाकार की क्षमता चित्रात्मक वर्णनों में, बिम्ब-रचना में, मूर्त विधान में, शब्दों की मितव्ययता में, यहाँ तक कि भाषण-कला में जितनी प्रकट होती है उतनी प्रबंध-परिणति में नहीं। अनिवार्य जीवन-मूल्य के रूप में स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा कर रचनाकार जिस मानवीय-विवेक और मर्यादित-आचरण पर बल देता है वह आस्था के अभाव में धुरीहीन मानव की स्वाभाविक चिंता का शाब्दिक समाधान ही हो सकता है, उसका कोई व्यावहारिक या सम्भावित रूप सामने नहीं आता। फिर भी इतना तो असंदिग्ध है ही कि रचना के उपरांत लगभग एक दशक तक इस रचना की अनेक प्रभावपूर्ण आवृत्तियाँ रेडियो और रंगमंच पर लगतार होती रही हैं। इसकी लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है?

9. भुवनेश्वर : एक दृष्टि
लक्ष्मीकांत वर्मा

हिंदी-नाटक की विधा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाले भुवनेश्वर का व्यक्तित्व उतना ही नाटकीय और सस्पेन्स पूर्ण था, जितना कि विधा की नाट्य कला की विधात्मक अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है। आज जिस स्थिति में हम हैं, उसमें हम यह भी नहीं कह सकते कि भुवनेश्वर जीवित हैं या मृत हो चुके हैं। उन्होंने अपने जीवन में भी उन नाटकीय तत्वों को जीने की कोशिश की, जो सामान्यजन के वश की बात नहीं है। भुवनेश्वर अपने नाटकों में 'कैथार्सिस' को कोई महत्व नहीं देते थे, क्योंकि वह जीवंत यथार्थ के सामने, जीवंत मनुष्य की क्रिया-प्रतिक्रिया से सत्य तक पहुँचने की कोशिश करते थे। अपने जीवन में भी, जितने दिन वे जिये, उन्होंने 'कैथार्सिस' को अपने पास फटकने नहीं दिया। यह बात और है कि जिस तरह वे जीते थे, उसे कुछ संभ्रान्त लोग 'मारविड' कहें, अशोभनीय कहें या घृणित कहें। भुवनेश्वर स्वयं एक दुखान्तक नाटक के एक पात्र की तरह जीने की कोशिश करते रहे। अंतर केवल इतना था कि दुखान्तक नाटक का पात्र एक कृत्रिम रंगमंच पर अपना रोल अदा करने के बाद सामान्य हो जाता है और जिसके विपरीत भुवनेश्वर ने समाज के खुले रंगमंच पर वह दुखांतक रोल अदा किया और सबकी आँखों से ऐसे ओझल हुए कि पता ही नहीं चला कि वे हैं भी या नहीं।

भुवनेश्वर नाम का व्यक्ति अवश्य हमारे बीच में नहीं है, किंतु उसके व्यक्तित्व से भरे-पूरे आधे-अधूरे नाटक हमारे सामने हैं, जिसके माध्यम से उस खोये हुए आदमी की पहचान निकल सकती है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में हिंदी नाटकों को एक अतीत के चलचित्र की नैसर्गिक बानगी में और उनके नाटकों की भाषा चरित्रों के व्यक्तित्व से अधिक नाटकीय हुआ करती थी। जयशंकर प्रसाद एक कुशल नाट्य-शिल्पी थे और उनके नाटकों का रचना-विधान ही ऐसा था, जिसमें भाषा मिश्रित होती थी। अतीत के स्वप्न देखते थे और एक अतीतगामी भाषा के माध्यम से अपनी संवेदनाएँ प्रेषित करते रहते थे। निश्चय ही वह हमारे ह्रदयों को छूती थी, किंतु जीवन के नितांत, सम-सामयिक यथार्थ से उनका सीधा संबंध नहीं जुड़ पाया। नतीजा था कि हिंदी नाटक विधा के

इतिहास के आडम्बर में वे फँस जाते थे। वर्तमान की सानुकूलता और प्रतिबद्धता के प्रति उनकी भाषा मौन थी और पात्र भी मौन थे।

भुवनेश्वर के पात्र में यथार्थ की सौंदर्य की स्थिति और वर्तमान से टकराने की क्षमता भी थी। यही कारण है कि उन्होंने हिंदी की नाट्य-विधा को इन्द्रजाल से निकालकर प्रकाश में खड़ा कर दिया। भुवनेश्वर की मूल समस्या थी कि जीवन के चारों ओर फैली विषमताओं के बीच जो कटु यथार्थ से उपजा हुआ जो सौंदर्य-बोध है, उसे प्रस्तुत करना और हो सके तो मनुष्य के भीतर उसकी आत्म-निष्ठा को एक नए धरातल पर जीने की प्रेरणा देना। उनके नाटक चाहे 'कारवाँ' हो या 'स्ट्राइक' या 'ताँबे के कीड़े' इनं सबमें संदेश की जगह पर आग्रह और वह आग्रह इस बात का है कि क्या मनुष्य जीवन की चुनौतियों के सामने सर्वथा नए ढंग से जीने के लिए तत्पर है और यदि नहीं तो विकल्प क्या है?

नाटक मूलतः दृश्य-काव्य कहा गया है। भुवनेश्वर इस तत्व को मानते हैं, किंतु वह दृश्य के माध्यम से काल को नहीं पकड़ते, बल्कि काल के माध्यम से दृश्य को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इस मर्म को प्रायः आलोचकों ने पहचानने की कोशिश नहीं की है। इसीलिए उनके नाटकों को समझने में कठिनाई होती है। भुवनेश्वर दृश्य को केंद्र में रखकर काल की तलाश नहीं करते थे। इसके विपरीत वह काल को केंद्र में रख कर और तब दृश्य की सर्जना करते थे। काल को केंद्र में रख कर एक ही क्षण बहुदृश्यीय हो जाता था और भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सड़क, मकान, घर, होटल सब-कुछ एक-दूसरे में गड्डमड्ड होकर और एक-दूसरे से जुड़ा हुआ होकर प्रस्तुत होता है। यही कारण है कि उनके नाटकों को मंच पर प्रस्तुत करने का साहस सामान्य रंगकर्मी नहीं करता; क्योंकि रूढ़िवादी रंगशिल्प की मान्यता देश, काल और कर्म की एकता पर बल देती है, जबकि भुवनेश्वर काल को केंद्र में रखकर दृश्य और कर्म की अंतर्क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से नाटक बुनते हैं। इस दृष्टि से भुवनेश्वर का व्यक्तित्व एक ऐसे नाट्य-शिल्पी का है जो मान्यताओं पर नहीं वरन् विपन्नताओं को संग्रहीत करके यथार्थ तक पहुँचना चाहता है।

भुवनेश्वर के बहुत बाद अंग्रेज़ी नाट्य-लेखों में आस्वार्न ने 'एंग्री यंगमैन' नाटक लिखकर जिस प्रकार अस्वीकार वाली दृष्टि को प्रस्तुत किया, उसके कुछ पहले और बाद में अंग्रेज़ी में 'एब्सर्ड' नाटकों की बाढ़-सी आ गई थी। यदि यह अतिशयोक्ति न माना जाए तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जिन एब्सर्ड नाटकों की परम्परा अंग्रेज़ी साहित्य में 1958-60 के बीच आई, उसकी पूर्व भूमिका हिंदी के नाटककार भुवनेश्वर में 1936 से 1940 के बीच मिल जाती है। यह हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है कि उसने भुवनेश्वर की प्रतिभा का मूल्यांकन नहीं किया और नाट्य-विधा में युग-प्रवर्तक की भूमिका निभाने वाले शिल्पी और कलाकार को विक्षिप्त होकर समाप्त होने दिया। अंग्रेज़ी

का मुहावरा है 'सब लाइम (उदात्त) अपने चरम उत्कर्ष में अपनी अद्वितीयता के कारण एब्सर्ड (अर्थहीन) हो जाता है'; लेकिन यह भी सत्य है कि कभी-कभी नितांत अर्थहीनता में इतने गंभीर अर्थ निहित होते हैं, जिनको व्यक्त करने के लिए भाषा अपर्याप्त होती है और शायद इस अपर्याप्तता के कारण ही नृत्य, संगीत, अभिनय, मुद्रा आदि का आविष्कार हुआ होगा। भुवनेश्वर के नाटकों में शब्द और अभिनय अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि शब्दाभिनय के संयोग से यथार्थ प्रेषित होता है। इसीलिए उनके नाटक एक प्रतीक से शुरू होते हैं और इस प्रतीक को संपूर्ण निचोड़कर उसकी परिसमाप्ति कर देते हैं। इसीलिए उनके नाटकों के मंचन में एक दूसरी कठिनाई जो सामने आती है, उनकी अर्थहीनता इतनी सार्थक होती है कि यदि नाटक के निर्देशक की गहरी दृष्टि नहीं है, तो वह संप्रेषणीय होने के बजाय निरर्थक लगने लगेगा। वस्तुतः निरर्थकता से सार्थकता की व्यंजना देना भी शब्द और अभिनय को बहुआयामी बनाता है और इस बहुआयामी परिप्रेक्ष्य को जिस तरह भुवनेश्वर अपने नाटकों में सँजोते और सँवारते हैं, वह अपने-आप में एक अनुभव है।

हिंदी एकांकी के बहुत-से जनक हैं, किंतु मैं भुवनेश्वर को ही आधुनिक रंगमंच का जनक मानता हूँ, क्योंकि आधुनिकता काल-सापेक्ष नहीं है। वह मूलतः चेतना और भावबोध का नाम है। इस अर्थ में भुवनेश्वर का व्यक्तित्व केवल आधुनिक है और शायद अपने समय से पहले पैदा होने का कारण वह स्वयं, उनकी रचनाएँ, उनके पात्र, सभी इस अभिशाप से अभिशप्त हैं। भुवनेश्वर के नाटकों में काल की अनुभूति भी इन्हीं माध्यमों से होती है, क्योंकि न तो वह मेकेनिकल टाइम में जीते हैं और ना ही गणितज्ञ के काल में। इसीलिए वह जिस काल में बँधते हैं, वह हाथ से छुटा हुआ क्षण है, जिसे पकड़ पाना सदैव कठिन है।

भुवनेश्वर के चरित्र को उनकी अंग्रेज़ी की कविताओं में ज्यादा विस्तार के साथ देखा जा सकता है। यह भी एक दुर्भाग्य ही है कि उनकी संपूर्ण कविताएँ या तो नष्ट हो गई हैं या जिन लोगों के पास हैं, उन लोगों ने प्रकाशित नहीं कीं। अपने जीवन के अंतिम दिनों में भुवनेश्वर माँगे जाने पर नाटक लिखते थे और शेष समय में रद्दी कागज़ों पर अंग्रेज़ी कविताएँ लिखा करते थे। हमने उनकी कुछ कविताओं को शमशेरबहादुर सिंह द्वारा अनुवाद कराकर 'निकष' में छापा था। उन कविताओं को पढ़कर कोई भी कह सकता है कि भुवनेश्वर की मानसिकता क्या थी और उनके भीतर जो कलाकार था, वह किस अभीष्ट के लिए बेचैन था। ओल्ड बाइबिल के (रूथ), (मिथ) को आज की विसंगतियों के संदर्भ में भुवनेश्वर ने अपनी अंग्रेज़ी कविताओं में जैसा प्रयोग किया था, वह उनकी प्रतिभा का अद्वितीय अंग था। यह उनकी अतिवादी दृष्टि का ही नमूना था कि वह अंग्रेज़ी की कविताओं को 'हाड़ा' के नाम से प्रकाशित करते थे। शाहजहाँपुर का रहने वाला यह

व्यक्ति क्यों और किसलिए अपने को हाड़ा राजपूत कहता था, कहना कठिन है। किंतु उनकी कविताएँ यह तो दर्शाती ही थीं कि वह कहीं पर अपनी भावनाओं में राजपूती टेक की दृढ़ता चाहते थे। एक विलक्षण बात यह भी थी कि निराला की भाँति अपने जीवन के अंतिम काल में वह केवल अंग्रेज़ी में बोलते थे और अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखते थे। कुछ नाटक भी अंग्रेज़ी में लिखे हैं, जैसे - 'एलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क'। उस ज़माने में मैंने इन नाटकों को अंग्रेज़ी में पढ़ा और विचित्र बात यह थी कि सारे भारतीय संदर्भ में 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' की राजनैतिक गुत्थियों को भारतीय परिवेश और भारतीय पात्रों द्वारा व्यंजित किया गया था। केवल नाटकों के शीर्षक 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' थे। इसका आशय क्या था, यह जानना कठिन है, किंतु उन दो अंग्रेज़ी नाटकों -- 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' की 'एब्सर्डिटी' को बड़े ही 'पेथेटिक' रूप में प्रस्तुत किया था।

भुवनेश्वर के नाटकों और कविताओं को पढ़ने से यह भी पता चलता है कि इतिहास-तत्व और समाजशास्त्रीय घेरेबंदी में आदमी इतना अगंभीर, गंभीरता का पात्र बन जाता है, अपने आप में मूल्यवान अनुभव है। भुवनेश्वर का बौद्धिक अभिजात्य बड़ा ही कठोर और मर्मपूर्ण था, क्योंकि देखने में सर्वहारा वेशभूषा में रहने वाले भुवनेश्वर में एक अभिजात्यपूर्ण डिक्टेटरी का ताना-बाना था और शायद इन्हीं दो विरोधाभासों के बीच उनका व्यक्तित्व विक्षिप्त तो नहीं हो पाया, किंतु बिखर अवश्य गया। यही कारण है कि मैं भुवनेश्वर को विक्षिप्त व्यक्ति नहीं मानता हूँ। हाँ, ऐसा व्यक्ति जरूर मानता हूँ, जिसने अपने अभिजात्य संस्कारों के तहत अपनी अद्वितीय प्रतिभा को समेटने की कोशिश नहीं की। वस्तुतः प्रतिभा को हमारे यहाँ शेरनी का दूध कहा गया है, जो केवल सोने के पात्र में ही टिक सकता है। यदि पात्र कच्चा हुआ तो दूध पात्र तोड़कर निकल जाता है। भुवनेश्वर के व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल्यांकन से जिस अद्वितीय प्रतिभा की झलक मिलती है, उसका पात्र, उनका काल तथा पार्थिव शरीर नहीं था। यही कारण है कि जब उसे उचित पात्रता नहीं मिली तो वह पात्र तोड़कर निकल गई और स्वयं भी बिखरी और पात्र भी बिखरा।

बहुत कम लोग जानते हैं कि भुवनेश्वर एक अच्छे चित्रकार भी थे। उनकी बहुत-सी कविताएँ और बहुत-से 'स्कचेज' शमशेरबहादुर सिंह और स्वर्गीय सुरेन्द्रपाल सिंह के पास सुरक्षित थीं। आज वे कहाँ हैं, कहना कठिन है। किंतु मुझे याद है कि उन रेखाओं में बड़ा दम-खम हुआ करता था और उन्हें किसी भी आधुनिक कलाकार के 'स्केच' की तुलना में रखा जा सकता था।

लिखने को तो भुवनेश्वर के संस्मरण अनेक लिखे जा सकते हैं, किंतु इतना सब लिखना केवल यही जताना होगा कि हम भुवनेश्वर को जानते हैं; किंतु यह कहना कोई बड़ी बात

नहीं है। मुख्य बात यह है कि क्या हमने भुवनेश्वर को उनके कृतित्व द्वारा जानने की कोशिश की? क्या हमने आधुनिक संवेदना के संदर्भ में भुवनेश्वर की कृतियों का मूल्यांकन किया? क्या कभी यह जानने की कोशिश की कि भुवनेश्वर मानसिक रूप से कितने गहरे बुद्धिवादी थे? यह सही है कि भुवनेश्वर ने अपनी कृतियों में भगवान का नाम नहीं लिया है, किंतु ईश्वर द्वारा रचित इस सृष्टि की जो व्याख्या की है, वह भी एक ईश्वरीय महिमा की निरर्थकता और यथार्थ में कठोरता -- दोनों को प्रमाणित करती है। इस संदर्भ में लखनऊ के कृष्ण नारायण कक्कड़ से बहुत-कुछ जाना जा सकता है, क्योंकि मैंने सुना है कि जब भुवनेश्वर विक्षिप्त नहीं घोषित किए गए थे, उस समय के बहुत-से संस्मरण उनके पास हैं।

अंत में, भुवनेश्वर को उनका सही स्थान देने के लिए कोशिश की जानी चाहिए और कम से कम विश्वविद्यालय के शोध-छात्रों को इसमें लगाना चाहिए, ताकि उनका सही मूल्यांकन सामने आ सके।

10. नये नाटक के जन्मदाता : भुवनेश्वर

विपिन कुमार अग्रवाल

भुवनेश्वर नये नाटक के जन्मदाता कहे जाते हैं। शायद इसीलिए अब तक गंभीर साहित्यिक अध्ययन के दायरे के बाहर पड़ते रहे। जब हमारी समझ अपने पूर्वकाल के बारे में कच्ची और अधूरी थी, तब इस तरह का नये से दुराव मायने रखता था। जब तक हम मानते थे कि मनुष्य भूत से भविष्य की ओर बहता हुआ किनारे पर रेत की तरह साहित्य के ढेर जमा करता चलता है और अपनी समझ बढ़ाता चलता है, तब तक नए साहित्य का समुचित अध्ययन नामुमकिन था। आज ऐसी स्थिति नहीं है। हमारा पुराने का ज्ञान गहरा और व्यापक हो गया है। आज हम जानते हैं कि यह ज्ञान भी वर्तमान की खोजों की रोशनी में बदलता रहता है, कामचलाऊ भर होता है। जब अतीत का ज्ञान टिकाऊ नहीं है और वह गंभीर अध्ययन का विषय बन सकता है, तब निश्चय ही वर्तमान का अस्थायीपन आड़े नहीं आना चाहिए, बल्कि सही दृष्टिकोण यह माना जाने लगा है कि वर्तमान अतीत का क्षितिज है या चेहरा है, उससे जुड़ा हुआ भी, उससे अलग भी — महज अगली कड़ी नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर कोई कारण नहीं मालूम होता कि नए नाटक और उसके जन्मदाता को गंभीर आलोचना का विषय न माना जाये। उलटे ऐसा न करना अपने उत्तरदायित्व को न निभाना होगा।

भुवनेश्वर ने जब लिखना शुरू किया, तब हिंदी साहित्य व्यक्तिवाद से मुक्त नहीं हो पाया था। लोगों में आत्मविश्वास था, निजी आंतरिक बल से और लगन से कठिनाइयों पर काबू पा लेने का शौक था। इसलिए त्रासदी प्रायः व्यक्तिगत होती थी। उसके लिए निजी उत्तरदायित्व स्वीकार करना अपने को गौरव प्रदान करता था। अपराध-भावना से ओत-प्रोत होकर अपने को दण्ड देकर, उऋण होना एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। किसी की छुपी अपराध-भावना को या दमित इच्छा को उजागर करना उसे लांछित करना था। इसीलिए 1936 में प्रकाशित 'कारवाँ' के नाटकों में भुवनेश्वर कथावस्तु से, फ्रायड के मनोविज्ञान से, लकीरी उतराव-चढ़ाव से, जीवन के किसी विशेष पहलू से गंभीरतापूर्वक उलझते दीख पड़ते हैं। फलस्वरूप, आरंभिक रचनाओं में भुवनेश्वर प्रचलित नाटक लिखने की प्रथा से बँधे हुए हैं। 'यथार्थ कथानक में बैठकर आता है, मरूड़ जाता है। हर प्रेम-समस्या

त्रिकोण में बँट जाती है। प्रायः समस्त नाटककार दो पुरुषों को एक स्त्री के आमने-सामने खड़ाकर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है।' भुवनेश्वर।

विश्वयुद्ध (1939-45) ने सारी दुनिया में विवेक और संतुलन के प्रति जो विश्वास था, उसे तोड़ दिया। सारे ज्ञान और विज्ञान के बीच भी मनुष्य बर्बरता और हवस से पागल हो सकता है, यह सत्य उभरकर आया। सारा बौद्धिक वर्ग जब इस युद्ध में हिस्सा लेकर 1945 में उभरा, तो हैरानी की हालत में था। जिस रेडियो ने उसे दूर-दूर का संगीत सुलभ किया था, वही रेडियो दूर-दूर बम गिराने के काम आया। जिस विज्ञान ने सुख-सुविधाएँ और तर्क पर विश्वास दिलाया था, उसी ने विनाश के ऐसे साधन जुटा दिए कि उन्हें देखकर सारे तर्क, सारी समस्याएँ, सारी संभावनाएँ, सारे संबंध उलट-पलट गए। तब निर्माण कर लेने के स्वप्न का स्थान 'सब मिटा देने के भय' ने ले लिया। आत्मविश्वास हास्यास्पद लगने लगा। निजी बल सिकुड़ गया। ऐसे भय में जीना स्वाभविक नहीं हो सकता। यह एक अजब और अनहोनी के तनाव के बीच बेहद चिड़चिड़ेपन के साथ जीना है। सबने इसको महसूस किया। सबने पाया कि यथार्थ माने-गए-यथार्थ से भिन्न है। उसमें कथानक है। आज इन्सान चाँद की ओर जा रहा है और इन्सानियत रसातल की ओर। अजब हैरानी है!

ऐसे में राजा-रानी की कहानी कहना, प्रेम के त्रिकोण रचना, वियोगी-वियोगिन का नाटक लिखना, ड्राइंगरूम के लिए पनघट के चित्र बनाना मन बहलाव के, मनोरंजन के साधन तो हो सकते थे, पर कला नहीं। भुवनेश्वर हिंदी के पहले लेखक थे, जिन्होंने इसे महसूस किया और अपने को बदला। यह ध्यान देने की बात है कि नाटक का विकास वास्तव में विश्वयुद्ध के बाद से ही आंरभ हुआ। भुवनेश्वर का 'ताँबे के कीड़े' 1946 में आया, जेने का 'द मेड्स' पेरिस में 1947 में खेला गया, आयनेस्को का 'बाल्ह प्रिमाडीना' 1950 में मंच पर आया और बैकेट का 'वेटिंग फॉर गोदो' 1952 में। आरंभ में इनका बहुत विरोध हुआ। दर्शकों और आलोचकों ने इनकी हँसी उड़ाई, जैसा कि हर नए दौर के साथ होता है।

सर्वव्यापी भय और मृत्यु को स्वीकार करने का सबसे सक्षम ढंग अगर है, तो यही कि जीवन को और जीने लायक बनाना है। अपनी कल्पना-शक्ति से और इरादे के मानवीकरण से हम उस पर काबू पा सकते हैं, उससे भागकर हम न जी सकते हैं, न दूसरे को जीने का सहारा दे सकते हैं :

मस. प. : नहीं.....मुझे जरूर नाश करना चाहिए। मैं अपना डर दबा सकता हूँ, लेकिन मैं उसे उखाड़ फेंकना चाहता हूँ।.......क्या मुसीबत है! संसार में भय के नाश करने का मतलब है संसार का नाश करना।

परे. रमणी : लेकिन तुम भय पैदा ही क्यों करते हो? मालूम होता है, तुम सिर्फ भय ही भय खाते हो, तुम मुझे कुछ बतलाते क्यों नहीं?

मस. प. : **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन .... करना होगा।

--'ताँबे के कीड़े'

यदि शब्द झूठे पड़ गए हैं, तो हमें हरकत की भाषा का सहारा लेना पड़ेगा। हरकत की भाषा हमारे जीवन का अंग है। कभी हम हरकतें ज्यादा करते हैं और कभी बोलते अधिक हैं। दोनों का संतुलन ही पूरी भाषा है। पर जब एक पर से आस्था उठ जाती है, तब दूसरी उसकी जगह ले लेती है। आज लगता है, बहुत-से शब्द अर्थ खो बैठे हैं या सम्प्रेषण के लिए फालिजमय हो गए हैं। इनके सहारे हम कहना कुछ चाहते हैं, कह कुछ और जाते हैं। इसलिए हरकत की भाषा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया है। भुवनेश्वर ने 'ताँबे के कीड़े' में इस भाषा का सशक्त उपयोग किया है :

मस. प. : ... मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किए बताया जा ही नहीं सकता।

(अनाउन्सर हँसती है और झुनछुना बजाती है)

थका आ. : ...तुमने क्या शब्द कहा था?

थका आ. : मैं सीटी बजाऊँगा। मैं अपनी ताकत सीटी बजाने में खत्म कर दूँगा।

मस. प. : मैं हर वक्त सोते-जागते देखता हूँ, रचता हूँ.... और कायम करता हूँ।

परे. र. : कभी-कभी वह अपने दिमाग को आराम देने के लिए ऊटपटाँग बातें करने लगते हैं...पागल आया...देखती नहीं है, वह सिर्फ़ ढूँढ़ती है...न जाने क्या–और कहाँ...

–ताँबे के कीड़े'

हरकत की भाषा के महत्व को जितने गहरे ढंग से भुवनेश्वर ने समझा है, उतना उनके समकालीन लेखकों में से किसी ने नहीं समझा। उनकी हरकत की भाषा को बिना पहचाने उनका नाटक अजीब, शिथिल और निरर्थक लग सकता है। पर इससे एक बार अवगत हो जाने पर सब कसा हुआ, माने से भरा हुआ, आवश्यक और बिल्कुल सही लगने लगता है। यदि सही भाषा का चुनाव किसी कृति की सफलता का मापदंड माना जाये तो 'तांबे के कीड़े' एक अद्वितीय रचना है। भुवनेश्वर के सामने दो रास्ते थे–या तो

वे सृजन करते ही नहीं, यदि करते तो हरकत की भाषा, साधारण बोल-चाल की भाषा और असाधारण कल्पना का सहारा लेते। उन्होंने दूसरा रास्ता चुना।

किसी समय की विचार-पद्धति और कला की बनावट के लिए यह कहना कि अच्छा होता कि वे विभिन्न प्रकार के होते, यह कहने के बराबर है कि वे होते ही नहीं। हर समय के पाठक और दर्शक एक माँगों के वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिसके बीच कला या साहित्य का आकार ढलता है, पनपता है। वास्तव में यह रिश्ता दोहरा है। साहित्य लौटकर रुचि को प्रभावित करता है और नयी माँगों को जन्म देता है। जब ऐसा नहीं होता, तो जो लिखा जा रहा है, या तो वह साहित्य नहीं है, लेखक की मनमानी ही है बस, या वह विधा जैसे–उपन्यास, कविता या नाटक, उस समय के तनावों का बोझ ढोने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसलिए एक ही समय हर विधा अपनी पूरी उठान पर नहीं होती या बराबर ध्यान आकृष्ट नहीं करती। आज लगता है कि लोगों का ध्यान नाटक की ओर ज़्यादा जा रहा है।

नया युग पुराने युग से कई माने में भिन्न है। उदाहरण के लिए, आज न कोई व्यक्तिगत स्तर पर अपराधी है और न उत्तरदायित्व को महसूस करता है। लगता है, हर घटना सभी को छूती है। उसके लिए हम सभी किसी-न-किसी अर्थ में उत्तरदायी हैं। अतः आज की त्रासदी अजीबपन में, बेतुकेपन में, कल्पनातीत में, विकृत में, भाँड़पन में व्यक्त होती है, यथार्थ की तरह कथावस्तु-विहीन हो जाती है। 'ऊसर' का गंभीर ट्यूटर हट जाता है और उसके स्थान पर हँसती झुनझुने वाली 'ताँबे के कीड़े' में मिलती है। यहाँ सभी आवश्यक तत्वों का समावेश है–कथा-विहीनता, हरकतें और प्रतीकात्मकता। इस अर्थ में भुवनेश्वर अपने समकालीन सभी कवियों, उपन्यासकारों और नाटककारों से आगे हैं, आगे आनेवाले मूल्यों के प्रति आगाह हैं।

यथार्थ के बीच हास्य, व्यंग्य, उछल-कूद और बेतुकेपन के अनोखे वातावरण की सृष्टि कर भुवनेश्वर सामयिक त्रासदी को और गहरा बना देते हैं। इस तरह के वातावरण के कलात्मक उपयोग के कई पहलू हैं। बैकेट, आयनेस्को, बादल सरकार, लक्ष्मीकांत वर्मा और शम्भुनाथ सिंह के नये नाटक-प्रयोग इसके साक्षी हैं। इस वातावरण में एक आकर्षण होता है, जो दर्शक को अनायास अपनी ओर खींचता है, उलझाता है, दुनिया के शोर-गुल से अलग करता है और एक ऐसे आधान या पात्र का सृजन करता है, जिसमें पूरा नाटक समाया हुआ दीखता है। यह कैसे मुमकिन होता है? इसे जानना नये नाटक को समझने के लिए आवश्यक है।

कला का काम है जीवन के या पदार्थ के विभिन्न, विशेषकर खोये, छुपे या दबे पहलुओं को उजागर करना। हो सके तो सुबह के बढ़ते बाहरी और अन्दरूनी शोरगुल के बीच

'चिड़िया की आवाज' को हमें सुनवाना। अक्सर यह भी कहा जाता है कि कला ऊपरी तहों के भीतर जाकर यथार्थ के आंतरिक और गहरे अर्थों को ढूँढ़ निकालती है।

हर घटना या वस्तु का एक समय में एक ही पक्ष उभरकर आता है। जब एक गुण उभरकर आता है, तब उसके दूसरे गुण छुप जाते हैं। यह हर अंकन की सीमा है, बेबसी है। नया नाटककार इस सीमा को, इस बेबसी को शक्ति में बदल लेता है।

हर घटना एक चौखट का काम करती है, जिसमें कसी गयी वस्तु का एक रूप आकार ग्रहण करता है। यदि यह चौखट केवल साधारण तार्किक स्थितियों से बनाई गई, तो बहुत मुमकिन है कि वस्तु का परिचित रूप, सतही रूप ही आकार ग्रहण करेगा। हद-से-हद उसमें कुछ दृष्टिकोण का या महत्व का अन्तर होगा। ऐसे गुण को, ऐसे आकार को उजागर करना, जिसको पूर्व इतिहास के आधार पर आशा न हो, विशेष कला आग्रह की माँग करता है। छुपी और नयी संभावना या पहलू को ढूँढ़ने के लिए यदि हँसना और बेतुका भी होना पड़े तो सौदा मँहगा नहीं पड़ेगा।

विज्ञान के प्रभाव से जीवन की गति इतनी तीव्र हो गयी है, दवाओं की उपस्थिति इतनी घनी हो गयी है कि किसी स्थिति को अलग कर, देर तक फोकस में रखकर, उलट-पलटकर निरख ही नहीं पाते हैं। रोज नयी चीज़ों का सामना करना पड़ता है और पुरानी चीजें छूटती जाती है। व्यवस्थित अनुभव का स्थान अनुभवों की भीड़ ने ले लिया है। आज किसी का मन कई कारणों से घबरा सकता है–सुबह भुट्टा खा लेने की वजह से, आयकर बढ़ जाने की वजह से, वियतनाम की लड़ाई की वजह से या अन्तरिक्ष-यात्री के खो जाने की वजह से। इन कारणों को सुलझाना नामुमकिन हो सकता है। हर आदमी जैसे सारी दुनिया से उलझा हुआ है। ऐसे में यदि हम कोई सूक्ष्म और संवेदनशील बात कहना चाहें तो कैसे कहें, कहाँ कहें? गतिशील दुनिया में कोई शान्त स्थान नहीं है, जहाँ बाहरी प्रभावों का हस्तक्षेप न हो। स्थिति कुछ वैसी हो जाती है कि कैसे भयंकर तूफान में एक जलते दिये की लौ के अपने स्वाभाविक कंपन को दिखाया जाये ! एक ही रास्ता रह जाता है। एक छोटे-से स्थान पर तूफान से आड़ कर दें और वहाँ दिये को रख दें। मंच पर घुमड़ते यथार्थ के बीच एक अजीब घटना इसी आड़ को पैदा करती है।

कथाविहीनता, हास्य-व्यंग्य और बेतुकी स्थितियों के जाल में ऐसी सम्मोहन शक्ति होती है कि दर्शक नाटक की स्वतः पूर्ण दुनिया का हिस्सा बन जाता है। कुछ प्रभाव वैसा ही होता है, जैसा कि वैज्ञानिकगण प्रयोग करते समय यन्त्र में पैदा कर लेते हैं। अनावश्यक प्रभावों (शोर) को हटाकर, दबाकर, एक चुने हुए प्रभाव के असर को नापने या दिखलाने (चिड़िया की आवाज़ को सुनाने) जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। एक बार ऐसी स्थिति पैदा हो जाने पर वस्तु का या स्थिति का वह आकार, वह पहलू, उभर जाता है, दीखने

लगता है, जो अन्य बाहरी प्रभावों की उपस्थितिवश दबा था, नहीं दीख रहा था। इसका संबंध भाषा से भी है।

नाटक का बोलचाल की भाषा से दोहरा संबंध होता है। एक ओर वह अपनी प्रकृतिवश उस पर आधारित होता है, दूसरी ओर वह बोलचाल की भाषा को बनाता और उसमें कुछ जोड़ता भी चलता है। तकनीकी भाषा को छोड़ दें, तो बोलचाल के अधिकतर शब्द बहुआयामी होते हैं। इसीलिए एक ही शब्द कविता, उपन्यास या नाटक में नाना प्रकार से उपयोग में लाया जाता है। अलग-अलग समय में, सन्दर्भ में, अलग-अलग अर्थ ध्वनित करता है। जब समाज किसी पूर्वनिश्चित ध्येय से पीड़ित नहीं होता, तो वह शब्द से किसी एक विशेष वर्ग को बराबर ध्वनित करने की माँग नहीं पैदा करता। जब समाज किसी संकट की स्थिति में होता है, जैसे--युद्धरत किसी तानाशाह के मातहत या अति वैज्ञानिकता से पीड़ित, तब सारा वातावरण एक दिशा की ओर ऐंठा हुआ होता है। यथार्थ का एक पहलू या चेहरा ही उभरकर आता है। ऐस में शब्द का वही अर्थ बार-बार सामने आता है, जो इस चेहरे पर प्रक्षिप्त होता है। शब्द अपने बहुआयाम से वंचित होकर घटकर, एक आयाम का या लकीरी हो जाता है। ऐसे लकीरी शब्दों से विज्ञापन रचा जा सकता है, नेता अपनी बात कह सकता है, पर कविता नहीं लिखी जा. सकती। प्रायः कविता में अपने में इतनी शक्ति नहीं होती कि लकीरी भाषा को पुनः बहुआयामी शब्दों से भर दे। इसके लिए नाटक का सहारा लेना पड़ता है। कविता खुद नाटकीय हो जाती है या कवि ही नाटक लिखने लगते हैं।

यदि शब्द की एक-आयाम की कैद से निकालकर फिर बहुआयाम का मुक्त बाना पहनाना है तो निश्चय ही हमें यथार्थ का कोई अन्य चेहरा या पहलू उभारना पड़ेगा, जो प्रक्षेपक का काम कर सके और भाषा के दबे आयाम को प्रक्षेपित कर सके। संकटकाल में या उसके बाद यथार्थ का कोई साधारण, बहुपरिचित साहित्यिक पहलू उभारने की कोशिश भी की जाए, तो दर्शकों का मन उस पर टिकता नहीं, ध्यान छिटककर विषाक्त, ऐंठे वातावरण से जुड़ जाता है और कला विलास लगने लगती है, शब्द अर्थ खोने लगते हैं। ऐसे में नाटककार असाधारण, ऊलजलूल या बेतुकी स्थिति पैदा कर दर्शक को चौंकाकर बाहर के वातावरण को भुलवा देता है और एक नया संदर्भ खड़ा कर देता है। इस प्रकार के अलगाए माहौल में शब्द के दबे अर्थ सुनाई पड़ने लगते हैं, 'चिड़िया की आवाज' तैरकर आने लगती है और शब्द नये अर्थ को प्रक्षेपित कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। शब्द अपनी सूक्ष्म अनुगूँजों सहित बज उठता है, सुनाई पड़ने लगता है। शब्द पुनः जादूमय हो जाता है। भाषा बहुआयामवाली हो जाती है। उससे छनकर प्रेषित हुआ यथार्थ रंगीन और गहरा हो जाता है। एक तरह से खोया हुआ यथार्थ हमें फिर वापस मिल जाता है।

प्रयोगशाला-जैसा गझिन और एकरंगा वातावरण जितना भी हमारे परेशानी भरे उलझे जीवन में मुमकिन हो सकता है, उतना नया नाटककार चरम-स्थिति, निरर्थक स्थिति या हास्य-व्यंग्य की स्थिति को सहसा मंचपर उँड़ेलकर हासिल कर लेता है। जैसे– 'डूबते' आदमी को ही 'तिनके' में 'सहारा' दीख सकता है, वैसे ही यथार्थ के बीच बेतुकी स्थिति, वस्तु या घटना के अर्थ को विस्तार देती है, परिचित तथा प्रत्याशित यथार्थ में कुछ जोड़ती है। तिनके के सहारा देने की छुपी शक्ति को ढूँढ़, निकालने के लिए, अर्थमय लगने के लिए, डूबते (चरम-स्थिति) आदमी का दृष्टिकोण आवश्यक है। आत्महत्या करना या डूबना साधारण दैनिक क्रियाएँ नहीं हैं। इनसे आरंभ करना असाधारण लग सकता है। पर यहाँ से चलकर हम कुछ नयी संभावनाओं के प्रति आगाह हो सकते हैं, तो यही सही ढंग है। प्रेम में और कला में कुछ भी वर्जित नहीं होता। जैसे– 'डूबते को तिनके का सहारा' मुहावरा शब्दार्थ में अजीब होते हुए भी एक अर्थ देता है, वैसे ही नया नाटक स्थितियों के तारतम्य से ऊटपटाँग होते हुए भी कलात्मक अनुभव देता है। नया नाटक बेमेल स्थितियों से बना मुहावरा है।

हमारे जीवन में घटनाएँ किसी कथानक के अनुसार नहीं घटतीं, न ही रोजमर्रा की घटनाओं में सभी हिस्सा लेने वालों को हम लोग जानते हैं। अक्सर सोचने पर–हम कौन हैं, क्यों हैं, ऐसे सरल दीखते प्रश्नों के उत्तर भी नहीं मिलते। जब तक जो नाटक हम पढ़ते या देखते आए हैं, उनमें चरित्रों का परिचय देकर, उनके अनुरूप कथानक में उन्हें रखकर, किसी गम्भीर दीखते सामाजिक या अन्तरमन के प्रश्न का अन्त में उत्तर देने की कोशिश मिलती है। ऐसे नाटकों ने एक खास नाटकीय यथार्थ का हमें आदी बना दिया है। जो बहुत साफ-सुथरा, सलीके से सजा हुआ और उत्तर देने की गारण्टी से लदा हुआ है। नया नाटक उत्तर देने का दम नहीं भरता। वह यह भी नहीं मानता कि किसी प्रश्न का हर संदर्भ में कोई निश्चित, सही, शाश्वत उत्तर है। भुवनेश्वर इस आधुनिक निष्कंर्ष पर बहुत पहले पहुँच गये थे। "एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है।"

–भुवनेश्वर

नया नाटक अजीब इसलिए नहीं लगता कि उसमें यथार्थ में होने वाली घटनाएँ गायब हैं, बल्कि इसलिए लगता है कि उसमें अब तक आदत से बने नाटकीय यथार्थ का भ्रम टूटता है।

(लड़के हँसते हैं।)

थका अ. : अच्छा बच्चो, अब एक पहेली बूझो **(ताली बजाकर पटु लहजे में...)** कालेज के बच्चो, बूझो–क्या तुम ऐसी चिड़िया का नाम बता सकते हो, जो उमड़ती निडर घटाओं के बीच नाचती है, जिसके पर में आठ रंग होते हैं,...पर...जो कुत्ते की तरह भौंकती हैं?

ए. ल. :	**(रूआँसा)** नहीं।
थका अ.:	**(खुशी से तालियाँ पीटकर नाचने लगता है।)** तुम नहीं बता सकते, तुम अभी बच्चे हो। मैं जानता था, तुम नहीं बता सकोगे। ...अरे मोर... मोर मोर,...तुम नहीं जानते? ... मोर...।
ए. ल. :	**(कड़ककर)** लेकिन मोर भौंकते कहाँ हैं? **(परेशान रमणी की हँसी उभरती है।)**
थका अ.:	**(गंभीर)** यही तो भेद है और नहीं तो तुम बूझ न लेते, और इसमें मजाक ही क्या था?
परे रमणी :	**(जैसे चौंककर)** मुझे नहीं मालूम, मैंने तुमसे शादी क्यों की? **(अनाउन्सर झुनझुना बजाती है।....)**

–'ताँबे के कीड़े'

आदमी यथार्थ के अजीबपन से उतना नहीं चौंकता, जितना भ्रम के टूटने से। भ्रम के टूटने पर वह अपने को असहाय, अरक्षित और बेपनाह पाता है। इतना हो जाने पर नाटककार दर्शक को उकसाता है कि वह नाटक में हिस्सा ले :

"जिन्दगी और नाटक का प्राबलम.........एक ही है, यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर कर देना और उनमें एक केन्द्रीय महत्व हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए।"

–'ताँबे के कीड़े'

यदि दर्शक ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने बचाव के लिए नाटक को ही अस्वीकार करेगा:

"...इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खामखाह भरम में डाल रहा है।"

–'ताँबे के कीड़े'

यदि नाटककार सफल हो गया और दर्शक अपने को नाटक का एक पात्र मानने के लिए तैयार हो गया (यह स्थिति नाटक के किसी एक पात्र से एकात्मकता महसूस करने से सर्वथा भिन्न है) तो दर्शक खुद अपने को समझने की स्थिति में आ जायेगा। यह समझ अपने भ्रम के बारे में, अपने बचाव के बारे में, अपने छिछलेपन के बारे में, अपने परम्परागत फूहड़पन के बारे में, या अपने बेकारपन के बारे में हो सकती है। एक बार अपने को और अपने चारों ओर के ढाँचे को इस प्रकार जान लेने के बाद वह जब बाहर

संसार में वापिस जाता है, तब उस संसार को इस नयी समझ के दृष्टिकोण से देखता है। यदि ऐसा होता है तो प्रश्नों का बिना उत्तर दिये ही नये नाटक का महत्व है।

नये नाटककार का काम बहुत कठिन है। बेतरतीब वार्तालाप, बेढंगी परिस्थितियों और अपरिचित पात्रों को नाटक में निभाना लेखक के लिए एक नये प्रकार के अनुशासन और चौकसी की माँग करता है। भुवनेश्वर अपने आरंभिक नाटकों में भी कथानक से बाहर के साधारण बातचीत के टुकड़े कहीं-कहीं इस तरह पिरो देते हैं कि यथार्थ दमक उठता है :

ट्यूटर : **(नीचे नजर, हाथ से हाथ दबाए)** मैं आपसे कुछ कहना चाहता था।

गृहस्वामी : **(बाहर की आवाजों को सुनते हुए)** मैं सब समझ सकता हूँ, यह आपकी मेहरबानी है। पर मैं मज़बूर हूँ। आमदनी का यह हाल है!

ट्यूटर : मुझे अफसोस है।

गृहस्वामी : **(कुछ समझ नहीं पाता)** तो तुम बाईसिकिल पर कहाँ गये थे?

ट्यूटर : मैं साईकिल पर कहीं नहीं गया...मैं गया ही नहीं।
(एकबारगी रुक जाता है।)
(सन्नाटा हो जाता है। पर यह साफ है कि किसी का बोलना ज़रूरी है।)

गृहस्वामी : **(टाँगें हिलाते हुए)** मेरा जिन्दगी का एटीट्यूटड बिल्कुल मुख्तलिफ है। तुम अपने सोशलिज्म-ओशलिज्म के जोश में...।

—'ऊसर'

यहाँ साईकिल के बारे में वार्तालाप कहीं कथानक को आगे नहीं बढ़ाता, पर उसके बिना नाटक कुछ यथार्थ से सूना अधिक हो जाता।

एक बार नया नाटक जब साहित्य में आ गया, तो वह उसमें एक साधारण योगात्मक नहीं, वरन् गुणात्मक जोड़ देता है। जैसे – मोटर का आना शहर के यातायात में एक और साधन का आना नहीं है, वह बाहर की बनावट को, सड़क को बदल ड़ालता है, उसी प्रकार नया नाटक सारे साहित्य की भाषा को बदल डालता है। जब मोटर आती है, तब चौराहे के चबूतरे बनने लगते हैं, सड़कें चौड़ी और सीधी की जाने लगती हैं, लोग पटरियों पर चलने लगते हैं, सड़क पर खुलती खिड़कियाँ बन्द होने लगती हैं, कच्ची ज़मीन भरसक पक्की ज़मीन में बदली जाने लगती है, सिपाहियों की संख्या हर जगह बढ़ने लगती है और हर चौराहे पर उसके इशारे पर यातायात ठहरने और चलने लगता है। इतना सब हो जाने के बाद जब तेजी से लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने

की स्थिति में आ जाते हैं, प्रश्न उठने लगता है कि कहाँ जाएँ, क्योंकि मेहमानों के लिए जो लोगों के दरवाज़े अब तक के शांत-स्थिर जीवन में खुले थे, वे बन्द होते लगते हैं। आदमी बदहवास चौड़ी-सीधी सड़कों पर बंद खिड़कियों और दरवाज़ों के बीच तेजी से बेमतलब दौड़ने लगता है। मोटर के आने से सारे शहर का ढाँचा सारे जीवन के रिवाज़ में एक अनपलट अन्तर आ जाता है। नया नाटक ऐसा ही बर्ताव साहित्य के साथ करता है। उसमें एक अनपलट अन्तर ला देता है। भाषा को, उसके उपयोग करने के ढंग को बदल डालता है। लौटकर इसका प्रभाव किनारे पर खड़ी अन्य साहित्यिक विधाओं पर भी पड़ता है, पुराने पट बंद हो जाते हैं, नयी ओर के नये पट खुल जाते हैं। वहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रगति रुक जाती है, संस्कृति विलुप्त हो जाती है। जैसे—मोटर के आने को न पहचानना घातक हो सकता है, वैसे ही नये नाटक के प्रति उदासीन होना हमें अवरुद्ध कर सकता है। दुर्भाग्यवश हिंदी-साहित्य में वह दकियानूसीपन अब तक बना रहा है। 'ताँबे के कीड़े' को अस्वीकार कर लोग 'उसने कहा था' के इक्के पर बैठे, हद-से-हद, सूबेदारनी को बगल में बैठाए, इलियट के गीत गाते और उसके ऊपर से 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी' चिल्ला-चिल्लाकर अपनी गति का एलान करते, अपने में मगन बम्बूकार्ट वाले बने, मरियल घोड़े पर चाबुक-पर-चाबुक धुन रहे हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बन गये हैं।

इन बातों को ध्यान में रखकर, यदि हम नये नाटक के पास आयें तो ऊपर से बेतुकी लगती हर बात, हर हरकत का कलात्मक प्रयोजन दीखने लगेगा। नये नाटक की अपनी एक बेहद कसी हुई सम्पूर्ण दुनिया होती है। इसमें जरा भी कमी जितनी नये नाटक के लिए घातक होगी, उतनी साधारण नाटक के लिए नहीं। भुवनेश्वर अनेक कृतियों में कहीं-कहीं चूक भले ही गये हों, पर वे सही तुक से सृजनात्मक बेतुक की और नासमझी से समझ की ओर, पुराने से नये की ओर हमें अवश्य ले जाते हैं।

11. पारंपरिक रूपों और डिवाईसिज़ का सवाल

सफदर हाशमी

लोक, आदिवासी और शास्त्रीय नाट्य और नृत्य-रूपों, शैलियों और विधाओं वगैरा को लेकर हिंदुस्तानी थियेटर करनेवालों के बीच आज बहस का होना जितना स्वाभाविक है, उतना ही ज़रूरी भी है। पिछले 15-20 साल में दूसरे कई इलाकों की तरह हिंदी बोलने वाले इलाके में भी इन नाट्य-रूपों और शैलियों वगैरा का लगातार ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल होता रहा है। कितने ही अहम निर्देशकों ने पारंपरिक नाट्य-शैलियों में नाटक खेले हैं। यहाँ तक कि आज हालत यह हो गई है कि बहुत-से लोग ढोल-मंजीरे, नाच-गाने और तलवार-मुखौटे के बगैर नाटक को नामुकम्मल मानने लगे हैं। हालांकि हिंदुस्तानी नाटककारों में अभी यह प्रवृत्ति इतनी वाज़ह नहीं हई है लेकिन फिर भी दूसरी जुबानों से अनुवादित ऐसे नाटक जो पारंपरिक शैलियों से प्रभावित हैं, काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं और बाकायदगी से खेले भी जाते हैं। इस क्षेत्र में हबीब तनवीर, ब.ब. कारंथ, शांता गाँधी, एम.के. रैना, बंसी कौल और राजेंद्रनाथ वगैरह के काम ने एक माहौल पैदा किया है। इन हालात में इस विषय पर बहस होना स्वाभाविक ही है।

फिर इस सवाल पर बहस करना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि अच्छे बड़े पैमाने पर इस दिशा में काम होने के बावजूद अभी कोई सिलसिलेवार और बुनियादी बहस शुरू नहीं हुई। जिन निर्देशकों का मैंने जिक्र किया इनके अंदाज एक-दूसरे से मुखतलिफ़ हैं। इन लोगों के काम को देकर यह बात जाहिर हो जाती है कि समाज, कला और परंपरा की तरफ़ इन लोगों के रवैए भी एक-दूसरे से बहुत मुख़तलिफ़ हैं। मुख़तलिफ़ शैलियों और पारंपरिक कलाओं के अलग-अलग पहलुओं पर इन लोगों की पकड़ भी अलग-अलग स्तर की है। हबीब तनवीर पारंपरिक शैली के बिलकुल अंदर दाखिल होकर उसका सामना वर्तमान द्वंद्वों से करवाते हैं, जबकि राजेंद्रनाथ और शांता गांधी परंपरा से कुछ decorative elements लेकर spectacle पैदा करते हैं। अलग-अलग निर्देशक परंपरा से अलग-अलग तरह के रिश्ते कायम करते हैं। लेकिन इन इख़तलाफ़ात, इन भिन्नताओं की बुनियाद क्या है--इस पर खुलकर और संगठित रूप में बहस अभी शुरू नहीं हुई है।

इस सवाल पर बहस करना एक और वजह से भी ज़रूरी है। पारंपरिक नाट्य-रूपों के इस्तेमाल के सवाल के साथ बहुत-से दीगर सवाल भी जुड़े हुए हैं। मसलन—आधुनिक शहरी रंगकर्मियों और पारंपरिक नाट्य-नृत्य-रूपों के संबंधों का आधार क्या होगा? मसलन, वर्तमान हिंदुस्तानी थियेटर कौन से सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा है, उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है? आज के हिंदुस्तानी थियेटर की जड़ें कहाँ हैं, उसका निजी व्यक्तित्व कैसे विकसित होगा? और भी कई सवाल इस बहस से जुड़े हुए हैं—मसलन, हिंदुस्तानी इतिहास हिंदुस्तानी समाज के विकास को हम क्या समझ सकते हैं : मौजूदा निजाम की तरफ हमारा क्या रवैया है? हमने अपनी क्या भूमिका तय की है, हमारी राजनैतिक दिशा क्या है? वगैरा-वगैरा।

मेरे ख़याल में जब तक इन तमाम सवालात पर लगातार बातचीत बहस-ओ-मुबाहिसों का सिलसिला शुरू नहीं होगा तब तक हिंदुस्तानी थियेटर और पारंपरिक नाट्य-रूपों के रिश्ते गोल-मोल रहेंगे।

मोटे तौर पर छठे दशक की शुरुआत से हिंदुस्तानी थियेटर में एक बड़े बदलाव की लहर उठनी शुरू हुई। पाँचवें दशक के आख़िर तक का भारतीय रंगमंच मूलतः योरोपियन थियेटर की परंपराओं, उसके व्याकरण, उसके गठन, अनुशासन वगैरा से मुतास्सिर था। नेचुरलिस्ट थियेटर, रियलिस्ट थियेटर, थियेटर ऑफ दी ऐब्ज़र्ड, क्लासिकल वैस्टर्न थियेटर, प्राचीन ग्रीक थियेटर, शेक्सपीयरियन थियेटर, अमेरिकन ग्रुप थियेटर आंदोलन—इन तमाम धाराओं ने भारतीय थियेटर को प्रभावित किया था। आज़ादी के आंदोलन के दौरान रंगकर्मियों ने कुछ हद तक वैस्टर्न थियेटर को रैडिकल स्ट्रीम, थियेटर ऑफ प्रोटैस्ट और रूसी एवं सोवियत थियेटर वगैरा से प्रेरित होकर आज़ादी के आंदोलन में अपना योगदान भी दिया था। इन तमाम असरात ने नाटक लिखने और खेलने की शैलियों पर एक गहरी छाप छोड़ी थी। यूँ तो चौथे दशक में इप्टा की रहनुमाई में हिंदुस्तान के कई कोनों में पारंपरिक नाट्य-रूपों के साथ व्यापक तौर पर प्रयोग भी किए गए थे, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है इस पूरे दौर में वैस्टर्न प्रभाव से जनमी नाट्य-शैलियाँ ही हिंदुस्तानी नाट्यकला की मूल धारा के रूप में छाई रही थीं।

आज़ादी के बाद के दिनों में समाज के बढ़ते हुए संकट ने धीरे-धीरे पूरे मुल्क को हिलाना शुरू कर दिया। पाँच साला मंसूबों की नाकामयाबी, बढती हुई भुखमरी और बदहाली, जहर की तरह फैलती बदअमनी और बेरोज़गोरी, गाँवों की आबादी का तेजी से गरीबी की गिरफ्त में आना, भ्रष्टाचार का फैलना और जंगे-आज़ादी के तमाम ख्वाबों के टूटने के साथ-साथ उस दौर के आदर्शों का लुप्त होना—इन तमाम चीज़ों ने मुल्क के पूरे ढाँचे को हिलाना शुरू कर दिया। कुंठा, नाउम्मीदी, पलायनवाद शहरी बुद्धिजीवियों और कलाकारों

में जड़ पकड़ने लगे। लेकिन इसके बरख़िलाफ इसी दौर में राजनैतिक स्तर पर जन-आंदोलन भी मज़बूत होने लगे। किसानों, मज़दूरों, नौजवानों और विद्यार्थियों की तहरीकें भी बढ़ने लगीं। कुदरती तौर पर यह तमाम रुझान रचनात्मक गतविधियों पर भी असर अंदाज हुए। जब नाटक ने इन विकासों की लय में गूँजना शुरू किया, तब शैली की मूलधारा के सवाल को लेकर भी नए सिरे से सोचने का काम होने लगा। भारतीय यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने, उसकी बेहतर अभिव्यक्ति करने की ज़रूरत ने वैस्टर्न प्रभाव से छुटकारा पाने, उसको नामंजूर करने के सिलसिले की शुरुआत की। एक साथ कई जगह नए रूपों, नई शैलियों, नई विधाओं, नई भाषा वगैरा की तलाश सरगर्मी से होने लगी।

छठे दशक के बीच का यह दौर समाज के हर क्षेत्र में नए प्रयोगों का दौर था। राजनैतिक स्तर पर गैर-कांग्रेसी पार्टियों के गठबंधन सामने आ रहे थे। 1957-59 में पहली कम्युनिस्ट राज्य सरकार बन चुकी थी। बंगाल और केरल में कांग्रेस के एकछत्र राज का युग बीत गया लगता था। दूसरे कई प्रांतों में भी गैर-कांग्रेसी मोर्चे सत्ता में आ रहे थे। समाजवादी दल तकसीम हो चुका था और मुख़्तलिफ़ पार्टियों के साथ नए रिश्ते कायम कर रहा था। व्यापक जन-असंतोष आंदोलनों और ऐजिटेशंज़ की शक्ल ले रहा था। नए छात्र और मज़दूर संगठन पैदा हो रहे थे। औरतों में एक नई जागृति आ रही थी। संयुक्त परिवार का ढाँचा टूट रहा था और न्यूक्लियर फ़ैमिली का कॉन्सैप्ट लोकप्रिय हो रहा था। ठीक इसी दौर में नाट्य-जगत में भी एक तरह का विप्लव आ रहा था। बड़े पैमाने पर नई शैलियों, नए कथ्य की तलाश शुरू हो चुकी थी। यथार्थ को समझने की कोशिश में रंगकर्मी नई दिशाओं में, खासकर भारतीय परंपरा के सागर में खोजबीन कर रहे थे। महाकाव्यों और पौराणिक साहित्य पर आधारित आधुनिक नाटकों की रचना एक अहम धारा की शक्ल ले रही थी। हबीब तनवीर का काम स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में बाकायदगी से पारंपरिक शैलियों में प्रशिक्षण दिया जा रहा था। इस देशव्यापी बदलाव की लहर और नाट्य-जगत की छटपटाहट--दोनों का लगभग एक ही साथ उभरना क्या महज एक इत्तेफ़ाक था या इन दोनों में कोई गहरा रिश्ता भी था। इस सवाल पर संजीदगी से सोचने की ज़रूरत है।

मेरी समझ में नए नाट्य-रूपों की तलाश एक बहुत ही फंडामैंटल ज़रूरत है जो कि हर संवेदनशील रंगकर्मी को गहराई के साथ महसूस होती है। नाट्य-जगत को एक नई शैली से जगमग कर देने की चाह भी कलाकार में एक जोरदार छटपटाहट पैदा करती है। नए ख़यालात के इजहार की कशमकश में कलाकार नए-नए रूपों का सृजन करता है उन्हें खोजकर निकालता है। लेकिन कई मरतबा यूँ भी होता है कि कथ्य के अभाव में, अपने खालीपन से परेशान होकर कलाकार सिर्फ चकाचौंध करनेवाली, चौंका देनेवाली शैली का सहारा लेकर ही अपने वजूद, अपनी हस्ती को बनाए रखना चाहता है। शैली का जन्म

होता है कलाकार और यथार्थ के आपसी टकराव, आपसी संघर्ष से, पैदा होने की जद्दोजहद से। लेकिन जब नई शैली को बगैर इस टेंशन, इस संघर्ष, बगैर इस जद्दोजहद के हासिल करने की कोशिश की जाती है तो वहीं से कला, कथ्य, कलाकार, परंपरा—सबके विनाश का सिलसिला शुरू हो जाता है। आज अगर कोई पारंपरिक शैली तक इन कारणों से पहुँचता है तो मेरी समझ में वह परंपरा का दुरुपयोग करता है।

असल में कथ्य और रूप दोनों एक-दूसरे से इस तरह पैबस्त हैं जैसे आग और उसकी गर्मी या जैसे बिजली और उसकी रफ्तार। एक-दूसरे के बिना उनकी कोई हैसियत ही नहीं है। जिस तरह ख़यालात सिर्फ अल्फ़ाज की शक्ल में ही नुमायाँ होते हैं, उसी तरह कथ्य नाट्यरूप की शक्ल में ही पैदा होता है। जिस नाटककार, निर्देशक, या अभिनेता की जबान जितनी समृद्ध, जितनी विस्तृत, जितनी ज़रख़ेज़ होती है, उसके ख़यालात उतनी ही गहराई, उतने ही विस्तार से पैदा होते हैं। शब्दों के ऐसे खाने या साँचे बनाकर नहीं रखे जा सकते, जिनमें ख़यालात को उँडेल दिया जाए। शैलियाँ कोई लबादे नहीं है, जिन्हें अलमारी में से निकालकर कथावस्तु को पहना-उढ़ाकर सजा-सँवार दिया जाए। आजकल जो कहीं-कहीं यह टेंडेंसी नज़र आती है, यह बहुत गलत है, अवैज्ञानिक है, अकलात्मक है।

लेकिन आजकल इतनी बड़ी संख्या में जो रंगकर्मी पारंपरिक शैलियों में आधुनिक नाटक लिख और खेल रहे हैं, उनके काम को यूँ ही डिसमिस नहीं किया जा सकता। यह सारे प्रयोग, यह संयुक्त प्रयास अब एक आंदोलन की शक्ल ले चुके हैं। ज़रूरत है रंगकर्म के इस दौर के सवालात को, समस्याओं को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संदर्भ में समझने की।

मुख्य सवाल यह है कि रंगकर्मी की रचनात्मकता का उसके मौजूदा माहौल और उसकी परंपरा से क्या रिश्ता है। यह रिश्ता किस तरह उसकी रचना को प्रभावित करता है, इस रिश्ते को सींचा जाए, विकसित किया जाए या तोड़ दिया जाए।

कुल मिलाकर यह सवाल है संस्कृति का, परंपरा का। मेरी समझ में संस्कृति एक बहुत ही व्यापक और पेचीदा कॉन्सैप्ट है। समाज के विकास की शक्तियों और उत्पादन-संबंधों के आपसी टकराव से पैदा हुए सारे अनुभव, सारे ख़यालात, सारे इमेजिज़ सारी कृतियों के कुल जोड़ का नाम है संस्कृति। परम्परा विरोधी मान्यताएँ, मूल्य, धारणाएँ विश्वास, धर्म, दर्शन, विचारधाराएँ—सभी इसके हिस्से हैं। तबकों में बँटे हुए समाज की संस्कृति भी बँटी हुई होती है। हाकिम तबके की संस्कृति समाज की हाकिम या नुमायाँ संस्कृति होती है। उससे पैदा हुई मान्यताएँ, उसके मूल्य, उसके विश्वास, उसकी कॉस्मॉलोजी पूरे समाज पर और हर तबके पर हावी होते हैं। लेकिन हाकिम संस्कृति ही समाज में पल रही वाहिद या एकमात्र संस्कृति नहीं होती। वर्ग-विभाजित समाज में एक और संस्कृति होती

है–महकूम तबके की संस्कृति, शासित तबके की संस्कृति। यह काफी हद तक हाकिम संस्कृति के अधीन होने के बावजूद कई वाईटल ऐस्पैक्ट्स में उससे बुनियादी तौर पर मुख़तलिफ़ होती है। इसके अलावा अलग-अलग फ़िरक़ों, अलग-अलग कौमों की अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृतियाँ होती हैं। इन तबकों, फ़िरक़ों, कौमों के आपसी संघर्ष से जो मूल धारा जन्म लेती है वह समाज को विकास की अगली कड़ी में हाकिम-ओ-गालिब संस्कृति की शक्ल इखतियार करती है। यह संघर्ष लगातार चलता रहता है। यहाँ अहम सवाल यह है कि इनमें से कौन-सी संस्कृति, कौन-सी धारा सचेत रूप से कलाकार के रचना-जीवन को दिशा देती है। इस संयुक्त संस्कृति के किन तत्वों से वह मुक्त होना चाहता है। किन्हें विकसित करना चाहता है। और इस संघर्ष में यह संयुक्त कल्चर किस तरह उसके फैसलों को प्रभावित करती है। उसके मौजूदा माहौल में विद्यमान कौन-सी सामाजिक और राजनैतिक ताकतें उसे आगे ले जाती हैं कौन-सी पीछे खींचती हैं। यह संघर्ष जितना राजनैतिक और दार्शनिक है, उतना ही सांस्कृतिक भी है। कई मानों में यह संघर्ष बुनियादी तौर पर सांस्कृतिक संघर्ष होता है।

लेकिन परंपरा? परंपरा इन तमाम असरात के मूर्त और सचेत रूप को कहते हैं। परस्पर विरोधी और पूरक शक्तियों के आपसी टकराव से पैदा होनेवाली प्रधान धाराएँ अपने समाज की मूल परंपरा होती हैं। कला के क्षेत्र में किसी विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश में विकसित होने वाले कलारूप, शैलियाँ आदि कालांतर में परंपरा की शक्ल ले लेते हैं। वे अपने सांस्कृतिक परिवेश के सिंबल बन जाते हैं और उस माहौल के लुप्त होने के बावजूद लंबे अर्से तक जिंदा रहते हैं। जीतनेवाली ताक़तें और हारनेवाली ताक़तें–दोनों ही अपनी मूल संस्कृति के मूर्त रूप गढ़ती हैं। यह रूप सरवाईव करते हैं, अपनी संस्कृति के सत, उसके निचोड़ को खुद में समाए हुए। एक बहुत ही सतही-सी मिसाल लेता हूँ। कथक नाच हुक्मरानों की दरबारी संस्कृति से, एक ठहरी हुई, इत्मीनान की संस्कृति से पैदा हुआ। दूसरी तरफ 'थिरुकुट्टू' खेतों में पसीना बहाते, रोटी के लिए संघर्ष करने वाले मेहनतकश तबके की संस्कृति से जनमा। नतीजतन कथक में ठहराव है, कांसट्रेशन और डीटेल है, डैकोरेटिव और औरनामैंटल तत्व है। थिरुकुट्टू में ऐनर्जी है, ऐलिमैंटल फोर्स है, भावनाओं के अपार सागर है, और कॉज़ और इफैक्ट में सीधा और इमीजियेट रिश्ता है। कथक जिंदगी के संघर्षों, समस्याओं और यथार्थ से जितना दूर लगता है, थिरुकुट्टू उनसे उतना ही नज़दीक लगता है, बल्कि उन्हीं का हिस्सा लगता है। दोनों ही पारंपरिक हैं। पर दोनों में से कौन-सी परंपरा जीवंत परंपरा है, संघर्ष की परंपरा है, किस परंपरा में भविष्य के बीज हैं, कौन-सी पिछड़ी हुई है रुकी हुई है, यह तो देखना ही होगा।

लेकिन इस अंतर को समझ लेने से भी सवाल हल नहीं हो जाता। जो परंपरा जीवंत है, प्रगतिशील है, उसे अपना लेंगे, जो पिछड़ी हुई, रुकी हुई है, उसे अस्वीकार कर देंगे–ऐसा मैं हरगिज नहीं कह रहा। हमारे रंगकर्म और हमारी परंपरा के रिश्तों का सवाल इससे कहीं ज्यादा पेचीदा है। किसी परंपरा का प्रगतिशील या इन्कलाबी होना ही हमारे रचनाकर्म में उसके आने के लिए काफ़ी नहीं हैं। मेरी नज़र में सिर्फ वही परंपरा हमारी रचना का हिस्सा बनती है जिसे हम पूरी तरह अपना चुके हैं, जिसे हम ऐब्ज़ॉर्ब कर चुके हैं, ऐसिमिलेट कर चुके हैं। और इसके बाद भी वह परंपरा जब हमारे कथ्य से टकराती है तो बहुत ही बदली हुई शक्ल में प्रकट होती है। यह हमारे कथ्य को अगर समृद्ध करती है तो उससे खुद भी समृद्ध होती है। हम जिस चीज़ को पूरी तरह अपना लेते हैं उसी में हम अच्छे-बुरे का फ़र्क़ भी कर पाते हैं। जिस चीज़ से हमारा ऊपरी या बाहरी रिश्ता होता है, हम उसे सिर्फ़ अनक्रिटिकली एडमायर या रिजैक्ट ही कर सकते हैं।

इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण हमारे सामने हैं। ब्रेख्त के नाटक **कॉकेज़ियन चॉक सर्किल** का प्रोडक्शन रैना ने किया **पराई कुक्ख** के नाम से और एक प्रोडक्शन किया कविता नागपाल ने **मिट्टी ना होवे मत्रेई** के नाम से। दिलचस्प बात यह है कि दोनों प्रोडक्शन एक ही स्क्रिप्ट पर आधारित थे, यहाँ तक कि दोनों का संगीत, गीतों की धुनें तक वही थीं। लेकिन **पराई कुक्ख** एक रिलैंटलैसली पोलिटिकल प्रोडक्शन था, उसमें जोर था माहौल पर, कथ्य पर। दूसरा प्रोडक्शन स्पैक्टैक्युलर था, उसमें कैलेंडरवाली क्वालिटी थी। उन्हीं पारंपरिक धुनों के बावजूद दूसरा प्रोडक्शन मेरी नज़र में हरगिज़ नहीं जम पाया। फ़र्क़ था निर्देशकों के रवैए में, परंपरा और उनके रिश्ते की पुख्तगी में। इसीलिए जहाँ एक प्रोडक्शन में परंपरा डिवाईस बन कर गूँजी, दूसरे में वह डिवाईस न बन पाई, अपनी प्योरिटी को स्थापित करने की कोशिश में बेजान हो गई, निर्जीव हो गई।

इस सिलसिले में मैं एक बार फिर दोहराऊँगा कि कथ्य और शैली दोनों का ही जन्म एक साथ होता है, एक ही जगह से होता है–कलाकार के रचना सागर से, उसके संदर्भ, उसके परिवेश से। जब शैली के चयन का साधन कथ्य के सिवा कोई और तत्व बन जाता है तो कला मैकेनिकल हो जाती है, उसका ख़ात्मा शुरू हो जाता है। रूप तैयारशुदा शक्ल में नहीं रखे होते जिन्हें ज्यूँ का त्यूँ उठाकर इस्तेमाल कर लिया जाए।

तो हम पारंपरिक शैलियों में काम करेंगे किस बिना पर, किस आधार पर? मौजूदा निज़ाम की तरफ़ कलाकार का क्या रवैया है, यही मुकर्रर करेगा कि अतीत की तरफ़, परंपरा की तरफ़ उसका क्या रवैया होगा। सबसे पहले यह तय करना होगा कि आख़िर हम

चाहते क्या हैं, किस चीज़ की तरफ़ हम प्रतिबद्ध हैं, किन शक्तियों के साथ हम जुड़े हुए हैं, या किनसे जुड़ना चाहते हैं।

मैं नौटंकी या यक्षगान में काम करना चाहता हूँ या नैचुरिस्ट मोल्ड में यह इतना अहम नहीं है जितना यह है कि मैं क्या करना चाहता हूँ। अगर कोई कहे कि मै तो यक्षगान ही करना चाहता हूँ, या यह कि नौटंकी ही करना चाहता हूँ तो मेरे ख़याल में वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। क्योंकि नौटंकी या यक्षगान नौटंकी और यक्षगान होने के अलावा अपने-अपने संदर्भों में एक विशेष सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक भूमिका भी अदा करते हैं। आपको यक्षगान करने के लिए इन तमाम चीज़ों को भी अपनाना होगा। और अगर इन चीज़ों को आप यक्षगान में से निकाल देंगे तो वह यक्षगान का सिर्फ़ खोल मात्र रह जाएगा। उस खोल में दूसरी मान्यताएँ, दूसरे कॉन्सेप्ट्स, दूसरी कॉस्मॉलोजी समा पाएगी या नहीं, यह एक दीगर बहस है। मसलन ब.ब. कारंथ के **बनरम वन** को ही लीजिए। यक्षगान में शेक्सपीयर हुआ, बड़े धड़ल्ले से, बड़ी धूम-धाम से हुआ। शेक्सपीयर की जन्मभूमि तक भी पहुंच गया। लेकिन अगर मेरी राय माँगें तो उस मंचन में न शेक्सपीयर था न यक्षगान। और हो भी नहीं सकता था। मुझे नहीं मालूम कि ब.ब. कारंथ और उनके अदाकारों का यक्षगान से कितना नज़दीकी संबंध था, व उस फार्म को कितने इंटेमेटली जानते थे। मगर प्रोडक्शन से यह बात साफ थी कि यक्षगान का एक ऊपरी डैकोरेटिव इस्तेमाल हो रहा था। शेक्सपीयर तो नष्ट हो ही रहा था, मेरे ख़याल में यक्षगान के साथ भी काफ़ी बदसुलूकी हो रही थी। मेरी राय में ऐसा हर प्रयास, जिसमें एक फार्म को ज्यूँ का त्यूँ या लगभग ज्यूँ का त्यूँ उठाकर किसी दूसरे संदर्भ से निकले कथ्य पर लादा जाएगा, तो हमेशा यही होगा।

इसके विपरीत अगर कोई कहे कि वह चाहता है कि थियेटर को समाज का एक जीवंत हिस्सा बनाए, थियेटर और अवाम के रिश्तों को मजबूत बनाए, थियेटर को बहस और संघर्ष के मंच में तब्दील करे तो मेरे ख़याल में वह कलाकार जिस भी ट्रैडिशन में काम करेगा, उसे भी सशक्त और समृद्ध करेगा और थियेटर को भी। बंसी कौल का **आला अफ़सर** इसकी एक ठीक-ठाक मिसाल है।

मैं फिर बुनियादी सवाल पर लौटता हूँ। हम क्यों निकलें पारंपरिक शैलियों की तलाश में? वह परंपरा परंपरा नहीं, जिसे चिराग़ लेकर ढूँढ़ना पड़े। परंपरा वही है जो हमारे वर्तमान परिवेश में, हमारे माहौल में विद्यमान है, ऐसी परंपरा ख़ुद--ब-ख़ुद हमारी रचना-प्रक्रिया का हिस्सा बनती है। हर संवेदनशील कलाकार, हर सजग कलाकार अपनी मुख़्तलिफ परंपराओं से प्रभावित होता है। केवल वे कलाकार जो अपने समाज से पूरी तरह एलिएनेटिड हैं, वही अपनी परंपराओं से प्रभावित नहीं होते, उन्हें प्रभावित नहीं करते। मसलन दिल्ली में अंग्रेज़ी थियेटर करनेवाले हमारे साथी।

कुछ साथियों का ख़याल है कि हमारे रंगकर्म में उस वक्त तक 'भारतीयता' नहीं आएगी, उसकी जड़ें, उसका मौलिक चरित्र उस वक्त तक लुप्त रहेगा जब तक उसे पारंपरिक शैलियों से समृद्ध न किया जाए। मै उनसे कहना चाहता हूँ कि 'भारतीयता' नाच-गानों, रिचुअल्ज़, पूजा-पाठ, बलि और कुसंस्कारों को दिखाने से नहीं आएगी। ऐसी भारतीयता तो सिर्फ आई.टी.डी.सी. के मतलब की ही हो सकती है। या उन तथाकथित कलाकारों के मतलब की जो साधनसंपन्न शहरी दर्शकों और विलायती लाट साहबों को थियेटर, सिनेमा, पेंटिंग वगैरा के ज़रिए 'दि रियल इंडिया' दिखाना चाहते हैं--जादू-टोने, पूजा-पाठ और धर्म-दर्शन का रियल इंडिया, भूत-प्रेतों, सुरों-असुरों और साधु-संतों का रियल इंडिया, आध्यात्मिक शांति, शांति ओउम्वाला रियल इंडिया।

यह ऐक्स्पोर्ट-ओरियंटिड भारतीयता है, यह असली भारतीयता नहीं, यह हम सभी जानते हैं, हम सभी मानते हैं।

भारतीयता हमारे रंगमंच में तभी आएगी, जब रंगकर्मी वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर, ईमानदारी और लगन के साथ मौजूदा भारतीय निज़ाम का अध्ययन, विश्लेषण शुरू करेंगे। एक ग़ैर वैज्ञानिक समझ को कितने ही पारंपरिक अंदाज से क्यों न पेश करें, वह समझ गलत ही रहेगी।

पारंपरिक नाट्य-रूपों के साथ हिंदुस्तानी रंगकर्मियों ने उस वक्त प्रयोग शुरू किए थे जब वह देश की तेज़ी से बदलती हुई स्थिति में अपनी भूमिका निभाने के लिए छटपटा रहे थे और उन्हें एक पुरानी फ़ॉर्म, एक ट्रैडिशन जकड़े हुए थे। उसे तोड़कर, उससे मुक्त होकर उन्होंने नए कथ्य और नए रूपों के साथ सामने आना शुरू किया और कई मानों में थियेटर को लोकप्रिय बनाने में कामयाबी भी हासिल की।

लेकिन बदकिस्मती से आज पारंपरिक शैलियों की यह खोज लगभग एक मज़ाक बन गई है। पारंपरिक नाटक करना आज यथार्थ से मुँह मोड़ लेने का एक बहाना बन गया है, अपने बुनियादी काम, अपने फ़र्ज़ से पीछा छुड़ाने का एक आसान साधन बन गया है। कितना कन्वीनियेंट है ऐसा करना। भारतीय सत्य के नाम पर आज हम सिर्फ़ एक रंगीन स्पैक्टेकिल दिखा के और देख के ख़ुश हो लेते हैं, जबकि असल में उस स्पैक्टेकिल की आड़ में हम दर्शकों को भारतीय सत्य से दूर ले जाते हैं।

जो आंदोलन थियेटर को ज़बान की गहराई देने के लिए शुरू हुआ था, वही आज थियेटर को एक ख़ला, एक शून्य की तरफ खींच रहा है। यह नतीजा है ग़ैर वैज्ञानिक नज़रिये से काम करने का। परंपरा, संस्कृति और वर्तमान स्थिति के तथा अपने रचनाधर्म के रिश्तों को ठीक से समझे बग़ैर जो अंधाधुंध उठा-पटक शुरू हुई, वह आज हमें यहाँ ले आई है कि नए और अच्छे नाटक लगभग न के बराबर लिखे जा रहे हैं, फिर भी मंचन बढ़ते जा

रहे हैं। आज थियेटर करना कितना आसान हो गया है। बने-बनाए कई फ़ार्मूले हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए ठीक-ठाक नाच-गा लेने वाले अभिनेताओं और साजिंदों के सिवा और कुछ भी दरकार नहीं।

तो क्या मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूं कि परंपरागत नाट्य-शैलियों का हम एकदम बहिष्कार कर दें। नहीं, बिलकुल नहीं। इसके विपरीत मैं यह समझता हूँ कि अपने रंगकर्म को, उसकी ज़ुबान को बढ़ाने के लिए, विस्तृत समृद्ध और गहरा करने के लिए हर रंगकर्मी को पारंपरिक शैलियों में खुद को ट्रेन करना चाहिए, उन शैलियों, उन परंपराओं को गहराई से समझना चाहिए, उनको एब्ज़ॉर्ब करना चाहिए, उनके अंदर तक चले जाना चाहिए। यह परंपराएँ इस हद तक हमारे चेतन का हिस्सा बन जानी चाहिए कि हमारे रोज़मर्रा के अनुभव, हमारे संघर्ष इनके संपर्क में आकर रिवरबरेट करें। इसके बाद हमारी अभिव्यक्ति सदियों की संचित जहालत की गूँज के साथ सामने आएगी। लेकिन यह शैलियाँ हमारी रचनाओं में बदली हुई शक्ल में प्रकट होंगी। यह ख़ुद को कथ्य के अनुरूप ढाल चुकी होंगी। अपने संदर्भ से मुक्त होकर यह एक नए संदर्भ को समृद्ध करेंगी और इसके साथ-साथ खुद भी नया जीवन पाएँगी।

इस कायाकल्प का साधन होगी हमारी दृष्टि, हमारा रवैया, हमारा नज़रिया। परंपरा के प्रति हमारी सच्ची इज्ज़त। मैं समझता हूँ कि हबीब तनवीर ने एक खास परंपरा में पूरी तरह रच-बस कर जो काम किया है, वह हमारा मार्गदर्शन कर सकता है, बशर्ते हम परंपरा में जुड़ना चाहते हैं। जो तरीका उन्होंने अपनाया है वही सही तरीका है।

परंपरा को पूरी तरह अपनाएं बग़ैर उसका इस्तेमाल नकली होता है, कृत्रिम होता है, उसमें शोषण का ऐलिमैंट होता है। इस क़िस्म की मौकापरस्ती किसी अच्छे कलाकार को शोभा नही देती। यह व्यवसायिक प्रवृत्ति है। कहने का मतलब यह है कि अगर हमारी प्रायॅरिटी थियेटर नहीं बल्कि पारंपरिक थियेटर है तो हम स्वस्थ थियेटर का सृजन नहीं कर पाएँगे। नाटककार नाटक करता है समाज से जुड़ने की ख़ातिर, समाज को प्रभावित करने के लिए। यह उसकी एक अंदरूनी ज़रूरत होती है। लेकिन जब वह अपनी अंदरूनी छटपटाहट को बाला-ए-ताक रखकर किसी एक खास तरह का थियेटर करने की कसम खा लेता है तो उसका पतन शुरू हो जाता है। फिर वह सच्चा कलाकार नहीं, बल्कि किसी थोथी शैली का कमीशन एजेंट बनकर रह जाता है। पिछले 15-20 साल के इस दौर में ऐसे हादसे कई रंगकर्मियों के साथ हुए हैं।

आख़िर में मैं एब बात और कहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि पारंपरिक थियेटर के नाम पर हिंदुस्तानी थियेटर को वाईटलाईज़ करने के मिशन में लगे कई रंगकर्मी कहीं-न-कहीं एक घटिया क़िस्म के रिवाइवलिज़्म के भी पक्षधर हैं। वर्तमान यथार्थ को माज़ी के चश्मे

से देखने, मौजूदा संघर्षों, मसलों, द्वंद्वों को अतीत के बिंबों, अतीत की मिथों और मेटाफरों से आँकने का काम मुझे तो एक साज़िश-सा लगता है।

मेरे ख़याल में मुख्य सवाल यही है कि वर्तमान में हम कहाँ, किस तरफ़ खड़े हैं। हमारी क्या पोजिशंज हैं। क्या हम आज की मुख्य धारा, यानी जनवादी परिवर्तन की धारा, के साथ हैं, या हम किसी ठहरी हुई धारा के साथ हैं। यही निर्धारित करेगा कि हमारा नाता किस परंपरा से जाकर जुड़ेगा, उस परंपरा से हमारा रिश्ता क्या होगा, उसे हम किस तरह इस्तेमाल करेंगे।

('सफदर' पुस्तक से साभार)

12. निबंध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

डॉ.रामविलास शर्मा

'चिन्तामणि' में शुक्लजी के दस निबंध ऐसे हैं जिनका संबंध मुख्यतः मनोविज्ञान से है। ये निबंध शुक्लजी के साहित्यालोचन का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती हैं, न पच्छिम के काव्यशास्त्र का। इसलिए मनोविज्ञान के बारे में उनकी स्थापनाएँ और भी दिलचस्प हो जाती हैं। इनमें न तो शुक्लजी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं और न केवल साहित्यशास्त्र को, वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्वपूर्ण देन हैं।

पच्छिम के मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद को लेकर चली है। उनका मुख्य रुझान व्यक्ति को समाज से, उसके वर्ग से अलग करके उसके मनोविकारों का अध्ययन करना रहा है। मनोविज्ञान की कुछ धाराएँ जड़ भौतिकवाद को लेकर चली हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद के विपरीत ये धाराएँ मनुष्य को निष्क्रिय पदार्थ मानकर, उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति और चिंतन को कोई जगह न देकर उसे परिस्थितियों का नपा-तुला परिणाम मात्र मान लेती हैं। बिहेवियरिस्ट धारा यांत्रिक भौतिकवाद की धारा है जो मनुष्य की हर क्रिया को परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मानकर चलती है। इसी अवैज्ञानिक विचारधारा से मिलता-जुलता फ्रायड आदि का मनोविश्लेषण है जो प्रायः मनुष्य की हर क्रिया के पीछे उसकी दमित कामवासना का खेल देखता है। भारतीय भाववादी दर्शन का रुझान ज्ञान और भावना को मनुष्य के सामाजिक जीवन, उसके सामाजिक व्यवहार से अलग करके देखने का है। यह रुझान भारतीय दर्शन की एकमात्र धारा नहीं है। हमारे दर्शन में वस्तुवाद की ओर उन्मुख और धाराएँ भी हैं लेकिन रीतिशास्त्र पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, मुख्य प्रभाव भाववादी दर्शन का पड़ा है। नतीजा यह कि इस तरह के दर्शन से जो मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र प्रभावित होगा, वह भावों का संबंध मनुष्य के व्यवहार से न जोड़ सकेगा, वह यह न दिखला सकेगा कि भावों का सामाजिक आधार क्या है; कौन से भाव अच्छे हैं, कौन से बुरे; भावों का सामाजिक परिणाम क्या होता है; उनका प्रभाव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर क्या पड़ता है, इत्यादि। उनकी प्रवृत्ति साहित्य को लोक-जीवन से

अलग करके देखने, रस या आनंद को मानव-संस्कारों से दूर रखने, शुद्ध कला या लोकोत्तर आनंद की व्याख्या करने की ओर होगी। शुक्लजी का मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र इससे विरोधी दशा में विकसित होता है।

मनुष्य के हृदय में भाव क्यों पैदा होते हैं? इनका संबंध किसी शुद्ध आत्मा या अशुद्ध माया नाम की वस्तु से है या इनका स्रोत मनुष्य के सामाजिक व्यवहार, उसके भौतिक जीवन में ढूँढना चाहिए? शुक्लजी का कहना है : 'संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।' (रसात्मक बोध के विविध रूप)

मनुष्य के भावों का विधान संसार की रूप-गति में हुआ है। उनका आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है, उससे अलग हम शुद्ध आत्मा की तरह विशुद्ध भावों या 'इंस्टिंक्ट' की कल्पना नहीं कर सकते। बहुत-से पच्छिमी विचारकों का 'इंस्टिंक्ट' -- यानी अपरिवर्तनशील मूल भाव -- आत्मा का ही पर्यायवाची है। शुक्लजी के लिए ऐसे अपरिवर्तनशील भावों की सत्ता नहीं है। भावों की सत्ता अनुभूति पर निर्भर है और अनुभूति विषय-वस्तु के बिना, बाह्य जगत् के बिना नहीं होती। मनुष्य की काल्पनिक अनुभूति भी बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि रहती है। कारण यह है कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।' (काव्य में रहस्यवाद)

सत्ता का ज्ञान विशुद्ध आत्मानुभूति नहीं है वरन् लोकबद्ध है। कविता का विकास - मनुष्यों के भावों और उनकी व्यंजना का विकास - लोक के ही भीतर होता है, इसलिए भावों में जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह लोक की ही विभिन्नता, मनुष्य के व्यवहार और बाह्य जगत् की विभिन्नता का ही परिणाम है।

'अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है।' (भाव या मनोविकार)। यह द्वंद्व सुख और दुख का है। 'मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार' नये-नये भाव पैदा करती है। भाव की विभिन्नता दो कारणों से होती है - मनुष्य की इच्छा से और विषयबोध से। आत्मगत और वस्तुगत दोनों ही तरह के कारणों से भावों का विकास होता है। यदि आत्मगत कारण न हों तो मनुष्य दर्पण की तरह यांत्रिक ढंग से वस्तुगत व्यापारों को ही प्रतिबिंबित करता रहे। शुक्लजी ने लिखा है : 'विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।' इस तरह के भावों की कोई विशुद्ध आत्मगत सत्ता नहीं है; उनकी विभिन्नता का विकास विषय-बोध पर भी निर्भर है। मनुष्य के भाव उसके सामाजिक जीवन से किस तरह उत्पन्न होते हैं, इसकी एक मिसाल ईर्ष्या है। **ईर्ष्या** के बारे में

शुक्लजी ने लिखा है : '**ईर्ष्या** सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।' इसी तरह उत्साह को लीजिए : 'साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।' यहाँ भी उत्साह का संबंध मनुष्य के व्यवहार से है। इसी तरह श्रद्धा वह आनंद-पद्धति है जो 'किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख' कर पैदा होती है। यहाँ भी उसका वस्तुगत कारण मौजूद है। करुणा का तो कहना क्या! 'जब बच्चे को संबंध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।' यह संबंध-ज्ञान न हो, बाह्य जगत् का बोध न हो तो करुणा का भी अस्तित्व न हो। व्यक्तिगत दुख की अनुभूति से करुणा को अलग करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : 'पर दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है। ' (रसात्मक बोध के विविध रूप) करुणा लोकजीवन से विमुख एकांतवासी कवियों की आत्मानुभूति नहीं है, वह दूसरों की पीड़ा देखकर जगती है, उसके संचार के लिए दूसरों का अस्तित्व भी जरूरी है।

मनुष्य के हृदय में लज्जा क्यों पैदा होती है? जब उसे यह आशंका होती है कि 'दूसरों के चित्त में' उसके प्रति बुरी धारणा है, तब उसकी वृत्तियों का संकोच होता है और वही लज्जा है। इस तरह लज्जा का जन्म भी लोक-व्यवहार में होता है। लोभ कब पैदा होता है? जब किसी सुख देने वाली 'वस्तु के संबंध में' प्राप्ति की इच्छा पैदा होती है। 'अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर' घृणा पैदा होती है। 'किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से' भय पैदा होता है। 'दुःख के चेतन कारण या अनुमान से' क्रोध पैदा होता है। सारांश यह कि हर मनोविकार का कोई-न-कोई वस्तुगत कारण होता है। काव्य का संबंध मनोविकारों से है और मनोविकारों का संबंध मनुष्य के व्यवहार-जगत् से। इसलिए व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किए बिना, उससे भावात्मक संबंध स्थापित किए बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नहीं बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है : 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।'

भावों के वस्तुगत कारण हैं। उनका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् है लेकिन वे उत्पन्न होते हैं मनुष्य में ही। भाव-धारणा की यह क्षमता मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। शुक्लजी ने कई जगह पशुओं और मनुष्यों में भेद करते हुए मानव के विकास के साथ उसका ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार बढ़ता हुआ दिखाया है। 'कविता क्या है' नाम के निबंध में उन्होंने कहा है : 'पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है, अकस्मात् मनुष्य इस भाव-प्रसार के साथ पैदा नहीं हो गया। मनुष्य अपने विकासक्रम में कुछ संस्कार पूर्वजों से पाता है, कुछ अपने नए अनुभवों से संचित

भी करता जाता है। ऐसा न हो तो उसके कुछ आदिम संस्कार ही बने रहें, उनसे वह आगे न बढ़े। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नाम के निबंध में शुक्लजी ने लिखा है : 'पूर्वजनों की दीर्घ परंपरा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं।' मनुष्य को आज जो भावनाशक्ति मिली है, वह एक दीर्घ परंपरा का फल है और अपने नए संस्कार जोड़कर मनुष्य उसे आगे भी बढ़ाता चलता है। मनुष्य की वासना, सहृदयता, उसकी रसग्राहिका शक्ति के विकास का यह वैज्ञानिक सिद्धांत है। शुक्लजी ने संस्कृत के रसशास्त्रियों की वासना को स्थिर और शाश्वत न मानकर उसे एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है। इस तरह भावों में बाह्य जगत् के अलावा मनुष्य की जिस आत्मगत चेतना, इच्छा आदि का योग रहता है, उसकी भी एक वस्तुगत सत्ता है, वह भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। विषय-वस्तु के विचार से भी और मनुष्य की अपनी इच्छा के विचार से भी भाव की वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है, इसलिए भावों को प्रकट करने वाली कविता भी एक वस्तुगत व्यापार है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है।

भाव का संबंध किसी शाश्वत आत्मा से नहीं है, इसी कारण विभिन्न मनुष्यों और वर्गों में रुचि की भिन्नता दिखाई देती है। रुचि की समानता का आधार मानव-जीवन की समानता है। मानव-जीवन की विषमता से रुचि की विषमता भी पैदा होती है। 'भाव या मनोविकार' में शुक्लजी शासक वर्ग का जिक्र करते हैं जो भावों का उपयोग 'अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिए भी' करते आए हैं, 'उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी।' इसलिए जन-साधारण का भाव-व्यापार वही नहीं है जो शासकों और धमाचार्यों का होता है। रुचि का वर्ग-आधार, वर्गों द्वारा भावों का उपयोग शुक्लजी के इन दो वाक्यों में बहुत अच्छी तरह प्रकट हुआ है। 'शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और ललचाते आए हैं।' यह द्वेष और संकुचित विचार कहाँ से पैदा होते हैं? मत-प्रवर्तकों और शासकों के स्वार्थमय जीवन से। उनका जीवन जन-साधारण से भिन्न है। एक अत्याचार और अन्याय करने वाला है, दूसरा सहने वाला है। इसी विषमता के कारण उनकी रुचि में भी विषमता होती है। इसलिए 'कविता क्या है' में 'अर्थागम से हृष्ट' ज्योतिषियों, कर्मकाण्डियों, बनियों और दलालों, अमलों और मुख्तारों को कवि और साहित्यकार निठल्ले और खब्तुलहवास लगते हैं; इस रुचि-भेद का कारण सामाजिक जीवन की असमानता है। यह असमानता अखंड और निरपेक्ष नहीं होती; असमानता के साथ बहुत सी समानता भी कायम रहती है। यही कारण है कि बहुत-सी बातों में रुचि की असमानता के साथ कुछ बातों में रुचि की समानता भी मिलती है। उसी निबन्ध में

शुक्लजी ने कविता पर अत्याचार की बात कही है, लोभियों और स्वार्थियों द्वारा उसके गला दबाए जाने की बात कही है, केशव आदि के विवेचन में राज-दरबारों के कुसंस्कारों का उल्लेख किया है - यह सब सिद्ध करता है कि मनुष्य की रुचि का आधार उसके जीवन की परिस्थितियाँ हैं। रुचि के वर्ग-आधार का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। इच्छा-शक्ति परिस्थितियों से प्रभावित होती है लेकिन जिनका मनोबल दृढ़ होता है, वे अपने वर्ग की परिस्थितियों से ऊपर भी उठ सकते हैं और उठ जाते हैं।

रुचि और भावना का आधार पहचानने के कारण शुक्लजी ने सामंती संस्कारों और सामंती साहित्यशास्त्र का बार-बार खंडन किया है। भावना और नैतिकता का गहरा संबंध है। मनुष्य के कर्मों के नियामक बुद्धि से ज्यादा उसके भाव, उसके संस्कार होते हैं। शुक्लजी ने सामंती और पूँजीवादी वर्गों की रुचि और नैतिकता का तीव्र खंडन किया है। 'गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका' पीटने वाले 'देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने' देशोद्धार की पुकार करने वाले उन्हें धोखा नहीं दे सकते (श्रद्धा-भक्ति)। दूसरों की श्रद्धा के लिए ललकने वाले धूर्तों को उन्होंने कड़ी फटकार बतलाई है। इनके लिए ठगविद्या का ही दूसरा नाम है। दूसरों के कर्मों के लिए सच्ची सम्मान-भावना से उसका कोई संबंध नहीं है। शुक्लजी ऐसे ठगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं : 'परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।' यह व्यापार-युग है। यहाँ हर चीज़ बिकती है, 'तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिके?' पूँजीवादी वर्ग बिकाऊ माल के सहारे जीता है। यह उसका वर्गधर्म है, उसकी वर्ग-नैतिकता है। इसलिए वह श्रद्धा को भी बिकाऊ माल बना डालता है। और व्यापार-युग से पहले दान-दक्षिणा का युग था। पंडों और पुरोहितों के लिए श्रद्धा का अर्थ दक्षिणा हो गया। यजमान कहता है, 'इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे कहते हैं, 'जितनी श्रद्धा हो, उतना दो।' 'यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं।' (उप.) धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार यहाँ भी होता है।

लोक-दिखावे के लिए धनी व्यक्ति सदाचार का ढोंग रचते हैं, दूसरों पर दया का अभिनय करते हैं! लेकिन वे भूल जाते हैं कि 'मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।' (करुणा)। इसी तरह निःसंकोच होकर अपने संकोची होने का दावा करने वालों को शुक्लजी ढोंगी कहते हैं। हमारे यहाँ के समाज में ऊँच-नीच का भेद रहा है। जो आदर और सम्मान के योग्य हैं, वे आदर पायें, लेकिन जनता को दबाकर जब आदर पाने का एक पेशा बन जाता है, तब उस समाज-व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण समझ लेना चाहिए। शुक्लजी कहते हैं : 'जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर

दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।' (ईर्ष्या) ईर्ष्या का यह सामाजिक आधार हुआ। संघ-शक्ति का तभी विकास हो सकता है जब वर्गों के बीच की यह विषमता न रहे। लेकिन विषमता घटने के बदले और बढ़ती जाती है। उसका बढ़ना एक वस्तुगत क्रम है, वह कुछ लोगों की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नहीं है। उसका निवारण वर्गहीन समाज के निर्माण से ही संभव है। शुक्लजी ने लिखा है : 'किसी अवध के ताल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वाँग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन में आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवाता चले।' (ईर्ष्या) टोपी बदल गई है लेकिन गरीबों पर अत्याचार कायम हैं बल्कि राइफल और टियर गैस की मदद से और बढ़ गए हैं।

पूँजीवादी समाज में एक संस्कार खूब पनपता है। यह संस्कार 'खुद कमाओ और जियो, दूसरों को मरने दो' का है। पूँजीवादी नैतिकता का आधार वह स्वार्थ-वृत्ति है जिसे व्यक्ति की स्वाधीनता का नाम दिया जाता है। अंग्रेज़ी में इसे झूठे सिद्धांत का रूप दिया गया है - सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट। समाज में जो शक्तिशाली है, वह दूसरों को मारकर या मर जाने देकर खुद जिएगा। डार्विन ने विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धांत के साथ यह कल्पना भी जोड़ दी थी। इस कल्पना का आधार इंग्लैंड के पूँजीवादी समाज में स्वार्थ की होड़ थी। आजकल इस सिद्धांत का उपयोग पूँजीवादी लूट और युद्धों को जायज़ ठहराने के लिए किया जाता है। शुक्लजी ने इस धारणा को पास नहीं फटकने दिया। उनके लिए मनुष्यता का विकास परस्पर सहयोग के आधार पर होता है और होना चाहिए, न कि इस हिंसा के द्वारा। अपने 'श्रद्धा-भक्ति' वाले निबंध में शुक्लजी ने लिखा है : 'अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढता है तो नहीं पाता है -- कहीं उसे जीवो जीवस्य जीवनं का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान-बूझकर क्यों न किया जाए, यह नहीं सोचता कि मनुष्य जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की ओर कोई भूमि उसे दिखाई नहीं पड़ रही है।' जीवो जीवस्य जीवनं – जंगल का नियम है। जिस समाज में यह नियम लागू हो, वह सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी नहीं, वह मनुष्यता की स्थिति तक पहुँचा हुआ नहीं, उसकी चेतना अवरुद्ध और कुंठित हो गई है।

पश्चिम के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने समाज-विशेष के वर्ग-संबंधों में पनपने वाली स्वार्थपरकता को शाश्वत नियम का रूप दिया। उनके लिए मनुष्य का कोई काम निःस्वार्थ होता ही नहीं, कोई देश और जनता के लिए हँसते-हँसते प्राण भी दे दे तो वे उसमें उनके अहंकार की तुष्टि या किसी दमित वासना की अभिव्यक्ति देख लेंगे और

उसकी निःस्वार्थ सेवा से इन्कार करेंगे। ऐसे लोगों के लिए करुणा, सहानुभूति आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। इन्हें लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है : 'समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक-दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाए तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी।' (करुणा)। शुक्लजी का मनोविज्ञान पच्छिमी मनोविज्ञान से किस तरह भिन्न है, उसकी यह मिसाल है।

शुक्लजी ने कई जगह अंग्रेज़ आलोचक आई.ए.रिचार्ड्स का नाम प्रशंसा के साथ लिया है। वह इसलिए कि रिचार्ड्स ने शुद्ध कलावाद का खंडन किया था, साहित्य को अनुभूति से अलग न किया था। पच्छिम के दूसरे पतनशील विचारकों के मुकाबले में उन्होंने उसकी प्रशंसा की थी। लेकिन रिचार्ड्स के मनोविज्ञान का आधार भी व्यक्तिवाद है। वह कविता का लक्ष्य मनुष्य के मनोविकारों में संतुलन मानता है। लेकिन कौन-सी प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं और कौन-सी बुरी, इसकी छानबीन उसने नहीं की। रिचार्ड्स के विपरीत शुक्लजी के विवेचन की आधारशिला है लोकहित। कौन-सा भाव अच्छा है, कौन-सा बुरा, भिन्न-भिन्न वर्गों में एक ही भाव के कौन-कौन से रूप होते हैं (वास्तव में भाव-विशेष का नाम एक होता है, उसके तत्व अलग-अलग होते हैं), ये समस्याएँ शुक्लजी ने उठाई हैं, रिचार्ड्स ने नहीं। भाव अच्छा है या बुरा, इसकी कसौटी यह है : 'किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।' (उत्साह)। रिचार्ड्स ने मानव-वृत्तियों के परिणाम का सवाल नहीं उठाया, इसीलिए उसने कलावाद का जो खंडन किया है, वह संगत नहीं है।

उत्साह क्या है? 'कर्ममात्र से संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है', वही उत्साह है। कर्म के साथ फल की इच्छा भी होती है और यह इच्छा अनुचित नहीं है यदि फल का संबंध शुद्ध स्वार्थ न हो। देशरक्षा में भी साहस देखा जाता है, परपीड़न और डकैती में भी। दूसरी तरह का साहस पहले के सौंदर्य तक 'कभी नहीं पहुँच सकता'। (उत्साह)। परिणाम के अनुसार यह भाव का सौंदर्य-निरूपण हुआ।

श्रद्धा से क्या सिद्ध होता है? यही कि 'जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित होता है।' इस तरह लोकहित भावों का शुभ या अशुभ रूप परखने की कसौटी बनता है। इसी लोकहित के कारण श्रद्धालु की दृष्टि 'सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं।' अंध श्रद्धा क्यों खराब है? इसलिए कि उससे समाज का अनिष्ट होता है। अंध श्रद्धा के ही कारण धर्म और देशहितैषिता के नाम पर लोग ठगे जाते हैं।

क्रोध के त्याग का उपदेश बहुत से महात्माओं ने दिया है लेकिन समाज-रक्षा के लिए क्रोध आवश्यक हो, तो उसका पूर्ण त्याग हानिकर होगा। किसी स्त्री पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध करें तो 'उस समय का हमारा क्रोध कितना सुंदर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!' इसी तरह करुणा की आवश्यकता 'जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिए है। मनुष्य बनने के लिए शील और संकोच की ज़रूरत होती है। लेकिन लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहकर पुरुषों ने उसे 'आनंद और विलास की एक सामग्री' बना डाला। लोभ का एक रूप प्रेम होता है जिसका उत्कृष्ट रूप देशप्रेम है। इसके विरुद्ध पैसे का लोभ है, जिससे लोभ का मतलब ही पैसे का लोभ हो गया है। घृणा और क्रोध का नज़दीकी संबंध है और जैसे जीवन में क्रोध आवश्यक है, वैसे ही घृणा भी। भय की स्थायी वृत्ति कायरता कहलाती है। असभ्य, पिछड़ी हुई और जंगली जातियों में भय की मात्रा ज्यादा होती है। जैसे-प्रकृति के बारे में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका भय कम होता जाता है। ईर्ष्या एक ऐसा भाव है जो समाज की कृत्रिमता से पैदा होता है और जिसे कोई प्रकट नहीं करना चाहता।

इस तरह शुक्लजी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बतलाया है, उसका संबंध मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाब से उसे शुभ या अशुभ माना है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है।

जीवन में भावों की महत्वपूर्ण भूमिका है। 'समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।' (भाव या मनोविकार)। भावों का संबंध मनुष्य के कर्मों से है। जैसे उसके भाव और संस्कार होते हैं, वैसे ही उसके कर्म होते हैं। 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है।' (करुणा)। इसलिए भावों की छानबीन का काम सामाजिक महत्व का है। कविता मनुष्य के भावों को प्रतिबिंबित करती है, इसलिए उसे भी मानव-जीवन की प्रवर्तक मानना होगा, उसे भी मनुष्य की सजीवता का कारण मानना होगा। योग वाला चित्तवृत्ति का निरोध काव्य का मार्ग नहीं है। साहित्य में मनोविकार प्रकट ही नहीं किए जाते, उनका परिष्कार भी किया जाता है। यह साहित्य की सामाजिक उपयोगिता है। मनोविकारों का दमन करने वालों को लक्ष्य करके शुक्लजी कहते हैं : 'नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर ज़ोर देते हैं।' (करुणा)। कवि तीन काम करता है -- मनोवेगों को तीव्र करता है, उन्हें परिमार्जित करता है और संसार के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर ज़ोर देता है। शुक्लजी का यह सिद्धांत अरस्तू के कैथार्सिस या भाव-परिष्कार के सूत्र से ज्यादा भरा-

पूरा है। संस्कृति का आधार मानव-संबंध है, उसका प्रभाव मानव-संबंधों पर पड़ता है, संस्कृति अपने उस आधार को दृढ़ या निर्बल करती है। यह बात साहित्य के लिए भी नहीं कही जा सकती। साहित्य केवल भाव-परिष्कार ही नहीं करता, वह किन्हीं मानव-संबंधों को दृढ़ या कमज़ोर भी करता है। इस तरह किसी समाज-व्यवस्था को कायम रखने या उसे निर्मूल करने में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी कारण साहित्यकार किन्हीं मानव-संबंधों या किसी समाज-व्यवस्था की रक्षा या विनाश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता, चाहे तो भी उसके लिए यह संभव नहीं है।

साहित्य की अनुभूति भावों की अनुभूति है। भावों की अनुभूति वास्तविक जीवन में, मनुष्य के व्यवहार-जगत् में होती है। इसलिए साहित्य की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नहीं है। जिन बातों से संसार मे दुख मिलता है, उनसे साहित्य में भी मिलता है। ट्रैजेडी पर आँसू बहाने में शुद्ध आनंद का अनुभव होता है, शुक्लजी यह नहीं मानते। वह पहले आलोचक हैं जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के विचारकों से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है।

भावों की अनुभूति का नाम ही रस है। शुक्लजी ने एक ओर क्रोचे का खण्डन किया है जो काव्य (या कला) को शुद्ध अभिव्यंजना मानता है लेकिन कहीं-कहीं दबी ज़बान से भावानुभूति स्वीकार भी कर गया है, दूसरी ओर उन्होंने उन भारतीय विचारकों को भी फटकारा है जो हृदय की अनुभूति की बातें तो करते हैं लेकिन रस शब्द से परहेज़ करते हैं। उन्होंने ऐसे लोगों को याद दिलाया है कि हृदय की अनुभूति रस से अलग कोई अनूठी चीज़ नहीं है।

साहित्य के व्यापक प्रभाव का कारण भावना की लोक-सामान्य भूमि है। रस-दशा लोक-हृदय में लीन होने की दशा का ही नाम है। इसलिए साहित्य का भाव-जगत् जनसाधारण का भाव-जगत् होना चाहिए, मुट्ठी-भर लोगों का कृत्रिम भाव-जगत् नहीं। साहित्य राज-दरबारों, पंडों-पुरोहितों और देशभक्ति का सौदा करने वालों का गुलाम बन जाए, उन्हीं की भावनाएँ व्यक्त करने लगे तो वह अपनी व्यापकता खो देगा। साहित्य में आत्माभिव्यक्ति वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह लोक-जीवन की भी अभिव्यक्ति है। इससे आगे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आ जाता है जिसकी जगह किसी अजायबघर में है, साहित्य में नहीं। पच्छिम से व्यक्तिवाद के मुकाबले में शुक्लजी ने भारत का साधारणीकरण का सिद्धांत रखा है। उन्होंने इसकी नई व्याख्या की है। 'यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।' (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद)। काव्य में भाव-व्यंजना किसी विशेष आलंबन के सहारे ही होती है लेकिन यह विशेष सामान्य का विरोधी नहीं होता। कवि-कौशल विशेष और सामान्य की

एकता स्थापित करके उनका विरोध मिटा देता है। 'भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है।' (उप.)

साहित्य का भाव-व्यापार बौद्धिक क्रिया का विरोधी नहीं है, न वह उससे स्वतंत्रत या तटस्थ है। शुक्लजी ने अबुद्धिवाद का बार-बार खंडन किया है, उन लोगों पर फब्तियाँ कसी हैं जो बुद्धि के विकास को काव्य के ह्रास का कारण मानते हैं। उन्होंने दिखलाया है कि मनुष्य के भावों का परिष्कार और संचार वर्तमान सभ्यता और मनुष्य के बनावटी सामाजिक जीवन से रुक सकता है, बुद्धि के प्रसार से नहीं। बुद्धि को कोसना वर्तमान सभ्यता (अर्थात् पूँजीवादी सभ्यता) और सामाजिक जीवन के बनावटीपन पर पर्दा डालता है। इन्दौर वाले भाषण में शुक्लजी ने बुद्धि और हृदय, बौद्धिक ज्ञान और भावना का संबंध बहुत अच्छी तरह बतला दिया है। बुद्धि और हृदय एक-दूसरे के विरोधी न हों, 'दोनों एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें।' यह सहयोग किस तरह कायम होता है? बुद्धि अपने 'विशेष मनन और चिंतन द्वारा' जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कवि उन्हीं को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखता है। भावना का आधार अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। 'ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।' काव्य को अबौद्धिक क्रिया मानने वालों को शुक्लजी का यह अकाट्य उत्तर है। ज्ञान और भावना का यह संबंध उसी सूत्र को लेकर चला है जिसके अनुसार 'हृदय सिंधु मति सीप समाना' है और 'बरबारि बिचारू' के बरसने पर 'कवित मुक्त मनि चारू' उत्पन्न होते हैं। साहित्य विचार शून्य, विचारों से तटस्थ, ज्ञान के प्रति उदासीन क्रिया नहीं है। श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार के मार्ग पर चलता है।

साहित्य के भाव-जगत् के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चिंतन हैं तो दूसरे छोर पर इन्द्रियबोध और मूर्तिमत्ता है। साहित्य और शिल्प, स्थापत्य आदि की सामान्य भूमि यह गोचरता है। शुक्लजी ने कई जगह साहित्य को कला की संज्ञा न देने पर ज़ोर दिया है। ऐसा उन्होंने उसे शुद्ध कलावाद से बचाने के लिए किया है। लेकिन शिल्प आदि कलाओं की सामान्य भूमि यह गोचरता है, गोचरता के आधार पर उनका सौंदर्य है, सौंदर्य के साथ मनुष्य की वासना का संस्कार और आनंद है। इस कारण साहित्य को ललित कलाओं से एकदम अलग नहीं किया जा सकता, न साहित्य-मीमांसा से सुंदर शब्द खारिज किया जा सकता है।

ऊपर हमने देखा है कि बुद्धि अपने चिंतन और मनन द्वारा जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कल्पना उन्हीं को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखती है। जहाँ गोचर रूप होगा, वहाँ यह भी देखा जाएगा कि यह रूप किस तरह सँवारा गया है, उसका आकार-प्रकार, रंग आदि हमारे सौंदर्य-बोध के अनुकूल है या नहीं। पच्छिम के कुछ विचारकों ने साहित्य को गोचरता तक, इन्द्रियबोध और रूपरंग की सुंदरता तक सीमित कर दिया है।

इसी कारण शुक्लजी काव्यशास्त्र के बदले सौंदर्यशास्त्र का प्रयोग गलत मानते हैं। उनका यह विरोध सही है। सौंदर्य से इन्द्रियबोध का ही सौंदर्य लेना गलत है। सौंदर्य का अर्थ केवल इन्द्रियबोध वाला सौंदर्य नहीं है। 'कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौंदर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है।' (कविता क्या है)

साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धांत शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है, न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Intuition) का फल है। इस तरह के ज्ञान-शास्त्रों का विरोध करने के बाद शुक्लजी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धांत रखा है। वह सिद्धांत यह है कि मनुष्य के बौद्धिक चिंतन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है, 'आरंभ में मनुष्य-जाति की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रियबोध है। साहित्य इस सीढ़ी को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक चिंतन जहाँ बुद्धि-व्यवसायात्मक है, वहाँ साहित्य इन्द्रियबोध का सहारा लिए रहता है। उसके कलात्मक सौंदर्य का यह भी एक आधार होता है।

अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है : 'प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही होता है।' भाव के साथ प्रथम अवयव के रूप में विषयबोध मौजूद हो तो भाव-जगत् विषयबोध से अलग नहीं हो सकता। साहित्य की अनुभूति शुद्ध भावानुभूति नहीं हो सकती, उसके साथ इन्द्रियबोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव ज्यादा व्यापक होता है, भाव से इन्द्रियबोध। इस गोचर आधार के कारण साहित्य विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और प्रभावशाली होता है। काव्य की विशेषता भावों को मूर्त रूप देने में है। 'जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा।' (कविता क्या है)

कल्पना का आधार इन्द्रियबोध ही है। शुद्ध कल्पना नाम की कोई चीज़ नहीं है। पश्चिम के जिन विचारकों ने कल्पना का स्वतंत्र अस्तित्व माना है, उसकी निराली सृष्टि की चर्चा की है, शुक्लजी ने उनका खंडन किया है। उनका प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कोलरिज जैसे भाववादियों से भी है जिन्होंने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था। योरप की कल्पनावादी साहित्य-मीमांसा के विपरीत शुक्लजी का मत यह है : 'जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं।

फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।' (कविता क्या है)

शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र में मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिंब है। वह रूप-गतिहीन नहीं है, रूपगति का ही संघात है। मानसिक प्रक्रिया की यह वस्तुवादी व्याख्या है। 'जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। ' (कविता क्या है)। मन स्वयं रूपमय है, इसलिए ज्ञान भी रूपातीत नहीं होता।'हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है' (उप.)। जो चिंतन और विचार अरूप लगते हैं, उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिए संकेतों से काम लेता है लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत् या उसके मानसिक प्रतिबिंब की ओर ही होता है। 'भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।' (उप.)। साहित्य की मूर्तिमत्ता का यह दार्शनिक आधार है।

इस ठोस दार्शनिक आधार पर ही शुक्लजी ने साहित्य में रूपविधान की चर्चा की है। कल्पना क्या है? 'मानसिक रूपविधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।' (रसात्मक बोध के विविध रूप)। ऐडीसन के कल्पना-संबंधी विवेचन के साथ चलते हुए शुक्लजी दो तरह का रूप-विधान बतलाते हैं - एक तो 'प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिंब होता है', दूसरा इनके 'आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान' होता है। पहला रूप-विधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। ऐडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है', यह स्थापना ऐडीसन के चिंतन से बहुत दूर है। अनुभूति का अर्थ शुक्लजी के लिए 'चाक्षुष ज्ञान' के अलावा शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी है। इस तरह रूप-विधान का अर्थ इन्द्रियबोध का ही विधान समझना चाहिए।

रूप-विधान में चाक्षुष ज्ञान मुख्य है। इसीलिए शास्त्र-चर्चा की विशेषता अर्थ-ग्रहण है तो साहित्य की विशेषता बिम्बग्रहण। (कविता क्या है)। साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमें होती है जिनमें मूर्तिविधान की क्षमता होती है। जो लोग साहित्य से प्रभावित नहीं होते, उसका एक कारण यह है कि 'उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नहीं होता जो भावों को परिचालित करता है।' (उप.)। कल्पना की आवश्यकता न केवल साहित्यकार के लिए है, वरन् उसके पाठक के लिए भी वह जरूरी है।

बौद्धिक चिंतन, इन्द्रियबोध और भावना का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल हैं। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा संगत और वैज्ञानिक है। यह हिंदी का अपना साहित्यशास्त्र है।

इस शास्त्र के आधार पर उन्होंने क्रोचे आदि पश्चिम के विचारकों का खंडन किया है। जो लोग हिंदी के साहित्यशास्त्र को अंग्रेज़ी किताबों की नकल समझते हैं, वे हिंदी-अंग्रेज़ी दोनों ही के साहित्यशास्त्र का अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। पश्चिमी साहित्यशास्त्र के बारे में शुक्लजी का कहना है : 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है, योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' (कविता क्या है)। यह सब पढ़कर भी कोई कहे कि हिंदी का काव्यशास्त्र अंग्रेज़ी की नकल है तो उससे पूछना चाहिए कि दिमाग में अकल भी है या उसकी नकल ही रह गई है।

शुक्लजी अंग्रेज़ी आलोचकों में जिसके सबसे ज्यादा निकट है, वह ऐडीसन हैं। लॉक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर ऐडीसन ने कल्पना का सिद्धांत निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूप-विधान बतलाया था। तब से योरप की समीक्षा में मूर्तिमत्ता का खूब ज़ोर रहा है। लेकिन हर तरह की कल्पना, हर तरह का रूप-विधान तो कलात्मक नहीं होता। किस तरह की कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है, इसका जवाब ऐडीसन के यहाँ नहीं है। कारण यह है कि उसके पास रस-सिद्धांत नहीं था। कल्पना और रूप-विधान को काव्य-सौंदर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। इसका उत्तर तभी संभव है जब कल्पना का संबंध भावानुभूति से जोड़ा जाए। शुक्लजी ने यह संबंध जोड़ा है। उन्होंने रूप-विधान और भावानुभूति का संबंध इस तरह जोड़ा है : 'काव्यविधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्तरूप अंग - भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)

क्रोचे के सौंदर्यशास्त्र का खंडन करते हुए शुक्लजी ने योरप के आत्मवाद (या आइडियलिज़्म) का भी खंडन किया है। क्रोचे की विचारधारा बाह्य जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करती है। इसके बदले अपने उलझे तर्कजाल से वह बर्कले के दर्शन या मध्यकालीन अंधविश्वासों की ही प्रतिष्ठा कर सकता है। शुक्लजी ने उसके प्रतिक्रियावाद की जड़ पर भी आघात किया है। क्रोचे की मूल स्थापना क्या है? 'उसने कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है,

उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है -- इस जगत् और जीवन से स्वतंत्र।' यह बात किसी-न-किसी रूप में भारत के अध्यात्मवादी भी दोहराते हैं, इसमें संदेह नहीं। शुक्लजी ने इसी का खंडन किया है। क्रोचे जिसे आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिंब साबित करते हैं। स्वयं शुक्लजी भी जहाँ अपवाद रूप से आत्मवादी विचारधारा की ओर झुक जाते हैं, वहाँ क्रोचे की उपर्युक्त धारणा से मिलती-जुलती बात ही कहते हैं। जैसे यह उक्ति : 'परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।' (करुणा)। मानव मात्र के हृदय को विश्वात्मा कहा जाए तो बात दूसरी है लेकिन शुक्लजी का वह अर्थ नहीं है। उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि काव्य का लक्ष्य यह है कि 'मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। लेकिन मनुष्य की अनुभूति विकासमान है। इन्द्रियज ज्ञान से मनुष्य बुद्धि-व्यवसायी ज्ञान की ओर बढ़ता आया है, पूर्वजों के संस्कारों में नए संस्कार जोड़ता आया है, यह शुक्लजी सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए देशकालबद्ध मानव से परे कोई त्रिकालवर्तिनी अनुभूति नहीं है।

इस तरह की उक्तियाँ अपवाद हैं। शुक्लजी जब हृदय की मुक्त दशा की बात करते हैं तब उसकी व्याख्या करके स्पष्ट कर देते हैं कि उनका आशय लोक-हृदय में लीन होने की दशा से है।

शुक्लजी की आलोचना बड़ी गंभीर है, यह बात अक्सर दोहराई जाती है। इस प्रशंसा में अज्ञान भी छिपा रहता है। बात समझने में बुद्धि पर ज्यादा ज़ोर पड़े तो उसे गंभीर कहने से जल्दी पीछा छूट जाता है। दूसरी तरह का अज्ञान शुक्लजी को देखकर मुँह मटकाने से प्रकट होता है। ब्राह्मणवादी हैं, एकांगी समाजशास्त्री हैं, आउट आफ डेट हैं, कुछ अंग्रेज़ी चीज़ों का अनुवाद किया है, मध्य-वर्ग के संस्कारों से पीड़ित हैं, आदि बातें इसी तरह का अज्ञान प्रकट करती हैं।

शुक्लजी की आलोचना गंभीर है, इसलिए कि उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है। वह संसार के उन इने-गिने आलोचकों में हैं जिन्होंने मुक्त कण्ठ से इस भौतिक जगत् को सत्य स्वीकार किया है। शुक्लजी ने लिखा है : 'संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है।' जब संसार में भारत की भी गिनती होने लगेगी, यानी कुछ बुद्धिजीवियों का दिमाग पश्चिम की गुलामी से मुक्त होगा, वहाँ की प्रगतिशील विचारधारा पहचान कर उससे शुक्लजी की तुलना करेगा, तब वह उनका महत्व पहचानेगा, उससे पहले नहीं।

शुक्लजी की गंभीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिंतन पद्धति है। इस पद्धति को हम द्वंद्व नाम दें तो अनुचित न होगा। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर संबंध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। भारतीय दार्शनिकों और तार्किकों की लंबी परंपरा में भी शुक्लजी अपनी इस चिंतन-पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते हैं।

विरोधी तत्वों की एकता देखने के कारण शुक्लजी ही लिख सकते थे : 'यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।' (श्रद्धा-भक्ति)। कारण यह है कि एक में प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे में निवृत्ति का। साहित्य के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। 'जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव साथ-साथ चलता है।' (उप.)। इस पद्धति से उन्होंने निर्माण के साथ ध्वंस को भी आवश्यक बतलाया है, माधुर्य के साथ भीषणता में भी सौंदर्य देखा है। इसी पद्धति से रूपविधान और भाव का संबंध, इन्द्रियबोध और विचार का संबंध, साहित्य में सामान्य और विशेष का संबंध समझ में आता है। इसी तरह साहित्य में विभिन्न अर्थों का समन्वय होता है। अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य है। 'पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।' (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। इसी तरह काव्य में विभाव प्रधान वस्तु है; उसी से भाव-व्यंजना होती है। 'भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।' (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य में साधारण और असाधारण का संबंध इसी पद्धति से समझा जा सकता है। 'साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। इस तरह के वाक्य अचानक पाठक को चमत्कृत कर देते हैं। उनमें जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है, यही उनके अनूठेपन का कारण है।

शुक्लजी ने न तो ऑस्कर वाइल्ड जैसे कुछ लेखकों की तरह आलंकारिक शैली मात्र के विरोधाभास खड़े किए हैं, न उन्होंने कुछ भारतीय समन्वयवादियों की तरह वास्तविक विरोध पर पर्दा डालकर नकली एकता कायम कर दी है। वह विरोधी लगने वाले तत्वों की जो एकता दिखलाते हैं, वह वास्तविक होती है, उसका आधार मनुष्य का व्यवहार-जगत् होता है, कल्पना नहीं।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है : 'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है।' इसकी बहुत अच्छी मिसाल वह विवेचन है जहाँ शुक्लजी ने विदेश के सामाजिक आंदोलनों से भारत का संबंध जोड़ा है। इस पद्धति के कारण वह क्रोचे आदि

विचारकों और अंग्रेज़ी के इलियट आदि कवियों के हानिकर प्रभाव से हिंदी लेखकों और पाठकों को सावधान कर सके।

वह वस्तुओं और विचारों को गतिशील और विकासमान किस तरह देखते हैं, इसकी मिसाल मनुष्य की देव-संबंधी धारणा, उसकी भावना और चिंतन के विकास तथा संस्कारों के अर्जन का विवेचन है। उन्होंने अनेक रसवादियों या कल्पनावादियों की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तनशील नहीं माना। इसीलिए विकासक्रम में कौन-से तत्व पतनशील हैं, कौन-से प्रगतिशील, इसका भेद वह दिखा सके। उन्होंने संस्कृत, फारसी, हिंदी, उर्दू के दरबारी साहित्य का लगातार और डटकर विरोध किया। उन्होंने हिंदी साहित्य में संस्कृत साहित्य के पतनशील रुझान छोड़ने को कहा, उसके प्रगतिशील रुझान अपनाने की सलाह दी। उन्होंने लिखा है : 'हिंदी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। यहाँ एक ओर तो उन्होंने संस्कृत साहित्य से हिंदी साहित्य का संबंध देखा है। द्वंद्व पद्धति की यह एक विशेषता है। साथ ही उन्होंने संस्कृत साहित्य को गतिशील देखा है, उसके पतनशील रूप से सावधान किया है। द्वंद्व-पद्धति की यह दूसरी विशेषता हुई।

शुक्लजी की गंभीरता का तीसरा कारण उनका सामाजिक दृष्टिकोण है। वह हिंदी के मानववादी, सामंत-विरोधी और देशभक्त लेखक हैं। उन्हें जन-साधारण से प्रेम है। इसलिए वह साधारण में ही असाधारण की स्थिति देख सकते हैं। उन्हें अपने देश की संस्कृति से प्रेम है, इसलिए वह पश्चिम के घटिया सिद्धांतों की नकल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस दिशा में कहीं-कहीं उनका विवेचन गलत हो गया है, कहीं-कहीं तुलसी को महान् सिद्ध करने की धुन में वह साहित्य का संबंध धर्म से जोड़ने लग गए हैं, लेकिन यह उनकी मूल विचारधारा नहीं है। सच्चे हिंदूवादी और इस्लामवादी की पहचान यह है कि वह साम्राज्यवाद और सामंतवाद का समर्थक होता है। शुक्लजी साम्राज्यवाद और सामंतवाद के निर्मम आलोचक हैं। उन्होंने पैसे पर टिके हुए मानव-संबंधों की, पूँजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, योरप के उपनिवेशवादियों का सच्चा रूप प्रकट किया है, कविता को उद्दीपन का व्यापार बनाने वालों और धार्मिक पाखण्ड से जनता को ठगने वालों की तीखी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी का काव्यशास्त्र जैसे दार्शनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, वैसे ही उनका साहित्यालोचन सामाजिक क्षेत्र में है।

मनुष्य उनके लिए देशबद्ध प्राणी है। जिसके हृदय में देश-प्रेम नहीं, उसका मानवतावाद झूठा है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की माँग करते हुए न तो उन्होंने प्रकृति को आध्यात्मिक सत्य का संदेशवाहक बनाया है, न उसकी रूपपूजा को महत्वपूर्ण माना है। प्रकृति-चित्रण की आवश्यकता उससे मनुष्य के साहचर्य से पैदा होती है। और मनुष्य का सबसे ज्यादा संबंध उसके अपने देश से होता है। 'इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति

या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।' (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। शुक्लजी नहीं चाहते कि जैसे 'एक अमेरिकन फारस वालों को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया', वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनों से देशप्रेम करना सीखें और 'विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई' दिया करें। शुक्लजी की देशभक्ति तमाम हिंदी पाठकों और साहित्यकारों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना सिखलाती है। इस स्वाधीनता को आज खास खतरा उन्हीं से है, जो फारस वालों को देश का हिसाब-किताब समझाकर चले नहीं आए, वरन् वहाँ युद्ध का अड्डा बना रहे हैं।

दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण हैं। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धांतों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर उन्होंने उसका विरोध करना नहीं छोड़ा। भारतीय अध्यात्मवाद की विश्व में डुग्गी पिटने पर भी उन्होंने वास्तविक जगत् का सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत् के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेज़ी और संस्कृत की धाक की परवाह न करके उन्होंने इन भाषाओं के साहित्य में जो कमज़ोरियाँ दिखीं उनका भी खुलकर विवेचन किया। इन सब कामों के लिए उन्हें बल मिलता था हिंदी जनता से, हिंदी के तरुण विद्यार्थियों से, उच्च वर्गों की अवज्ञा और अपमान से, बाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की परम्परा से, संसार की बढ़ती हुई स्वाधीनता-प्रेमी मानवता से और अपने विशाल हृदय से।

शुक्लजी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य-प्रेमी हैं। उनकी तर्क-योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं। उनमें भारतेंदु-युग की जिन्दादिली है, उस युग के लेखकों जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिए नहीं होता। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियों के लिए वे कहते हैं, 'न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।' ऐसा तीखा व्यंग्य या तो प्रेमचंद में मिलता है या निराला में। ऐसे तीर वे जब-तब ही निकालते हैं। उनका विनोद साधारणतः मनोरंजन और उल्लास के लिए होता है। 'एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह है कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते, और सब बातों में करते हैं।' (लज्जा और ग्लानि)। केशव, मिश्रबंधु आदि उनके व्यंग्य-विनोद का लक्ष्य किस तरह बने हैं, यह हम पहले देख चुके हैं।

शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमें कलात्मक सौंदर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई। फिर भी यह शैली एक-सी नहीं है। करुणा, क्रोध आदि निबंधों में

शैली का आनंद कम है; सूक्ष्म तर्क-योजना में रस लेने वाले ही इन्हें पढ़कर प्रसन्न हो सकते हैं। जहाँ-तहाँ आवेशपूर्ण वाक्य या आलंकारिक शैली आ गई है, वह मरुभूमि में जलाशय की तरह। लेकिन 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबंध खूब प्रवाहपूर्ण हैं। इनमें एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनंद मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक होती है।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता अत्यंत सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इस तरह के वाक्य अनायास उनके साधारण वाक्य-प्रवाह में आकर अपनी असाधारणता से पाठक को आकर्षित कर लेते हैं। इन वाक्यों में जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिंतन का फल संचित होता है। 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।', 'जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि हम बड़े संकोची हैं, उनमें संकोच कहाँ?', 'जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना-न-जीना बराबर है।', 'राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं।' इस तरह के सैकड़ों वाक्य उनकी रचनाओं में बिखरे हुए हैं।

जहाँ-तहाँ वह भारतेंदु-युग के लेखकों के रंग में शब्द-चमत्कार दिखाते हुए विनोद करते हैं। 'लोभ और प्रीति' के सिलसिले में 'सबकी टकटकी टके की ओर लग गई'; 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।' या क्रोध की चर्चा में, 'धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।'

शुक्लजी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग काफी किया है लेकिन इधर के आलोचकों से कम। तद्भव रूपों का भी प्रयोग वह धड़ल्ले से करते हैं। जैसे इतिहास में : 'वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पन्थ का प्रचार देश के पच्छिम भागों में' किया। पूरब-पच्छिम जैसे रूप उनके यहाँ खूब हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने काफी और बिना झिझक के किया है। इतिहास में देव-बिहारी वाले विवाद का नतीजा बतलाते हुए लिखा है कि बहुत से लोग 'इस तुलनात्मक समालोचना के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे।' अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की हिंदी में 'जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिए जाते थे।' बदरीनारायण चौधरी ने अपने दो नाटक 'हाथ आजमाने के लिए लिखे थे।' किशोरीलाल गोस्वामी के लिए 'खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया।' इस तरह के और बहुत से वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं। उर्दू शब्दों के प्रयोग का तो कहना ही क्या। 'अलबत' उनका वैसे ही प्रिय शब्द है जैसे 'नाना'!

किसी लेखक का कृतित्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। शुक्लजी के कृतित्व का अब तक जो विवेचन हुआ है, उसी को उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन समझना चाहिए।

इसके सिवा कुछ उनकी व्यक्तिगत बातें हैं जिनसे पाठकों को दिलचस्पी हो सकती है। उनके इतिहास में जहाँ-तहाँ दो-चार बातें इस तरह की मिलती हैं। शुक्लजी भारतेंदु-युग के अनेक लेखकों से अच्छी तरह परिचित थे। बालकृष्ण भट्ट से उन्होंने अनेक बार सुना था, 'न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।' एक बार वह शुक्लजी के घर आए थे और इनके भाई की आँख आई देखकर बोले थे, 'भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना-जाना, उठना-बैठना सब बुरा है।' बदरीनारायण चौधरी शुक्लजी पर विशेष कृपा रखते थे। कांग्रेस में दो दल होने पर उन्होंने शुक्लजी से एक नोट लिखने को कहा था। उसका एक वाक्य बदलकर उन्होंने यों लिखने का आग्रह किया था, 'दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।' शुक्लजी ने ठीक यही शैली तो नहीं अपनाई, लेकिन कभी-कभी मनोरंजन के लिए उससे मिलती-जुलती सानुप्रास शैली का प्रयोग उन्होंने जरूर किया है। जैसे सत्यनारायण कविरत्न के लिए लिखा है, 'वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्यसमाज के तीखेपन में तली महिला।'

बदरीनारायण चौधरी से उन्होंने भारतेंदु के बारे में बहुत-सी बातें सुनी होंगी। आनंदकादंबिनी पर भारतेंदु ने जो राय दी थी, उसे शुक्लजी ने इतिहास में उद्धृत किया है। (पृ.560)। प्रसादजी से उन्होंने कई बार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए कहा था, इसका जिक्र भी उन्होंने किया है। इस तरह के उल्लेख आलोचना में संस्मरणों का महत्व जोड़ देते हैं। शुक्लजी इतिहास लिख रहे थे, संस्मरण नहीं; इसलिए उन्होंने आवश्यक होने पर ही ऐसी बातों की चर्चा की है।

अपने बारे में उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उनकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत बातों का उल्लेख हुआ है, उनसे पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तसवीर बनती है। 'मैंने पहाड़ों और जंगलों में घूमते समय' साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था। साधु मुग्ध हुए हों चाहे न हुए हों, शुक्लजी ने जंगलों-पहाड़ों में घूमकर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था, इसमें संदेह नहीं। 'एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ' काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रम कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से! काशी की गलियों में उन्होंने ठठेरों को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगंध पर वह झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीझ उठे थे जिसे डर था कि महुए का नाम लेने से 'लोग देहाती समझेंगे'। उन्होंने चूल्हा फूँकते हुए ब्राह्मण देवता को उसमें पानी डालते देखकर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कहकर बूढ़ों को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनंद प्राप्त किया था। इसका कारण शुक्लजी का मानवप्रेम, उनकी विनोद-प्रियता और जिंदादिली थी। लड़कों

के सिवा बूढ़े रसिकों से भी यह पद सुनकर उन्होंने याद कर लिया था, 'कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की'!

शुक्लजी में कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की-सी हैं। दोनों ही लेखक सहज बुद्धि (कॉमन सेन्स) की ज़मीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्लजी यथार्थवाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्‌भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखने वाले कवियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं, 'आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूँछ के रूप में देखना चाहिए।' जायसी की भूमिका में 'काजर दे नहीं एरी सुहागिनी! आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन' -- इस पंक्ति पर शुक्लजी की टिप्पणी है, 'यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।'

शुक्लजी ने अपने निबंधों द्वारा हिंदी के काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत-हिंदी की प्रगतिशील परंपरा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्द-चयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज़ नहीं है। उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और विनोदी साहित्य-प्रेमी और संसार-प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तक-सेवी संन्यासी का नहीं। उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, गहन अध्यवसाय और आत्मविश्वास के गुण उनके काव्य-सिद्धांतों और साहित्यालोचन की ही तरह हिंदी-प्रेमियों के लिए शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक हैं।

('आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' पुस्तक से साभार)

13. अशोक के फूल से देवदारु वन तक

कृष्णबिहारी मिश्र

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की दीदी ने पुरुष जाति को सावधान करते हुए कहा है, 'प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता–तीन दोषों से बच।' यह उस व्यक्ति की उद्भावना है जिसने पूरी तरह इस चेतना को स्वीकार किया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व इन अभावों से पूर्णतया मुक्त है। उनका कृतित्व उनके अथक परिश्रम और विराट् साधना का परिणाम है। दुनियावी झंझटों को ताख पर रख के, प्रमाद और आलस्य को तोड़कर द्विवेदी जी ने भारतीय वाङ्मय का गंभीर अध्ययन किया। इसी प्रकार द्विवेदी जी क्षिप्रकारिता से भी मुक्त हैं यानी किसी बात में इन्हें जल्दी नहीं रहती। उनके निकट संपर्क में रहनेवाले इस बात की साक्षी देंगे। द्विवेदी जी प्रायः भीतर से पनडब्बा मंगाकर अपने हाथ से पान लगाकर अतिथि-सत्कार करते हैं। और यदि संयोगवश कभी आपने उनके हाथ का लगाया पान खाया हो; उन्हें पान लगाते देखा हो तो आप भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करेंगे। चुन-चुनकर पान के पत्ते द्विवेदी जी निकालते हैं, भेंटी की ओर से जरा टूंग देते हैं और फिर धीरे-धीरे उस पर चूना और फिर कत्था लगाते हैं, एक निश्चित मात्रा में सुपारी डालकर पान को मोड़ते हैं। बातचीत और ठहाका चलता रहता है और बड़े प्रेम से अतिथियों को पान थमाते हैं। आप ध्यान से देखें, जैसे अपने बात-व्यवहार में द्विवेदी जी क्षिप्रकारिता को नहीं आने देते, ठीक वैसे ही रचना अथवा लेखन में वे क्षिप्रकारिता से अपने को बचाते हैं।

इतने बड़े संयम का निर्वाह करने के बाद द्विवेदी जी जब कहते हैं कि 'कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीष की मस्ती की ओर देखो,' तो उनका मतलब सिर्फ़ इतना ही रहता है कि रचना के पहले पूर्वग्रह छोड़ना ज़रूरी है, मोह और आसक्ति से विरत होना ज़रूरी है। 'कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणी की अनासक्ति आधुनिक हिंदी कवि सुमित्रानंदन पंत में है। कविवर रवीन्द्रनाथ में यह अनासक्ति थी' और मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि निबंधकार हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी यह अनासक्ति है। द्विवेदी जी ठठाकर हंसते हैं अपनी घनी (किंतु छोटी) मूंछों के बीच अंगुली रखकर गंभीर विषयों पर सोचते हैं, खाली समय में तरह-तरह के विनोद

करते हैं, फूल-पौधों की और कुत्ता-मैना की कहानी कहते हैं, तंत्रशास्त्र से लेकर रवीन्द्रनाथ तक बातें करते हैं। और प्रायः मौज में संस्कृत और अपभ्रंश की कविताएँ सुनाते हैं। द्विवेदी जी का यह संपूर्ण आत्म-तत्व उनके निबंधों में प्रस्फुटित हुआ है।

हिंदी के एक समर्थ आचार्य ने द्विवेदी जी के निबंधों की विशेषता की ओर संकेत करते हुए दिल्ली की एक साहित्य-सभा में कहा था कि गुलेरी जी और द्विवेदी जी के निबंधों में इतनी अंतर्कथाएँ हैं कि बिना उनकी जानकारी रखे उनके निबंधों को ठीक से समझ पाना संभव नहीं है। यह सोलहो आने सच है कि द्विवेदीजी के निबंधों के पूरे आस्वादन के लिए एक सांस्कृतिक पीठिका और साहित्यिक संस्कार, आवश्यक है। किंतु जो इससे वंचित है वे भी द्विवेदीजी के निबंधों को पढ़कर निराश नहीं होंगे। वह द्विवेदीजी के सहज-शिल्प की निजी विशेषता है। इनके निबंधों के बीच-बीच में भारतीय मनीषा अपने मुखश्री से घूंघट हटाकर मनुष्य को एक कारुणिक दृष्टि से निहारने लगती है। उसे देखकर सामान्य पाठक की आँखें चौंधियाने लगती है और एक ही छवि को विविध रूपों में देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाता है। लेकिन चतुर पाठक की आँखें उस छवि को पहचानती हैं। तथापि एक ही दृश्य को उनके निबंधों में बार-बार देखकर भी उसकी आँखें थकती नहीं। अतृप्त मानसिक भूख इनके निबंधों की ओर बड़ी त्वरा को साथ दौड़ती है, एक विशेष प्रकार की तृप्ति का अनुभव होता है। मगर ऐसा नहीं होता कि मन भर जाय। एक बार पढ़कर हम उसे सदा के लिए बंद नहीं कर देते। एक बार पढ़ लेने पर हम प्रयोजन-निवृत्त नहीं हो जाते यानी कि उन्हें बार-बार पढ़ने की इच्छा रह जाती है। और यदि द्विवेदी जी के शिल्प की बहुत बड़ी उपलब्धि है कि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न संदर्भों में उपस्थित कर उसमें एक विशिष्ट अर्थवत्ता भर देते हैं, नया आकर्षण उत्पन्न कर देते हें। उनमें कहीं-कहीं आवृत्ति भी है। लेकिन वह कमजोर पाठक की पकड़ के बाहर है, अपनी शैली के बल पर द्विवेदी जी कभी-कभी यानी जब कमजोर स्थल आता है, पाठक के विवेक को सुला देते हैं। जिससे उनकी अशक्तता प्रत्यक्ष होकर सामने नहीं आ पाती।

शुक्ल जी के बाद की पीढ़ी के निबंधकारों में पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी सबसे सशक्त निबंध-लेखक हैं। आचार्य शुक्ल के निबंधों में—मेरा मतलब व्यक्ति व्यंजक निबंधों से है—बौद्धिकता कुछ अधिक है। द्विवेदी जी में अनुभूतियाँ अधिक हैं यानी वे एक हद तक लीरिकल और रोमैंटिक हैं जो कदाचित रवीन्द्रनाथ का प्रभाव है और यह प्रभाव ग्यारह वर्षों के संपर्क का स्वाभाविक परिणाम है। मेरा अनुमान है कि द्विवेदी जी योजना बांधकर लिखने नहीं बैठते होंगे। वीणा का एक तार छूने पर जैसे पूरे झंकृत हो उठते हैं, वैसे कोई बात द्विवेदी जी को छू देती है, उनकी प्रतिभा को उकसा देती है और तब वे कलम उठाते हैं, बहुत-सी बातें सहज ही फूटती चली जाती हैं, द्विवेदी जी उसे सजाते जाते हैं,

और इस प्रकार उनकी रचना एक रूप ले लेती है। इसी अर्थ में इन्हें लीरिकल कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में सौजन्य और सादगी है। एक बार उन्होंने बातचीत के सिलसिले में कहा था कि जयप्रकाश बाबू से परिचय हो जाने पर जब वे द्विवेदी जी से खड़ी बोली में बात कर रहे थे, द्विवेदी जी ने उन्हे टोका था और यह कहकर कि 'मेरी भी मातृभाषा भोजपुरी है' उनसे भोजपुरी में बोलने का प्रकारांतर से आग्रह किया था। उनके स्वभाव की यह सादगी उनके निबंधों में भी है, उदाहरण के लिए 'वसंत आ गया', 'एक कुत्ता और एक मैना', और 'शिरीष के फूल' को देखा जा सकता है। किंतु जब कभी द्विवेदी जी 'गतिशील चिंतन' में डूबते हैं तो सीधे कालिदास के लोक में पहुंच जाते हैं, उनके भीतर का बाणभट्ट सामने आकर उज्जैनी के गवाक्षों से झरने वाले सौंदर्य को निहारने लगता है। एकाश्वबाही रथ पर चढ़कर ऊबड़-खाबड़ रास्ते से होकर अपने गाँव की ओर जाते समय द्विवेदी जी को अचानक एक धक्का लगता है जो उनकी स्मृति को कुरेद देता है, उनके भावुक मन को जगा देता है और पुरातन को यादकर वे सोचने लगते हैं, हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुंबी और पाताल-पाती राज-मार्ग पर अपना रथ हाँक रहा था। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उस पर बैठे थे, एकाध और सुंदरियां भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहां शरीर और चित्त दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्कंप का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय ! कौन जाने मेरे चरित्र काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आयेगा या नहीं। अगर आये तो समाजवाद के उस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असंतोष उद्गिरण करनेवाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बूर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मारते जाना पड़ेगा। धक्का रोज ही औरों को भी जाने कई बार लगता है, मगर उन धक्कों का उन पर कोई असर नहीं। द्विवेदी जी का धक्का और है। ऐसा धक्का जो अपने विगत स्वर्णयुग के ऐश्वर्य की याद दिलाता है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की ओर सोचने के लिए प्रेरित करता है और विवश कर देता है साम्राज्यवाद के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए। उनके भीतर का विवेक उन्हें सावधान, करता है, 'डिफीटेड मैंटेलिटी.पराजित मनोभाव। सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है, बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है, और तुम गुप्तकाल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, और हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंगरेज-काल गुप्तकाल नहीं है, वर्तमान अतीत-जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गयी। आज बड़े-बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त

नैतिकता, समग्र काव्यकला, समग्र आचार-परंपरा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिह्न हैं। वतर्मान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित, दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्यताओं द्वारा कलंकित है। इस असौंदर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्जना को, इस अंधकार को। द्विवेदी जी की ऊँची उड़ान को देखकर कोई जनवादी पाठक या समीक्षक इन्हें पुराणपंथी या पलायनवादी समझने की भूल न करे। धरती से नाता तोड़कर वे सदा के लिए व्योमविहारी बन जाना नहीं चाहते। दृश्यमान जगत् के सवालों से आँख मूँदकर वे चिन्मय सत्ता की महत्ता नही समझाते। हर वक्त अदृश्य लोक में विचरने वाले को द्विवेदी जी पराजित मनोभाव से पीड़ित समझते हैं। ऊपर का उद्धरण इस बात को प्रमाणित करता है। इससे कुछ और आगे बढ़कर और अधिक स्पष्ट रूप से उन्होंने एक जगह लिखा है, 'लोग कहते हैं – इस जगत् की समस्त गंदगियों से परे कोई ऐसा परात्पर ब्रह्म है जो शाश्वत है, जो त्रिकाल में सत्य है, जो सदा-सर्वदा बना रहनेवाला है। होगा। परंतु मैं कहता हूँ कि मनुष्य की मानसिक भूख भी बहुत कुछ शाश्वत ही है। मनुष्य की उद्दाम लालसा को, पराजित बुभुक्षा को और दुर्दमनीय जिजीविषा को चिर पुरातन और चिर नवीन कहने की इच्छा होती है। वैरागी कहता है कि यह भूख तुम्हारा शत्रु है, किंतु कहने की इच्छा होती है कि इस भूख में ही मनुष्यता है।' द्विवेदी जी के साथ मार्क्सवादी बिल्ला न होने के कारण इन्हें बुर्जुआ, धुरीहीन और रहस्यवादी समझ लेना समझदारी की बात नहीं कही जा सकती। बल्कि सच तो ये है कि द्विवेदी जी सदा साम्राज्यवाद के विरोध में बोलते हैं, उस अवस्था के खिलाफ आवाज उठाते हैं, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम सामाजिक वैषम्य है। इस वैषम्य का परिणाम दारिद्र्य है, परमुखापेक्षिता है, हीनता है जिसे देखकर द्विवेदी जी के मन में कई प्रश्न उठते हैं, 'क्या सचमुच कला भी गरीबों के लिए हो सकती है? समाजवाद गरीबों के लिए है या गरीबी के ध्वंस के लिए? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रांत बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तेल-किट्ट-कलुष-शीशी लिए नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है कला का निर्माण क्या उसी के लिए होगा? या मारिए गोली कला को। रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुरदे कंधो पर स्थापित होगी हरगिज नहीं। समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक् दलित, अपमानित, हीन, निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमान को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जन-समूह से तेजोदृप्त जन-समूह का अवतार होगा पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना।'

देश के इस दारिद्र्य को देखकर द्विवेदी जी का दिल भारी हो उठा और थके मन से उन्होंने कहा, 'जब कि दिमाग खाली हो और दिल भारी हो तब शास्त्रचर्चा अच्छी नहीं लगती।' और तभी कहीं से एक गठीले बदनवाला पठान युवक हींग बेचते आ पहुँचा।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की लंबी दाढ़ी देखकर उसके मन में कई तरह की शंकाएँ उठीं और अंत में द्विवेदी जी के सामने एक प्रश्न रखकर वह चला गया। 'मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिंदू है?' यही वह प्रश्न था उस पठान युवक का जो द्विवेदी जी को एक गहरी चोट दे गया, उनकी प्रतिभा को जैसे किसी ने उकसा दिया हो, सोचने को मजबूर कर दिया हो कि 'इस अभागे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिंदू होता है। यह पठान युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूंकि वह मुसलमान है, इसीलिए वह हिंदू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अशों का संपादन किया था, पर चूंकि वह मुसलमान है इसलिए वह हिंदू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ़्र है।' यह सोचते ही द्विवेदी जी के सामने तत्काल ही भारतीय संस्कृति की अभाव-उपलब्धियों का एक दृश्य नाच गया। अफसोस की बात केवल उतनी ही नहीं है कि पाणिनि और यास्क के वंशज आज हींग बेचते हैं बल्कि और भी ढेर-सी बातें हैं जो हमारे स्वाभिमान को धक्का देती है, 'कुमार जीव के सगे-संबंधी आज सीमांत के हिंदुओं की बहू-बेटियों का व्यवसाय करते हैं, और इस बात को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहार-भूमि में आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का तांडव हो रहा है जो चित्त को मथे बिना नहीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रक्त बचा तो है। आज नहीं कल वह अपना प्रभाव फैलायेगा ही, लेकिन मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ कहते हैं, 'फलेन परिचीयते वृक्ष :'–अर्थात् दरख्त की पहचान फल से होती है। आज जो हिंदुओं की दुरवस्था है, वह है तो उसी बहु-विघोषित समृद्धि कालीन सभ्यता का परिणाम। कैसे कहूं कि वह अच्छी थी, जब कि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नज़र आ रहा है।' यह एक ज्योतिष के आचार्य और साहित्य के उस पंडित की वाणी है जो अपने को अनार्किस्ट कहता है, बूढ़ों को झुककर प्रणाम कर उन्हें अपेक्षित श्रद्धा देता है, देवस्थल के सामने माथा झुकाकर सहज ही अपनी जीवंत आस्था की विज्ञप्ति देता है।[1]

इसे मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ कि ज्योतिष के आचार्य होकर भी फलित ज्योतिष में द्विवेदी जी का विश्वास नहीं है। मुझे एक बार उन्होनें बताया था कि जब मैं शांतिनिकेतन पहुंचा तो वहाँ के लोग यह जानकर कि काशी का पंडित आया है, मेरी ओर आकृष्ट हुए और जब उन्हें मेरे ज्योतिषज्ञान का पता चला तो उन लोगों ने बड़ी श्रद्धा से मेरे सामने अपनी जन्म-पत्री और हाथ पसार दिया था। जन्म-पत्री और हस्त-रेखा देखे बिना ही अटकल से मैंने उन भाग्यवादियों के भाग्य के बारे में जो कुछ कह दिया संयोगवश वह सच निकल गया, परिणामतः मेरे यहाँ ऐसे लोगों की भीड़ बढ़ने लगी थी और किसी तरह उनसे पिंड छुड़ाया था। इस विद्या में मेरा विश्वास नहीं है।' सुनने वालों को शायद यकीन हो, लेकिन यह सच है कि द्विवेदी जी रूढियों के शत्रु हैं। फिर भी ज्योतिष और शास्त्र के आचार्य होने के कारण पंडितों की पंचायत में तथा ठाकुर जी की बटोर में वे सम्मानपूर्वक

बुलाये जाते हैं। पंडितों की पंचायत से हटाकर उन्हें क्षण-भर के लिए उनकी कल्पना अपने पंखों पर बैठाकर एक दूसरे लोक में उड़ा ले जाती है। वहाँ द्विवेदी जी ने जो देखा उसे बड़े स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है, "मुझे ऐसा जान पड़ा है मैं सारे जगत् के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्‌भुत कर्मलोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गांव नहीं मिला, जहाँ घंटों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर। मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्मशक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगे बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमंडल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नज़र आयीं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।"

इसी प्रकार 'ठाकुर जी की बटोर' में बैठकर द्विवेदी जी ने (एक अव्यावहारिक की तरह लोगों के रुख का ख्याल किये बिना) बड़े उत्तेजित भाव से कहा था, 'जो ठाकुर जातिविशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान् दीन और पतितों के भगवान् हैं। जाति और वर्ण से परे के भगवान् हैं, धर्म और संप्रदाय के ऊपर के भगवान हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण-चांडाल सबको पूज्य बना सकते हैं।' द्विवेदी जी की इन पंक्तियों में रवीन्द्र और गांधी की सांसें बोल रही हैं।

द्विवेदी जी के निबंधों में दो अतिवादी प्रवृत्तियों का निषेध दिखाई पड़ता है। पुरातन को एकदम बेकार समझकर नये ज़माने के जो लोग परंपराच्युत हो गये, उनसे द्विवेदी का समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि द्विवेदी जी ने परंपरा को कहीं छोड़ा नहीं, बल्कि उसे नये आलोक में देखा है। कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदी जी के कृतित्व की भित्ति ही पुरातन पर आधृत है, उस पर आधुनिक रंग चढ़ाकर उसमें नये प्राण की प्रतिष्ठा की गयी है। नये साहित्यकारों ने जहाँ से अपनी दृष्टि हटा ली है, द्विवेदी जी की दृष्टि वहीं ठहरती है। 'शवसाधना' का रहस्य उद्‌घाटित करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है, 'शव की पीठ पर मंत्र-तंत्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है, शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने अपने गंभीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, सुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य

के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी बाह्यचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का 'फल मुक्ति है।' इसी प्रकार अनेक उपेक्षित पुरानी वस्तओं को एक नयी अर्थवत्ता देकर द्विवेदी जी ने अपने निबंधों में यत्र-तत्र व्यक्त किया है। एकदम आधुनिक बन जाने की जो हवा बही, वह द्विवेदी जी को छूकर निकल गयी, इतने भारी व्यक्तित्व को अपने साथ उड़ा नही पायी। इसी प्रकार एक दूसरी अति का द्विवेदी जी ने निषेध किया और वह है पंडिताई का दंभ। अशोक के फूल की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, 'अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हंस रहा है। पुराने चित्त से इसे देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी एक बोझ है–जितनी बीमारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह इस अवस्था में उदास भी नहीं करती।' और इसीलिए साहित्य के नये मूल्य की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने कहा था कि 'चित्तगत उन्मुक्तता बड़ी चीज़ है, क्योंकि वह बड़ी संभावना से भरी है। उसका स्वागत होना चाहिए। उसका स्वस्थ विकास हुआ तो भारतीय साहित्य का अच्छा अध्ययन होगा और उसके मर्म को हम अच्छी तरह समझ सकेंगे।' इसी प्रकार 'साहित्य का प्रयोजन–लोक कल्याण' मानते हुए द्विवेदी जी ने कहा है, 'दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।'

निस्संदेह डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्तमान व्यक्ति व्यंजक निबंधकारों में श्रेष्ठतम है। अत्यंत सामान्य विषय की चर्चा द्वारा सरस शैली में बड़ी-बड़ी बातें कह जाना द्विवेदी जी की अपनी विशेषता है। 'नाखून क्यों बढ़ते है?' अपनी नादान बिटिया के इस प्रश्न के जवाब में बड़े ही रोचक ढंग से सहज भाषा में द्विवेदी जी कहेंगे, 'नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नही बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है। अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो घृणा है, जो अनायास–बिना सिखाये–आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है।' कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।' 'एक कुत्ता और एक मैना' की चर्चा द्वारा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की मनोदशा का परिचय अपने पाठकों को द्विवेदी जी बड़ी सुगमतापूर्वक दे सकते हैं। मैना-दंपत्ति के संभाषण के अटकल द्वारा उनके दाम्पत्य जीवन की झांकी प्रस्तुत कर मनुष्य पर व्यंग्य कस सकते हैं। निबंध का शीर्षक होता है, 'अशोक के फूल' और उद्देश्य होता है, इतिहास के बड़े तथ्य का उद्घाटन करना। लोग-बाग जानते हैं कि वसंत एक निश्चित समय पर आता है, मगर द्विवेदी जी कहते हैं कि वसंत आता नहीं,

ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। 'द्विवेदी जी की प्रतीति है कि वसंत भागता-भागता चलता है। देश में नहीं, काल में। किसी का वसंत पंद्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का।' इस प्रकार बड़ी सहज भाषा में महत् उद्‌भावना कर जाना निबंधकार द्विवेदी जी के लिए आसान है। इनके पत्रों के आरंभ और अंत के शब्दों को सटा देने पर एक श्रेष्ठ निबंध का रूप ले लेते हैं जैसे 'मेरी जन्मभूमि' नामक निबंध श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' के नाम लिखा गया पत्र है। ऐसे ही दो और पत्रों को मैने देखा है, एक 'नयी धारा' के संपादक रामवृक्ष बेनीपुरी के नाम और दूसरा 'हंस' के (शांति संस्कृति अंक) संपादक अमृतराय को।

द्विवेदी जी ने मौज में एक बार कहा था कि मै अपने तईं अनार्किस्ट हूँ। इसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। सचाई यह है कि द्विवेदी जी के कृतित्व और व्यक्तित्व से जिनका अच्छी तरह परिचय है वे इस बात से कतई सहमत नहीं होंगे। सामाजिक मर्यादा और वैधानिक संयम का अतिक्रम कर जाना द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं है। उनके निबंधों में उनकी प्रकृति झाँकती है, उनकी भाषा में उनका वक्ता (आरेटर) बोलता है एक विशेष प्रकार का उतार-चढ़ाव लिए हुए। विचार और अनुभूतियाँ एक में संपृक्त होकर अभिव्यक्त हुई हैं। कहीं-कहीं बीच-बीच में विनोद भी है। लेकिन व्यंग्य की मात्रा उनके निबंधों में कम है। व्यंग्य है भी तो उतना उत्तप्त और तीखा नहीं यानी जैसा कि भारतेंदु और निराला में है, कहीं-कहीं शुक्ल जी में भी। कबीर के सिलसिले में स्वयं द्विवेदी जी ने व्यंग्य की बड़ी अच्छी परिभाषा दी है। "व्यंग्य वह है जहां कहने वाला अधरोष्ठों में हंस रहा हो और सुनने वाला तिलमतिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।" और द्विवेदी जी ऐसे ही व्यंग्यकर्ता हैं, लेकिन तभी तक जब वे बातचीत की भूमि पर रहते हैं। इनके निबंधों में इस श्रेणी का व्यंग्य कहीं नहीं दिखाई पड़ता। कहीं है भी तो अत्यंत शांत। उनके निबंधों की शैली के ओज और प्रखरता पर एक विशेष प्रकार की शांति का शासन दिखाई पड़ता है अर्थात् वह शांतिपूर्ण ओज जो रवीन्द्रनाथ की कृतियों की विशेषता है। कदाचित् यह शांति उनके मानवतावाद के अधिक निकट पड़ती है, और इसीलिए उसे चाहकर भी द्विवेदी जी हटा नहीं सकते। द्विवेदी जी का स्वच्छंदतावाद निराला का स्वच्छंदतावाद नहीं, बल्कि छायावादियों (हिंदी स्वच्छंदवादियों) में पंत की प्रवृत्ति से इनका अधिक साम्य है।

द्विवेदी जी कहीं-कहीं एकाध वाक्य में ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देते हैं, जैसे "'झगरे रगरे बगरे ठगरे' मे भी कोई तुक है ! मगर सभी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है और विनोद की छटा उपस्थित करने के लिए यह कहना कि 'मुझे कचनार फूल की ललाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलों की पकौड़ियाँ भी बन सकती

हैं।' द्विवेदी जी प्राय : धीरे-से ऐसी बात कहकर अट्टहास कर उठते हैं। इसी प्रकार 'केतु दर्शन' की चर्चा से केवल दो ही वाक्य निकालकर रख दिया जाय तो आप ध्यान से देखें, वह पूरा वक्तव्य है, "डर यह है कि हस्त-नक्षत्र वाला केतु दंडकारण्य के राजा का नाश कर डालता है। मुझे आशंका हुई कि दंडकारण्य कहीं हैदराबाद की रियासत तो नहीं है।" आगे भी दो पंक्तियाँ हैं, "बुरा मैं किसी का नहीं सोचना चाहता। भगवान् करे, दंडकारण्य भूलोक में कहीं हो ही नहीं !" लेकिन दंडकारण्य भूलोक में ही है और द्विवेदी जी को आशंका है कि वह हैदराबाद की रियासत है जो पाप की नींव पर खड़ी है। एक और वाक्य देखिए, "प्रायः मोहक वस्तुओं को देखकर मनहूस लोगों की याद आ जाती है। सबको आती है क्या?" और किसी को आवे-न-आवे द्विवेदी जी को आम्रमंजरी देखकर बिच्छू की याद ज़रूर आती है। बिच्छू—जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है। इसी तरह एक बार लेखकों की समस्या के बारे में सोचते हुए जाने कैसे द्विवेदी जी को कलकत्ते के चिड़ियाघर के वनमानुष की भी याद आयी थी और उन्होंने अपनी पूर्वधारणा में किंचित् संशोधन कर लिया था और अब उनकी राय में वस्तुतः संसार के सभी वनमानुष गंभीर और तत्वदर्शी दिखाई देते हैं। द्विवेदी जी की शैली का एक रूप यह है और एक वह है जब वे संस्कृतनिष्ठ भाषा और लंबे-लंबे वाक्यों का प्रयोग बाणभट्ट की तरह या कि रवीन्द्रनाथ की तरह करने लगते हैं। बाणभट्ट के अलावे और भी बहुत से संस्कृत मनीषियों का प्रभाव द्विवेदी जी पर होगा। मगर जो सब से स्पष्ट और गहरा प्रभाव है वह रवीन्द्रनाथ का है। यह प्रभाव इतना मुखर है कि द्विवेदी जी के निबंधों को पढ़ते समय पाठक को कभी यह भ्रम भी हो सकता है कि हम कहीं रवीन्द्रनाथ को तो नहीं पढ़ रहे हैं। इसी प्रभाव के कारण द्विवेदी जी में अतिरिक्त भाव-प्रवणता और कहीं-कहीं अतिरिक्त उच्छ्वास भी दिखाई पड़ता है। यह व्यक्तिव्यंजक निबंध की विशेषता हो सकती है, मगर समीक्षा जैसे शास्त्रीय-विषय-विवेचना में यह एक प्रत्यूह का रूप ले लेता है। उदाहरण के लिए हम 'सूर साहित्य' को देखें, उसमें उच्छ्वास की मात्रा बहुत अधिक है, द्विवेदी जी की अन्य समीक्षा-कृतियों में भी एक अतिरिक्त भाव-प्रवणता दिखलाई पड़ती है। कदाचित् इसे ही लक्ष्य कर डॉ. देवराज ने कहा है कि वस्तुतः द्विवेदी जी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं।' मेरे कहने का आशय सिर्फ इतना ही है कि द्विवेदी जी की शैली में एक उच्छ्वास है, उनकी दृष्टि में एक करुणा है जो समीक्षा में बाधक सिद्ध होती है। द्विवेदी जी किसी प्रकार भरसक किसी को नाखुश करना नहीं चाहते, इसलिए शुद्ध समीक्षा में जो एक साहस और तटस्थता अपेक्षित है वह बाधित होकर दब जाती है। मेरा मतलब सिर्फ़ इतना ही है। उनका पांडित्य तो एक आच्छादक् गरिमा से युक्त है। यह भी सच है कि आचार्य शुक्ल के बाद आधुनिक साहित्य और साहित्यकारों पर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का ही सबसे अधिक प्रभाव दिखाई पड़ा। निराला जी का प्रभाव दूसरे प्रकार का था। और

अज्ञेय जी जरा बाद में आये और उनका प्रभाव जरा और बाद में एक खास सीमा-रेखा लिये हुए पड़ा।

'देवदारु' के जंगल में बैठकर द्विवेदी जी मुड़कट्टों की भीड़ देखते हैं तो उत्साहित होकर कहते हैं कि "लाख-लाख मुड़कटटों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुड़कट्टे होते हैं। आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज़ उनके पास होती ही नहीं। मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गयी तो फूल की संभावना ही कहां रही-- 'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कुतः'।" ये मुड़कट्टे यानी कटे मस्तिष्क वाले, आश्चर्य है कि कटे मस्तिष्क वाले होकर भी दूसरों का मूड़ काटने की तेज बुद्धि रखते हैं।[2] जाति-वृद्धि की चिंता शायद इनकी प्रधान चिंता होती है। और चिंतन चूंकि बेमूड़ के चलता है, इसलिए मूड़ वालों के काम नहीं आता। इन मुड़कट्टों के बारे में द्विवेदी जी के वक्तव्य का अर्थ जहाँ तक मैं समझ सका हूँ वह यही है और इतना और भी है कि मुड़कट्टों का वास केवल उन घोर देहातों में ही नहीं होता जहां 'फचफची गायत्री' का 'झमाझम' पाठ करने वाले पंडित जी रहते हैं बल्कि आज तो इनकी संख्या उन नगरों-महानगरों में अधिक बढ़ती जा रही है जहाँ सभ्यता-शराफत की डींग हांकने वाले अधिक हैं, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय हैं; चाकचिक्य में पलने वाले और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों की बहुसंख्या है, विधानसभा और लोकसभा है, न्यायालय और उच्च-न्यायालय हैं; नेता है–अभिनेता हैं; कवि और महाकवि हैं; महात्मा के चेले हैं; और वहीं मुड़कट्टों की भारी पलटन है। 'फलेन परिचीयते वृक्षः !' महात्मा के महत् जीवन-दर्शन के प्रति अनास्था की हवा उठ रही है कि उनके चेले देश की नैतिकता को 'धेले' के भाव पर उतार लाये हैं। और देश मुड़कट्टों की मार का शिकार हो गया है कि भयंकर भ्रांति है; बौद्धिक जड़ता है और रोज- रोज़ मुड़कट्टों की पलटन बढ़ती जा रही है। क्योंकि देवदारु की लकड़ी से चोट करनेवाले चरित्र उठ गये हैं या 'भूतभगावन' क्रिया से उदासीन हो गये हैं।

बेमूड़ की पलटन एक महानमुड़कट्टे को मूड़ वाला मानकर चलती है! लेकिन इन बेमूड़ वालों को कौन समझाये कि वह महामुड़कट्टा यदि मूड़ वाला होता तो तुम्हारे लिए विजातीय होना, उस पर तुम्हारी आस्था नहीं होती, उसे अपना आक़ा मानकर तुम न चलते। पीकिंगवासी इस महामुड़कट्ट की भाषा का अर्थ सबको नहीं लगता। अपनी भाषा का असली अर्थ वह खुद ही समझता है। और मुड़कट्टों की पलटन को समझ से क्या लेना-देना! द्विवेदी जी कहते हैं, "जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एक को लगे वह अनर्थ है।" पीकिंग से उठने वाली हवा अनर्थ की हवा है और यह रुग्ण और विषैली हवा यदि देवदारु उगाने वाली ज़मीन को छूने लगी हो तो उसे यही दफना देना ज़रूरी है कि

महामुड़कट्ट को यह एहसास हो जाय कि भारत की धरती पर–हिमालय की चोटियों पर देवदारु का वन है; मुड़कट्टों की पौध अबा यहाँ नहीं उग सकती।

हँसी-हँसी में बड़ी बात कहने का द्विवेदी जी को सहज अभ्यास है। जब वे कहते हैं कि 'आज देवदारु के जंगल में बैठा हूं। लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ' तो शुद्ध हँसी नहीं करते बल्कि एक बड़ा संकेत देते हैं कि मुड़कट्टों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए जंगलों और गाँवों में जाकर पेड़-पौधों की जाति पहचानना ज़रूरी है; मिट्टी का रहस्य जानना ज़रूरी है। लोकसभा से काफ़ी हाउस तक ही जिनकी सीमा है कि कवि गोष्ठियों से लेकर श्रेष्ठो-दरबारों तक में ही जिन्हें बैठने का अभ्यास है वे तो देवदारु से भी डरेंगे अर मुड़कट्टों से भी। यानी मित्र से भी और अमित्र से भी। इस प्रकार के जीव जिन्हें मित्र से भी भय हो और अमित्र से भी उनकी स्थिति सबसे बुरी होती है। कदाचित् इसीलिए वैदिक ऋषि ने कामना की थी 'अभयं मित्राद् अभयं अमित्रात्' मित्र से अभय हो और अभय बड़ी चीज़ है। बिना इसे प्राप्त किये 'मुड़कट्ट' का भगाना तो दूर देवदारु की लकड़ी भी पकड़ने की शक्ति नहीं रह जाती। और जानी हुई बात है कि जब लकड़ी पकड़ने की भी शक्ति नहीं रह जाती तो आदमी ज़मीन पकड़ लेता है। शक्ति की पूजा सनातन काल से होती आ रही है। देवदारु जैसा उन्नत होकर जो मस्ती में झूम नहीं सकेगा और जिसमें विपत्तियों के असंख्य थपेड़ों को सह सकने की शक्ति देवदारु-जैसी यदि नहीं होती तो वह 'भूत-भगावन' कला में सिद्ध नहीं हो सकता। कोरी 'फचफची गायत्री' से काम नहीं चलेगा। इससे मुड़कट्टों की भीड़ बढ़ती जायेगी।

सबका दुलरुआ बन जाना बड़ा बात नहीं है क्योंकि तब आदमी खिलौना बन जाता है। बड़ी बात है देवदारु की तरह नीचे न उतरना, हर बहतू हवा के साथ समझौता न करना। हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'देवदारु' शीर्षक निबंध की अंतिम पंक्तियाँ बड़ी अर्थपूर्ण हैं– 'देवदारु के बारंबार कंपित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगांतर की संचित अनुभूति ने ही मानो यह मस्ती प्रदान की है। ज़माना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदानों में जा बसे है और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नही छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ, तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं–मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो–'मोंते दुरैहो कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहुं ऊंट की चोरी!' हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साक्षी दुर्लभ है।'

आज एड़ी अलगाकर ऊंचे बनने की कोशिश में हम कितने हास्यास्पद बनते जा रहे हैं और नीचे रास्ते से ऊंच भूमि पाने की हमारी–महत्वाकांक्षा हमें कितनी बदरूप और

कमजोर बनाती जा रही है, यह कहने की बात नही है। कहना तो यह है क आज देश के नेता–कलाकार और पंडितों ने अपनी सही ज़मीन छोड़कर दरबारी गंध से समझौता कर लिया है, अपनी खानदानी चाल छोड़कर नीचे उतर आये हैं और नयी चाल का अभ्यास गुरू कर दिया है और कुछ धरती छोड़कर आकाश में उड़ने लगे हैं, शायद इसीलिए युग की विसंगति पर चोट करने की उनकी शक्ति शेष हो चुकी है और इतना ही नहीं इन्हें विदेशी विचार-कलम को अपना मूल उत्स मानने में गौरव-बोध होने लगा है। स्वाभाविक रूप से वाणी ऐसी निकलने लगी है जिसका अर्थ किसी को न लगे! जिसकी वाणी उसी का अर्थ! द्विवेदी कहते हैं 'पागल का लगना एक का लगना होता है–कवि का लगना सबको लगने लगता है' अर्थात् 'जिसका लगना सबको लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे और को नहीं, वह पागल है।' पागलों की संख्या आज बढ़ रही है। लेकिन जब पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी–जैसे चिंतक-लेखक हैं तो एक भरोसा है कि भारत में अभी देवदारु जीवित है, हजारों वर्ष की भारतीय परंपरा का गवाह जीवित है और 'अशोक के फूल' हैं जो संकेत देते हैं कि 'स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होती।'

संदर्भ :

1. द्विवेदी जी ने एक बार मुझसे कहा था कि नियमों का प्रतिबंध मुझे मान्य नहीं है, अपने तईं में एक अनार्किस्ट हूँ इसी प्रकार ज्येष्ठ बूढ़े का पैर छूते और दुर्गा मन्दिर के सामने माथा नबाते मैंने उन्हें देखा है।

2. मेरे गांव-जवार में मड़कट्टा को मड़कटवा कहते हैं। यानी कटे मूड़वाला और मूड़-काट लेनेवाला भूत। ऐसी एक• धारणा है। द्विवेदी जी के गाँव के निकट ही मेरा गांव है, इसलिए मुड़कटवा और मुड़कट्टा दो नहीं, एक है।

14. निबंधों में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व

त्रिलोचन पाण्डेय

'व्यक्तित्व ' शब्द का उच्चारण करते ही हमारे मानस पटल पर एक झिलमिलाते नयनोन्मीलन करने वाले किसी आकर्षक स्वरूप की धुँधली सी आकृति प्रतिबिंबित हो उठती है। यह संभवतः इस कारण हो सकता है कि कोई महापुरुष किसी महान् साधना या कृतित्व का धनी होता है और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व इसी कृतित्व का पर्याय बन जाता है। उसके कृतित्व में व्यक्तित्व समा जाता है। इसी कारण एक समान विधा की दो सर्जनात्मक कृतियों में रचनागत वैशिष्ट्य पाया जाता है। यहां पर हम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के कुछ निबन्धों को ध्यान में रखते हुए उनके व्यक्तित्व की एकाधिक झाकियाँ देख सकते हैं।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षित हो उठता था। वे अपने आचार्यत्व और वैदुष्य के लिए तो प्रख्यात थे ही, प्रकृति के प्रति उनकी अनुरक्ति भी दर्शनीय थी। अशोक, केदार और शिरीष पुष्प उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करते थे। उनके एक प्रसिद्ध निबंध संग्रह का नाम ही 'अशोक के फूल' है। वे प्रकृति को समवेत रूप से चित्रित करते करते अन्ततः उसके अंग-प्रत्यंगों की व्याख्या तक करने लगते थे जैसा कि 'वसन्त आ गया है' शीर्षक निबंध की इन पंक्तियों से ज्ञात होगा : 'जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ, उसके आस-पास कुछ थोड़े से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गए हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं।'

द्विवेदी जी मूलतः ज्योतिष के आचार्य थे। ज्योतिष का प्रमुख उद्देश्य शुभ-अशुभ, शकुन-अपशकुन और भविष्यकालिक स्थितियों में ग्रहदशाओं आदि का परिज्ञान करना होता है। इस संबंध में वे कहीं पर प्राचीन विश्वासों की तर्क सम्मत पुष्टि करते हैं, कहीं पुराण पंथियों पर हँसते हैं, कहीं सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में आचार विचारों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार के निबंधों में उनके व्यक्तित्व का वह अंश उभरता है जो निरंतर गतिशील है, जो निरंतर प्राचीन मान्यताओं को समय की शिला पर कसना चाहता है।

इसी कारण यदि वे एक स्वर से पाखंडी हस्तरेखा विशारदों को झकझोरते हैं तो दूसरे स्वर से प्राचीन रीति रिवाजों का इतिहास बतलाने लगते हैं। उनका निबंध 'नया वर्ष आ गया' इस दृष्टि से पठनीय है।

उनका इतिहास बोध बड़ा जाग्रत था। उनकी जितनी पैठ साहित्य और संस्कृति में थी, प्रायः उतनी ही जातीय इतिहास में थी। किसी तथ्य को उपस्थित करते समय वे उसका ऐतिहासिक साक्ष्य अवश्य प्रस्तुत करते थे। अशोक के फूल का इतिहास स्पष्ट करते हुए तत्संबंधी निबंध में लिखते हैं "ईसवीं सन् के आरंभ के आस पास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्‌भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गंधर्वों ने भारतीय धर्म साधना को एकदम नवीन रूप में बदल दिया था।"

द्विवेदी जी सौन्दर्य प्रेमी व्यक्ति थे। सौंदर्य के प्रति सहज आकर्षण वैसे तो मानव मात्र का गुण है, किंतु द्विवेदी जी ने उसे एक जीवन मूल्य के रूप में ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, ये पत्र पुष्पों की विकासमान प्रकृति को नारी जीवन के अलंकारों से मिलाकर देखते हुए कहते हैं– "सुंदरियों के आसिंजनकारी नूपुर वाले चरणों के मृदु आघात से वह (अशोक) फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था।" इन पंक्तियों का पदलालित्य उनके ललित व्यक्तित्व का ही परिचय कराता है।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की एक और विशेषता थी। वे किसी देश की संस्कृति को संपूर्ण मानवता की आधार शिला स्वीकार करते थे। उन्हीं के शब्दों में "संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है।" इसके विस्तृत स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है– "मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है।" इस प्रकार के विचारों से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने व्यापक धरातल पर सोचते थे और उनका व्यक्तित्व कितना विशाल था।

समाज साहित्य और संस्कृति का चिंतन करते करते जब द्विवेदी जी कभी अन्तर्मुखी हो उठते थे तो उनकी भाषा-शैली अधिक वस्तून्मुखी एवं विश्लेषण प्रधान हो जाती है। कबीर पर विचार करते हुए वे लिखते हैं "मैं ज्यों-ज्यों कबीर पंथी साहित्य का अध्ययन करता गया त्यों त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गई कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबर्दस्त साबित हुआ।"

समाज की आर्थिक विषमता पर विचार करते हुए वे कलकत्ता के चिड़ियाघर को नहीं भूलते, मानव के आदर्शों का निरूपण करते हुए वे अपनी जन्म-भूमि का भी स्मरण करते

चलते हैं। चिंतन की गंभीरता उनमें निरंतर बनी रहती है, उनके व्यक्तित्व की गरिमा वहाँ विशेष रूप से उद्भासित होती है जहाँ वे व्यष्टि की सीमाओं से परे समष्टि की बात कहते हैं। तब मानवमात्र के प्रति उनके स्वस्थ चिंतन का शिवात्मक एवं उदात्त रूप प्रकट होता है। भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करते समय इसी कारण वे मनुष्य मात्र की मंगल कामना से प्रेरित हुए हैं, उनके मतानुसार "जब हम मिलन के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारा उद्देश्य ऐसे मिलन से है, जिससे समूची मनुष्यता कल्याण की ओर अग्रसर हो सके।"

वे उपलब्धि की अपेक्षा साधना पर जोर देने वाले व्यक्ति थे और मनुष्य को ही साहित्य का एक मात्र लक्ष्य घोषित करते थे। उनका स्पष्ट दृष्टिकोण था कि साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा नहीं रुकती। अगर मनुष्य में भूख हो तो खाद्य सामग्री जुट ही जाती है। मनुष्य की समानता पर जोर देकर वे कहते थे कि उसके सुख दुख को समझना, उसे मनुष्यता के आसन पर बैठाना हमारा परम कर्तव्य है। उनके व्यक्तित्व का यह मानवीय पक्ष एकाधिक निबंधों में उजागर हुआ है।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व सांस्कृतिक आदर्शों से निर्मित होते हुए भी समकालीन जीवन-मूल्यों से अनुप्राणित था। इस कारण उनका समग्र चिंतन आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजने की दिशा में अग्रसर हुआ। उन्होंने भारत में रहने वाली दो प्रमुख जातियों हिंदू और मुसलमान को एक होकर चलने का आह्वान किया। उनके मतानुसार "भारतमाता" नाम तभी सार्थक हो सकता है जब ये दोनों जातियाँ एक होकर कार्य करें। इन्हीं जातियों के साथ वे भारतवर्ष की राष्ट्रीय कल्पना करते समय करोड़ों दलित तथा मूक जनता को भी सम्मिलित करते हैं। 'प्रायश्चित की घड़ी' में उन्होंने लिखा है "भारतवर्ष क्या? हमें इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न है, जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है।"

आचार्य जी का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ था। वे आपादमस्तक भारतीय संस्कृति में मग्न थे। इसलिए कहीं-कहीं उनके निबंधों में ऐसे विचार मिलते हैं जिनकी ओर सहसा दृष्टि नहीं जाती। इस प्रकार के निबंध एवं मान्यताएँ उनके व्यक्ति-वैशिष्ट्य की द्योतक है। उदाहरणार्थ, उनका एक निबंध है 'आपने मेरी रचना पढ़ी।' इसमें रहस्यवादी कवियों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है "बहुत परिश्रम के बाद मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंदी में वस्तुतः रहस्यवादी कवि हैं ही नहीं। यदि कोई रहस्यवादी कहा जा सकता है तो वह निश्चय ही एक श्रेणी का आलोचक है। जहाँ तक हिंदी बोलने वालों का संबंध है, रहस्यवादी साधु और फकीर तो बहुत हैं पर वे साधना की दुनियाँ के जीव हैं, साहित्य की दुनियाँ में रहस्यवादी जीव यदि कोई है तो वे निश्चय ही एक तरह के आलोचक हैं।" इसी प्रकार 'साहित्यकारों का दायित्व' शीर्षक

निबंध में उन्होंने साहित्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए अपना मंतव्य प्रकट किया है। 'साहित्य, जो मनुष्य मात्र की मंगल भावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो...मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।'

द्विवेदी जी ने अपना जीवन एक अध्यापक की हैसियत से प्रारंभ किया था और अपने जीवन के अन्त तक वे अध्यापक बने रहे। आदर्श अध्यापक वही होता है जो स्वयं जीवन का भला बुरा सभी कुछ ग्रहण करता है, किन्तु उसके बदले समाज को भला ही अर्पित करता है, द्विवेदी जी की मान्यताएँ शांति-निकेतन के पुनीत वातावरण में संपुष्ट हुईं थीं। उनका व्यक्तित्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के संपर्क में निखरा था। अतः अध्यापक की सीमायें भी वे अच्छी तरह जानते थे। इस कारण उनके निबंधों में अध्यापक जीवन संबंधी उद्‌गार भी प्रकट हुए हैं जो दूसरों को स्वानुभव जैसे प्रतीत होते हैं। आत्मस्वीकारोक्ति के ऐसे ही कुछ क्षणों में उन्होंने लिखा होगा। 'अध्यापक जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातों को पढ़ना पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं।... मैं उस विकृत मानसिक द्वन्द्व की ओर इशारा करना चाहता हूँ जिसको अध्यापक अपनी इच्छा और रुचि के विरुद्ध भी ढोता रहता है।'

आचार्य जी के निबंध चाहे मध्यकलीन धर्म साधना पर लिखे गए हों, य प्रेमचन्द की समाहार शक्ति का व्याख्यान करते हों, वे चाहे कालिदास की लालित्य योजना पर विचार करते हों, या हार जोड़ने की माया जैसे सामान्य विषयों पर कुछ कह जाते हों–सर्वत्र उनके निबंधों में एक निराली मस्ती, एक फक्कड़पन लक्षित होता है। चिन्तन और तर्जन की यह मुद्रा यह भंगिमा जो 'चले हमारे साथ' की पहचान कराती हो, मालूम नहीं उन्होंने कहाँ से अर्जित की। इसके मूल में उनके निर्गुण कवियों का अध्ययन हो सकता है, बंगाल के सन्तों भक्तों का प्रभाव हो सकता है, अथवा स्वयं उनकी अपनी जन्मभूमि का खाद-पानी हो सकता है जो हमेशा क्रांतिकारी विचारकों को जन्म देने के लिए प्रसिद्ध रहा है। कारण चाहे जो भी हो विचार और व्यक्तित्व का ऐसा सह भाव बहुत कम निबन्धकारों में देखने को मिलता है। और द्विवेदी जी के निराले व्यक्तित्व ने लालित्य की जिस शैली को साहित्य में प्रतिष्ठित कराया, वह तो अनुसंधान का एक स्वतंत्र विषय है।

15. व्यंगकार : हरिशंकर परसाई
भीष्म साहनी

सामाजिक जीवन में तरह-तरह के दौर आते रहते हैं और हर दौर का अपना साहित्य होता है जिस पर उस दौर की छाप होती है। एक ऐसा दौर भी होता है जब व्यापक स्तर पर समाज के लाखों-लाख सदस्य किसी महा ध्येय से अनुप्राणित होने लगते हैं, जब एक नई उमंग दिलों में हिलोरे लेने लगती है, तब वायु-मंडल में वह ध्येय-व्याप-सा रहा होता है और उसकी अनुगूँज हर दिल में सुनाई देती है। वे बड़ी-बड़ी कुर्बानियों के दिन होते हैं, विकट संघर्ष में भी हँस-हँसकर आत्म-बलिदान करने के दिन, कुछ कर गुजरने के दिन, जब दृष्टि-क्षेत्र के सामने जीवन के प्रसार खुलते जाते हैं और लगता है, कुछ भी असंभव नहीं। हमारे देश में आजादी के पहले का काल कुछ ऐसा ही काल था। कुरीतियाँ, भ्रष्टाचार, विसंगतियाँ उस काल में थीं, लेकिन उस ध्येय के सामने सब गौण जान पड़ता था, ध्येय सर्वोपरि था और लगता था, ध्येय की प्राप्ति पर समाज की सब विसंगतियाँ दूर हो जाएँगी। यह ऐसी ही स्थिति होती है जब युद्ध में जूझता हुआ कोई देश आत्मविश्वास ग्रहण कर ले। ऐसे काल में साहित्य को जन्म देने वाली भावना तथा दृष्टि व्यंग्यात्मक नहीं होती।

पर जब समाज में संघर्ष थम जाए, जब सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन एक जगह पर ठहर जाए, व्यवस्था अपनी जगह पर स्थिर और निश्चेष्ट हो जाए, जब समाज के कर्णधार सत्ता की बागडोर सँभालकर संतुष्ट हो जाएँ और अपनी जगह पर जमकर बैठ जाएँ, जब विकास के स्थान पर गतिरोध आने लगे और ठहरे हुए जल की सतह पर काई जमने लगे और उसमें से सड़ाँध उठने लगे और लोगों के दिलों में बलवले भरने लगें, जहाँ दृष्टि की विशालता थी, वहां तंग-नज़री आ जाए और स्वार्थ और धनलोलुपता और कुर्सी के मोह के इर्द-गिर्द सभी ध्येय लोट-लोट जाएँ, उस वक्त संवेदनशील लेखक व्यंग्य का नश्तर लेकर सामने आता है और समाज के जीवन में पाए जाने वाले नासूरों की चीर-फाड़ करने लगता है।

परसाई जी हमारे साहित्य में इसी काल में उभरे हैं। उन्होंने पहला दौर भी देखा है और उसके स्थान पर दूसरे दौर को भी जड़ जमाते देखा है। उन्होंने ध्येय पर मर-मिटने वाले दिन भी देखे हैं और मोह-भंग की यातना-भरे दिन भी देखे हैं। वे दिन भी जब देश के लाखों-लाख लोग साझे ध्येय से अनुप्राणित विदेशी शासन से जूझ रहे थे, फिर वे दिन भी जब आजादी मिलने के बाद, कलम के एक झटके से, इन लाखों-लाख लोगों को मात्र दर्शक बना दिया गया था और राष्ट्रीय जीवन के निर्माण की सभी भूमिकाओं में से अलग कर दिया गया था। प्रशासन और संचालन की बागडोर सरकार के हाथ में आ गयी थी, वही योजनाएँ बनाती थी, वही उनकी क्रियान्विती को भी सँभाले हुए थी । अफ़सरशाही फिर नमूदार हो गई थी, जनसाधारण को मक्खन में से निकाले गए बाल की तरह, राष्ट्रीय जीवन में से अलग कर दिया गया था। उसके लिए धीरे-धीरे, राष्ट्र-निर्माण दूर-पार की चीज़ बन गया। वह पहले हैरान हुआ, फिर उदासीन और उसके बाद उसके सभी मोह भंग होने लगे। इतना ही नहीं, राजनीतिक जीवन में से धीरे-धीरे सभी निःस्वार्थ सेवी, जैसे बुहारकर बाहर निकाल दिए जाने लगे और उनकी जगह पर तिकड़मी, स्वार्थी, चालाक सियासतदानों ने अड्डा जमा लिया। तब राष्ट्र निर्माण के स्थान पर लायसेंसों, कोटों, बड़े-बड़े ठेकों की चर्चा होने लगी और स्वयं सियासतदान उनके लिए हाथ फैलाने लगे। पाखंड का नंगा नाच चारों ओर दिखाई पड़ने लगा। काला बाज़ार गर्म हुआ, भ्रष्टाचार फैला और गरीबों की बस्तियों में से खद्दरधारी मंत्रियों की विलायती मोटरें फर्राटे से भागने लगीं।

यह मोह भंग का काल था जब कथनी और करनी के बीच का अंतर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतीत के सपने वर्तमान के यथार्थ पर चूर-चूर होने लगे थे। सियासतदानों और सत्ताधारियों की बातों पर से विश्वास उठने-लगा था।

इस तरह के माहौल में कौन-सा परसाई चुप रहेगा? व्यंग्य सीधा पाखंड पर प्रहार करता है। व्यंग्य का मूल विषय ही पाखंड होता है। ऐसे समय में जब सामान्य लेखक किसी हद तक अपने भावनालोक में बसता है, वहाँ व्यंग्य-लेखक सीधा समाज के अखाड़े में उतर आता है। उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि वह निबंध लिख रहा है या कहानी या डायरी, उसे केवल इस बात की परवाह रहती है कि उसकी रचना वार करती है या नहीं और उसका वार निशाने पर बैठता है या नहीं। सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ और अंतर्विरोध उसकी कलम के विषय बनते हैं। व्यंग्यकार सुखद भावनाओं के धुंधलके में नहीं बसता, वह यथार्थ के कठोर धरातल पर खड़ा रहता है। पाखंड दोमुँहापन, भ्रष्टाचार का भंडाभोड़ करता है। कुछ व्यंग्यकार मात्र मनुष्य स्वभाव की सनकों, अटपटे व्यवहार और रहन-सहन के तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते हैं, पर ऐसे व्यंग्य सतही से बने रहते हैं,

जबकि परसाई जी के व्यंग्य समाज के मर्म को छूते हैं, सामाजिक जीवन की मूल विसंगतियों को सामने लाते हैं।

परसाई जी के एक निबंध में भगवत् भजन करने वाला एक वैष्णव, सेठिया बन जाता है। पहले पैसा सूद पर कर्ज़ देता है, फिर ढेरों पैसे जमा कर लेने पर होटल चलाता है, होटल में पहले सभी निवासियों को वैष्णव भोजन मिलता है, फिर धीरे-धीरे वहाँ माँस, मछली पकने लगती है, फिर शराब आती है, कैबरे होने लगता है और फिर 'गर्म माल' भी मिलने लगता है। हर कदम पर वैष्णव अपने इष्टदेव से पूछने जाता है कि अब क्या करूँ और हर बार ही उसकी अंतरात्मा प्रस्तावित सुझाव को शास्त्रसम्मत बताती है और इस तरह वह माँग आती है तो वैष्णव की शुद्ध आंतरिक आवाज़ यह कहकर उसे संतुष्ट कर देती है– 'मूर्ख, यह तो प्रकृति और पुरुष का संयोग है इसमें पाप क्या और पुण्य क्या।' इस तरह वह धर्म को धंधे के साथ् सफलतापूर्वक जोड़ देता है।

एक अन्य निबंध में बुद्धिजीवियों की एक सभा देश की दुर्दशा पर विचार करती है। संयोजकों का विचार है कि देश की जितनी अधिक दुर्दशा होगी, उतनी ही बढ़िया मंच पर से तकरीरें झाड़ी जा सकेंगी। जलसा बड़ा सफल रहता है, संयोजक संतुष्ट हैं, सचमुच बहुत बढ़िया भाषण दिए गए।

एक अन्य निबंध में एक चोर बाजारिया पकड़ा लिया जता है। फैसला होता है कि दूसरे दिन प्रातः उसे एक खंभे पर से लटकाकर फाँसी दे दी जायेगी, पर दूसरे दिन जब फाँसी का वक्त आता है तो खंभा ही गायब है, पता चलता है कि रातों-रात खंभा चोर बाज़ार में पहुँच गया है।

कहीं घटना द्वारा तो कहीं अपने अनूठे तर्ज-ए-बयान से सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ उखाड़ दी जाती हैं। एक निबंध इस तरह शुरू होता है–

"हे सखि, नल के मैले पानी में केंचुए और मेंढक आने लगे। लगता है सुहावनी, मन भावनी वर्षा ऋतु आ गयी।"

एक और निबंध में एक आदमी इस बात पर लज्जित है कि वह थोड़ा मुटिया गया है और उसकी शेरवानी उसे तंग पड़ने लगी है। सभी से माफी माँगता फिरता है।

"मेरे देशवासियों, मुझ बेशर्म को माफ करना। भारत माता, क्षमा करना। तेरा यह कपूत मोटा हो गया। मैं तीसरी पंचवर्षीय योजना का एक झूठा ऑकड़ा हूँ, जो तुम्हें धोखा दे रहा हूँ। मंत्री महोदय, माफ करना, तुम्हारी खाद्य व्यवस्था के बावजूद मैं मोटा हो गया। वर्तमान और भूतपूर्व अर्थ-मंत्रियों, तुम्हें मुँह दिखाने के काबिल नही रहा। मैं पिछले पंद्रह वर्षों की उलझी अर्थनीति और खाद्य नीति के प्रति अपराधी हूँ।"

यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरकर ही व्यंग्य प्रभावशाली बनता है और परसाई जी के निबंधों-कहानियों में वही खरापन झलकता है।

मोह-भंग की एक स्थिति वह होती है, जब टूटती सामाजिक मर्यादाओं के साथ व्यंग्यकार का विश्वास मनुष्य मात्र पर से ही टूटने लगता है, ज़िंदगी बेमानी नज़र आने लगती है, पर जहाँ टूटती मर्यादाओं को देखने वाला व्यंग्यकार उनके पीछे काम करने वाली कारक-शक्तियों के प्रति सचेत हो और वांछित विकल्प को भी जानता-समझता हो कि समाज को किस ओर जाना चाहिए। वहां उसके व्यंग्य में कटुता नहीं बल्कि मानवीय सद्भावना अधिक देखने को मिलती है, बल्कि मानवीय सद्भावनाओं से ही उसे अपनी व्यंग्य-रचनाओं के लिए प्रेरणा मिलती है। परसाई जी की रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हमारा देश ही गिरा हुआ देश है, हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही गिरा हुआ है, इसका उद्धार हो ही नही सकता, या कि सभी सियासतदान स्वार्थी और भ्रष्ट हैं, किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परसाई जी के व्यंग्य की श्रेष्ठता इसी बात में है कि जीवन पर उनका विश्वास अडिग और गहरा है। सामान्य जन की क्षमताओं, उनकी ईमानदारी और मानवीय मूल्यों पर उनका विश्वास उनकी चेतना में समाया हुआ है। पाखंड पर वही आदमी चोट कर सकता है जिसे पाखंड परेशान करता हो। कहीं पर भी उनकी रचनाओं में ऐसी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती कि ऐसा तो चलता ही रहता है, आगे भी चलता रहेगा। जीवन में गहरी आस्था रखने वाले लोग ही सार्थक व्यंग्य लिख सकते हैं, नही तो उनके व्यंग्य में कटुता आ जाती, उच्छृंखलता और सस्तापन आ जाता।

परसाई जी के व्यंग्य विनोदपूर्ण हैं, वह भी इसलिए कि जिन विसंगतियों पर वह चोट करते हैं, उन्हें वह असाध्य नहीं मानते। स्वार्थी, भ्रष्ट लोगों की भौंडी हरकतों पर, लगता है, वह हँस रहे हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि इन लोगों की भूमिका समाज में स्थायी नही है, ये उत्तरोत्तर असंगत होते जा रहे हैं, ये मानवीय मूल्यों की ज़मीन पर से उखड़े हुए लोग हैं, जिन्हें समाज की स्वस्थ मान्यताएँ स्वीकार नहीं करेंगी। इसी कारण उनकी रचनाओं पर एक प्रकार की लौ-सी छिटकी रहती है और एक तरह की सादगी और खरापन भी। इसी कारण कहीं-कहीं पर हम द्रवित भी हो उठते हैं, उन लोगों की स्थिति को देखते हुए जो सत्ताधारियों और अवसरवादियों के पाखंड का शिकार बनते हैं, जिन विडंबनाओं पर परसाई जी चोट करते हैं, उन्हें उनका मस्तिष्क जितने पैने ढंग से देखता-परखता है, उतनी ही गहराई से उनका दिल भी उन्हें महसूस करता है। उनकी हँसी क्रुद्ध हँसी नहीं है, उसकी तह में करुणा की अंतर्धारा बहती रहती है।

कहने को तो परसाई जी की रचनाओं को हम व्यंग्यात्मक निबंधों का नाम देते हैं, लेकिन वास्तव में वे कहानी के घेरे में भी आसानी से आ जाती है, उनकी अनेक रचनाओं का गठन कहानी जैसा ही है और उन्हें पढ़ते समय कहानी का ही रस भी हमें मिलता है।

सामान्यतः यथार्थ की ज़मीन पर चलते हुए, परसाई जी सहसा एक उड़ान-सी भर जाते हैं, कल्पना की खूबसूरत उड़ान जो एक ओर उनके व्यंग्य को पैना और महत्वपूर्ण बना देती है, दूसरी ओर उनकी रचना को अधिक कलात्मक बना देती है। एक रचना में किसी वयोवृद्ध क्लर्क की मौत हो जाती है, लेकिन पता चलता है कि उसकी आत्मा न तो स्वर्ग में पहुँची है, न नरक में, आखिर गई तो कहाँ गयी? पता चलता है कि वह क्लर्क के दफ्तर में उसके प्रोविडेंट फंड वाली फाइल में अटकी रह गयी है। इस तरह, मूलतः तर्क के क्षेत्र में विचरते हुए भी, परसाई जी के व्यंग्य को भावना और कल्पना दोनों ही अपनी-अपनी तरह से सींचते रहते हैं। क्लर्क की आत्मा का फाइल में अटके रह जाना जहाँ व्यंग्यपूर्ण है, वह गहरे में दिल को छूता भी है, क्लर्क की बेबसी की ओर बड़ा हृदय-विदारक संकेत भी करता है।

एक जगह पर परसाईजी ने लिखा है : 'दर्शन को चिंतन से जोड़ना जरूरी होता है। अनुभव बेकार होता है यदि उसका अर्थ न खोजा जाए, उसका विश्लेषण न किया जाए, और तार्किक निष्कर्ष न निकाला जाय। इसके बिना अनुभव केवल घटना बनकर रह जाता है वह रचनात्मक चेतना का अंग नहीं बन पाता।'

बेशक व्यंग्य-लेखक का ध्यान समाज के नकारात्मक पक्ष की ओर ज्यादा रहता है, भौंडे, पाखंडी, उचक्के, स्वार्थी लोगों पर व्यंग्यकार की नज़र ज्यादा रहती है। संघर्षरत लोगों का सकारात्मक जीवन उनकी रचनाओं का विषय नहीं बनता, लेकिन जीवन का सकारात्मक पक्ष जिसके बल पर देश आगे बढ़ते हैं और राष्ट्रीय जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन में सार्थकता आती है, इस नकारात्मक पक्ष से अलग भी नहीं होता। वास्तव में उस सकारात्मक पक्ष के बोध से ही परसाई जी के व्यंग्य तीखे बन पाते हैं और उनमें सार्थकता आती है, उसी की प्रेरणा से वह समाज के रुग्ण और जीर्ण तत्वों का सफलता से भंडाफोड़ करते हैं।

फिलस्तीन की एक कवयित्री को इसराइली अधिकारियों ने जेल में बंद करते समय कहा कि उस कवयित्री की एक-एक कविता एक फौजी ब्रिगेड के बराबर वार करती है। आज के हमारे विसंगतियों-भरे जीवन में परसाई जी की लेखनी भी पाखंड, अन्याय, अमानुषिकता पर वैसे ही सशक्त और पैने वार कर रही है। अपने देशवासियों को सामाजिक जीवन की विसंगतियों और अंतर्विरोधों के प्रति सचेत करना बड़े महत्व का काम है और इसे परसाई जी बड़ी खूबी से निभा रहे हैं। उनका व्यंग्य मनोविनोद का तथा पाठक को सचेत करने का ही अस्त्र नहीं, समाज की सही तस्वीर पेश करने वाला, संघर्ष की प्रेरणा देने वाला शक्तिशाली अस्त्र भी है।

16. गद्यकार महादेवी

गंगाप्रसाद पांडेय

अब तक महादेवी ने अपनी करुण कोमल कविता से ही साहित्य में प्रवेश किया था। 'अतीत के चल-चित्र' उनकी प्रथम गद्य-पुस्तक है। रचना चाहे गद्य की हो, चाहे पद्य की, उसमें साहित्यकार के व्यक्तित्व का भाव अवश्य रहता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवों, विचारों तथा मनोभावों की छाप उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार वस्तु की स्थिति के साथ उसकी छाया। यह छाया कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होती है, किन्तु उसका अस्तित्व अमिट रहता है।

हिंदी-काव्य में महादेवी ने करुणा का जो श्रृंगार किया है, वह किसी दूसरे कवि से नहीं बन पड़ा। इसका यह मतलब नहीं कि करुणा अन्य कवियों में नहीं है, किन्तु वह उतनी मधुर तथा सुन्दर एवं आलोकमयी नहीं हो पायी, जितनी महादेवी के काव्य में। महादेवी के काव्य में करुणा करुण न होकर सरस सजल हो गयी है; क्योंकि बहिर्जगत में उन्होंने उसके व्यापक अस्तित्व की एक ऐसी आभा दिखा दी है, जो भावों तथा अभावों दोनों को अपनी समान सहानुभूति से सहज ही में बाँध देती है। यही उनके कवि की विशेषता है। अतीत के चलचित्र में भी हम इसी भाव-धारा का अविरल प्रवाह पाते हैं। स्वाभाविक भी यही है। कविता और कहानी, दोनों मानवता के प्रांरभिक साथी हैं, अंतर इतना है कि शिशु रूप से मनुष्य बिना किसी सार्थकता का ध्यान रखे हुए अपनी माँ से बोल उठता है - 'माँ कह एक कहानी'! किन्तु जीवन के संघर्ष में पड़कर वह जीवन की वास्तविकता का बोध कराने वाली कहानी से ही तुष्ट होता है। कवि और कहानीकार एक ही लोक के निवासी हैं; दोनों की क्रीड़ा-भूमि है, मानव जीवन। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो कहानीकार उसका निरीक्षक। कहानीकार जिसका निर्माण करता है, कवि उसका उपयोग करता है। दोनों का उद्देश्य एक है - जीवन की मार्मिकता का संवेदनात्मक उद्घाटन। जिस प्रकार गीति कविता एक ही मानव की तन्मयता में सजीव हो उठती है, उसी प्रकार एक छोटी कहानी एक ही भावना के उन्मेष-क्षणों में अपना जीवन पा सकती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि और कहानीकार के सम्मिलन से जो साहित्य-सृष्टि होगी, वह मानव मात्र के लिए कल्याणकारी होगी। 'अतीत के चलचित्र' हिंदी साहित्य के लिए ऐसा

ही सुफल है। इसमें महादेवी जी की कुछ संस्मरणात्मक कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों के विषय में लेखिका का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है :

"समय-समय पर जिन व्यक्तियों के सम्पर्क ने मेरे चिन्तन को दिशा और समवेदन को गति दी है, उनके संस्मरणों का श्रेय जिसे मिलना चाहिए, उसके संबंध में कुछ विशेष नहीं बता सकती। कहानी एक युग पुरानी और करुणा से भीगी भी है। मेरे एक परिचित परिवार में, गृहस्वामिनी ने अपने एक वृद्ध सेवक को किसी तुच्छ-से अपराध पर निर्वासन का दण्ड दे डाला और फिर उनका अहंकार, उस अकारण दण्ड के लिए असंख्य बार माँगी गयी क्षमा का दान भी न दे सका। ऐसी स्थिति में वह दरिद्र, पर स्नेह में समृद्ध बूढ़ा कभी गेंदे के मुरझाये हुए फूल, कभी हथेली की गर्मी से पसीजे हुए चार बताशे और कभी मिट्टी का एक रंग-हीन खिलौना लिये अपने नन्हें प्रभुओं की प्रतीक्षा में पुल पर बैठ रहता था। नये नौकर के साथ घूमने जाते हुए बालकों को जब वह अपने तुच्छ उपहार देकर लौटता, तब उसकी आँखें गीली हो जाती थीं। सन् '30 में उस मृत्यु को देखकर मुझे अपना बचपन और उसे अपनी ममता से घेरे हुए रामा इस तरह स्मरण आये कि अतीत की अधूरी कथा लिखने के लिए मन आकुल हो उठा।"

बस इसी करुण घटना से इन कहानियों के जन्म को प्रेरणा मिली है। इस करुणा का महत्व सभी के लिए शायद अधिक बोधगम्य है, क्योंकि जब महादेवी का कवि गा उठता है कि :

"सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात,"

तब वह अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता हुआ अपने प्रतिपाद्य को ढूँढ़ निकालता है, जिसका हमारे जीवन से उतना संबंध नहीं है, जितना उनके कहानीकार के अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों तथा रागों में पैठते हुए कुछ ढूँढ़ निकालने के वर्णन से। कवि तो भावना तथा कल्पना की भूमि से जीवन को देखता है और कहानीकार जीवन से भावना और कल्पना के लोक में पहुँचता है। इसलिए कहा जाता है कि काव्य का सत्य प्रत्यक्ष सत्य की ही कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि उसमें वह सत्य भी निहित रहता है, जो संभवतः सत्य कहा जा सकता है। सत्य और सौंदर्य तो काव्य के आवश्यक उपादान हैं, किंतु उसके शिवत्व पर मतभेद है।

कहानी बिना यथार्थ की अनुरूपता प्राप्त किये संभवतः अपना विकास ही नहीं कर सकती और अपनी इस वास्तविकता के लिए वह जनसाधारण की भी पहुँच की वस्तु मानी जाती है। किसी भी साहित्य की सच्चाई और उसके व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उसका जीवन है। संस्मरणों में वह अपने-आप आ जाता है। अस्तु, अतीत के चलचित्र में हम महादेवी की

कला की कमनीयता के साथ उनके जीवन की पवित्रता का भी सहज ही में बोध प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ऐसी कला के भीतर कलाकार के आत्म-रूप की चेतना ही कला का स्वरूप निश्चित करती है।

कहानियों में यथार्थ की अनुरूपता आवश्यक है, किंतु यह भी जान लेना चाहिए कि जनसाधारण और साहित्यकार का यथार्थ एक नहीं होता, क्योंकि साहित्य-सृजन मनुष्य की सत् प्रवृत्तियों की प्रेरणा मात्र है। अतः यदि कला मनुष्य के अंतःकरण का सच्चा प्रतिबिम्ब है, तो अवश्य ही वह सत् की ओर प्रवृत्त होगी। सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का माना गया है। एक जिज्ञासा का, दूसरा प्रयोजन का और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का लगाव दर्शन से, प्रयोजन का विज्ञान से तथा आनन्द का संबंध केवल साहित्य से है। सत्य जहाँ आनन्द का उद्रेक करता है, वहीं वह साहित्य की संज्ञा पा जाता है। कलाकार का यथार्थ भी इसी सत्य का समर्थक होता है।

महादेवी के संस्मरणों की यथार्थता को यदि स्वाभाविक कहा जाए तो अधिक अच्छा हो, क्यों उनके यथार्थ पर आदर्श उसी प्रकार स्थापित है जिस प्रकार पृथ्वी पर आकाश। कहानियों की यह करुणा एवं मनुष्यता की यह ममता, शरद बाबू ने प्रथम बार भारतीय साहित्य में सुलभ की थी। महादेवी ने अपनी समवेदना शक्ति से उसे एक नवीन गति दी है। इन सभी कहानियों में करुणा का एक अबाध स्रोत है, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति हार्दिक समवेदना है, मनुष्यत्व को जगा देने की कामना है और है, विश्व-कल्याण की एक भावना। जगह-जगह उनका कवि अपनी समवेदना की सीमा पर खड़ा होकर जैसे गाने लगता है :

मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण-कण बस जाती,
भरती है संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में!

उनके सभी संस्मरण एक निश्चित उद्देश्य एवं लक्ष्य को लेकर लिखे गये हैं, किंतु उनमें उपदेश की शुष्कता का आभास नहीं मिलता, वरन् उनके निर्णय को पाठक सहज ही में इस प्रकार ग्रहण कर लेता है, जैसे माँ के वचनों को एक शिशु। महादेवी की सभी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा जीवन के यथार्थ को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती है। उनमें कल्पना की मात्रा कम तथा अनुभूतियों का आधिक्य है और समाज की स्वार्थपरता पर एक आकुल आक्रोश भी है। 'सबिया' के प्रसंग को लेकर महादेवी का यह कथन उद्धरणीय है :

'पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिए स्त्री को बड़े से बड़ा दुख दे डालता है और ऐसी निश्चिंतता से, मानों वह उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ का तहाँ पटक कर भाग खड़े होने की होती है।'

यह आक्रोश केवल नारी का पक्ष लेकर ही नहीं चलता, वरन् लेखिका ने अपनी निष्पक्षता के दृढ़ आधार पर नारियों के प्रति भी अपनी उदासीनता प्रसंग के अनुसार प्रकट की है। देहाती ननदों की निर्दयता का यह कितना मार्मिक दिग्दर्शन है - 'सब से कठिन दिन तब आते, जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे।'

इस प्रकार समय और परिस्थिति के अनुकूल उनके सभी पात्र अपनी सारी सजीवता के साथ जीवन-यात्रा के पथ पर चलते दिखाई पड़ते हैं। महादेवी अपने उद्देश्य विषय की प्रेरणा से प्रभावित होकर उनके मार्ग में कोई कृत्रिम बाधा नहीं उपस्थित करतीं। उनके पास किसी सिद्धांत का नहीं, वरन् मनुष्यता का मापदण्ड है। कहानी की यही स्वाभाविकता जहाँ एक ओर उसकी सीमा बाँध देती है, वहाँ दूसरी ओर उसे साधारण जीवन के समीप भी रख देती है। कहानियों में कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के समीप पड़ती है। सारांश यह कि कविता की भाँति कहानियों से हमें केवल काल्पनिक तथा बौद्धिक वृत्तियों की तृप्ति नहीं मिलती, अपितु उससे हम जीवन की पहेलियों का भी समाधान पाते हैं। कविता पढ़ कर हम सोचते हैं कि ऐसा हो सकता है और कहानियों में हम वह पाते हैं, जो होता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि महादेवी की कहानियों का एक छोर कविता है तो दूसरा छोर जीवन और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी द्विमुखी साधना से वास्तविक जीवन के निम्न तथा उपेक्षित व्यक्तियों को लेकर उन्होंने जीवन का समय-सापेक्ष चतुर्दिक चित्र न लेकर भी केवल एक भावना से जीवन की घनीभूत मार्मिक वेदना को जिस प्रकार स्पर्श किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

संभवतः साहित्य, मन और स्वभाव की उपज है। इसलिए जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है, उसका प्रभाव उसके साहित्य पर भी पड़ता है। साहित्यकार के जीवन को जानने के लिए उसका साहित्य काफी होता है, विशेषकर संस्मरणों में तो वह और स्पष्ट रहता है। एक शिशु की सहज स्पर्धा के साथ अपने शिशु रूप का कितना स्पष्ट चित्रण लेखिका ने उपस्थित किया है - 'इतना कष्ट सह कर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे

साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था।'

मैं तो कहूँगा कि जीवन की किसी भी जटिल परिस्थिति में इन पंक्तियों का आज भी वे समर्थन करेंगी, 'मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नहीं जानती।' महादेवी के आत्मविश्वास की साधना ने ही आज के प्रगतिपंथियों की अनेक कटु आलोचनाएँ सुन कर भी उन्हें अपनी स्थिति में अटल रखा, अन्यथा इस तूफानी युग में कौन नहीं आत्म-विस्तृत हो गया? अपने पात्रों के रेखा-चित्र में तो वे इतनी चित्रोपमता ला देती है कि पात्र हमारे सामने प्रत्यक्ष सा खड़ा हो जाता है :

'रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अंतिम भूल जैसी मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथने मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से होंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति।' – यह है रामा का चित्र स्पष्ट और बोधगम्य।

एक पहाड़ी युवती का भी चित्र देखिए :

'धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने कच्चे सेब को आग की आँच पर पका लिया हो। सूखी-सूखी पलकों में तरल-तरल आँखें ऐसी लगती हैं, मानो नीचे आँसुओं के अथाह जल में तैर रही हो और ऊपर हँसी की धूप से सूख गयी हों। शीत सहते-सहते होठ पर फैली नीलिमा, सम दाँतों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात-दिन कठिन पत्थरों पर दौड़ते-दौड़ते पैरों में और घास काटते-काटते तथा लकड़ी तोड़ते-तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गयी है, उसे मिट्टी और गोबर की आदत कुछ कोमल कर देती है।'

बीच-बीच में विनोदमय व्यंग्यों की मार्मिकता और ध्वन्यात्मकता तो सीधे ह्रदय पर पहुँचती है :

'मनु महाराज जो कह गये हैं, उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भीपाक में विहार करने की इच्छा न हो, तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा हदृय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है। और उसके उद्धार के लिए निरन्तर कटिबद्ध परोपकारियों की, इस पुण्य भूमि में और विशेषकर इस जागृत युग में, कमी नहीं हो सकती। फिर इतने विलाप-कुलाप की क्या आवश्यकता।

एक बार अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिंदू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब .....।'

व्यक्ति, समाज तथा संसार की इतनी मीठी तथा मर्मस्पर्शी चुटकियाँ ली गई हैं कि एक बार पाठक का मन भी लेखक के साथ ही उन बातों पर तिलमिला उठता है। इन उपर्युक्त विश्लेषणों और उद्धरणों के आधार पर यह कहा जाता है कि महादेवी के संस्मरणों में जीवन का सत्य मनोवैज्ञानिक रहस्य, संघर्ष की समस्या तथा व्यापक जीवन की पूर्णता का संकेत बड़ी सरलता से उपलब्ध होता है, जो एक साहित्य-कृति की सार्थकता है।

आइए, हम सब भी अंधे-कुरूप अलोपी के प्रति महादेवी की मातृ-ममता के साथ अपनी ममता की अंजलि देकर विश्व के प्रति स्नेह-तरल हो लें :

"आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति मे पुंजीभूत होने लगती है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काँच की गोलियों जैसी निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की रेखा का आभास मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ, नियति के व्यंग्य जीवन और संसार के छल से मृत्यु पाने वाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा।"

महादेवी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चुनाव प्रायः जीवन की अव्यवस्थित कुरूपता से ही किया है। मेहतरानी 'सबिया', मल्लाह का मलिन बालक घीसा', तरकारी बेचनेवाला 'अलोपी', गाँव का कुम्हार 'बदलू' आदि ही तो उनके कथानायक हैं। पात्रों का श्रृंगार और शारीरिक विन्यास भी उसी श्रेणी का है – "एक दिन मास भर के शिशु नामधारी मांसपिंड को चीकट से कपड़े में लपेटे और अपनी नग्नता को मलिनता से ढाँकने वाली पांच वर्ष की बचिया को ऊँगली का सहारा दिये सबिया मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसका मुख चिकनी, काली मिट्टी से गढ़ा जान पड़ता था। पैर में मोटे-मोटे चमकहीन गिलट के कड़े उसे कैदी की स्थिति में डाल देते थे। कुछ कम चौड़े ललाट पर जुड़ी भौंहों के ऊपर लगी पीली काँच की टिकुली में जो श्रृंगार था, वह भटकटैय्या के फूल से घूरे के श्रृंगार का स्मरण दिलाता था।" बस, सभी पात्र सर्वथा इसी तरह से दीन-हीन हैं, किंतु महादेवी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौंदर्य उनके जीवन में देखा है, वह उन्हीं की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने लिखा भी है : 'वास्तव में जीवन सौंदर्य की आत्मा है, पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं।" महादेवी ने सौंदर्य की स्थिति संपूर्ण जीवन में मानी, तभी तो उन्होंने पात्रों की बाह्य कुरूपता के आवरण को हटा कर उनके जीवन में अंतर्हित उस सौंदर्य को खोज निकाला है, जिसके फलस्वरूप वे पाठकों की समवेदना के

द्वार से बराबर उनके हृदयों में झाँकते रहते हैं। उनकी कुरूपता उदासी की नहीं, वरन करुणा की अधिकारिणी बन जाती है। कलाकार की सृष्टि का यही आकर्षण है।

पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, शोषितों के प्रति सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सुझाव के साथ क्षमा आदि के अनुपम सम्मिश्रण से जिस साहित्य-सरिता का उद्‌गम होगा, वह युग-युग तक अपनी शीतलता से जीवन से थके-संतप्त हृदयों का सिंचन करती रहेगी, यह तो सभी मानेंगे।

इस पुस्तक में कवि, गद्यकार तथ आत्मकथाकार का संस्मरणात्मक समन्वय बड़े ही साधनात्मक ढंग से किया गया है। मानव-जीवन वास्तव में भावना, अनुभूति और संवेदना से सुगठित होकर ही अपना विकास पाता है। 'अतीत के चलचित्र' में जीवन की इसी दिशा का सफल संकेत है। संस्मरणों में अनुभव समय की विस्मृत व्यथा से सिक्त होकर सामने आते हैं, संभवतः इसलिए वे अधिक कोमल, मधुर तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। लेखक का अपनापन इनका प्राण-स्पन्दन होता है। जिसका अविच्छिन्न क्रम महादेवी की रचना में स्वाभाविक रूप से सन्निहित है। यही कारण इन संस्मरणों को पढ़ते समय किसी स्थल पर लेखिका की वर्णन-प्रणाली में बनावटीपन का आभास नहीं मिलता। स्थितियों के विरोधाभास की उपस्थिति से महादेवी सहज ही मनोभावों तथा घटनाओं का ऐसा चित्र उपस्थित कर देती हैं कि वह सब की ममता का अधिकारी बन जाता है। घटनाओं का इतना तथ्यपूर्ण वर्णन बोध की सीमा में शीघ्र ही प्रवेश पा लेता है और लेखक के उद्देश्य की संभावना का आरोह सामने उपस्थित हो जाता है। शैली का यह अपूर्व कौशल है। महादेवी की साधना और उनके संयम ने उनके गद्य की शैली को इस सुचारुता से संचालित किया है कि उनका निजी सामाजिक विद्रोह कहीं उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका। यह तटस्थता ऐसे संस्मरणों की जान है। करुणा, विनोद और व्यंग्य की यह त्रिवेणी मानवता के संतापों को शमन करने का साधनापूत प्रयास है। करुणा की इस कलित रागिनी में महादेवी के अनुभवों के वे स्वर, जिनमें उनका जीवन कभी विकल हुआ, स्वयं भास्वर हो उठे हैं। वस्तु, उनकी सारी करुणा, सारा विद्रोह और सारी विचार-धारा का रहस्य पाठकों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी चित्र उनकी मार्मिक भावभूमि का सुंदर परिचय देने में सर्वथा समर्थ है।

'श्रृंखला की कड़ियाँ' महादेवी की दूसरी गद्य-पुस्तक है। पुस्तक के विषय की प्राण-प्रतिष्ठा उसके समर्पण के शब्दों में जैसे साकार हो उठी हो – "जन्म से अभिशप्त, जीवन से सन्तप्त किंतु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को।" 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में नारी-जीवन के उन अभिशापों का उद्‌घाटन किया गया है, जिन्होंने नारी-जाति को युगों से मानवता का कलंक बना रखा है। साथ ही उसकी मुक्ति के साधनों का भी सुझाव दिया गया है। भारतीय नारी की जटिल एवं विषम परिस्थितियों को महादेवी ने एक

विचारक की भांति अनेक दृष्टिकोणों से देखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं साधरण विद्रोह, परंतु संतुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।' नारी-जाति के सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन की विवेचना महादेवी ने बड़ी ही कुशलता के साथ की है। अन्याय के प्रति असहिष्णु होने के नाते कभी-कभी उनके नारी विषयक मनोभाव उग्रता की सीमा को स्पर्श करते हुए भी प्रतीत होते हैं, किंतु उनका स्वभाव सर्वथा समाज की कुरूपताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा का है। अपने व्यंग्य की मर्मान्तक झड़ियों से ही वे सामाजिक व्यवस्था के सर्जन बीजों का वपन बड़ी साधना से कर जाती हैं। नारी-जाति की संस्कार-जड़ता, उसकी आर्थिक हीनता तथा उसके प्रति पुरुष की एकान्त स्वार्थपरता का इतना सजीव स्वरूप उन्होंने सामने रखा है कि उससे बड़े-बड़े पुरुष-पुंगवों को भी लज्जा से अपना सिर झुका देना पड़ता है। मानव जीवन की पूर्णता स्त्री-पुरुष संबंध की सापेक्षता पर कितनी आश्रित है, इस बात का पता हममें 'श्रृंखला की कड़ियाँ' से चलता है।

विचारात्मक निबंधों की इस शैली में केवल निष्प्राण शब्दों की भरमार ही नहीं, वरन जीवन की अनुभूतियों की सचाई और साख है। युग-चेतना की माँग के रूप में महादेवी जी ने इस विषय को नहीं अपनाया, यह तो उनके जीवन के विकास-पथ की प्रतिष्ठा है। कहीं-कहीं नारी जाति की कमजोरियों की ओर से महादेवी जी ने आँख भी छिपाई है, किंतु इसमें पक्षपात का आग्रह नहीं, नारी की वेदना की अनुभूति-तीव्रता है; क्योकि मनुष्य-जाति की मानसिक उच्चता, महत्ता तथा अन्य सद्गुणों पर जब विचार किया जाता है, तब पुरुषों से स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा उतरता है। साधारंण जीवन में पुरुष व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से परिचालित होता है, किंतु नारी स्वभाव से ही कोमल और परोपकार प्रिय होती है। किसी देश की संस्कृति के निर्माण और विकास में नारी प्रकृति की परिपूर्ति है और नर उसका विधायक। जीवाणु के दो भेद होते हैं। – पहला अनुलोम परिणामी और दूसरा प्रतिलोम परिणामी। एक निर्माण-शक्ति है और दूसरी विध्वंस-शक्ति। कहना न होगा कि नारी सदैव निर्माण-प्रिय होती है। वस्तु के निर्माण के पश्चात् उसके विनाश का समय आता है, इस कारण यह निश्चय है कि नारी की उत्पत्ति भी नर से पहले हुई। नर, नारी का अनुन्नत रूप है। जीवन-सत्ता का प्रधान आधार नारी है।

पुरुष ने नारी के साथ लगातार अक्षम्य अपराध किये हैं। उसको क्रीड़ा की पुतली,खेल-तमाशे की वस्तु और अपनी धूर्तता का शिकार बनाया है। क्या यह कृतघ्नता नहीं है? फिर क्या यह संभव है कि निसर्ग के साथ छल करने वाला कभी सुखी हो? इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। जाति, धर्म,

कानून, साहित्य और लोकमत – सभी क्षेत्रों में स्त्रियों को दबाने की चेष्टा की गई है। यदि कहीं स्त्रियों की कोई स्थिति है भी, तो पुरुषों की दासता के लिए, न कि सहयोगिता के लिए। पुरुषों ने जन्म लेते ही असंख्य लड़कियों के गले घोट डाले, अगणित स्त्रियों को धर्म के नाम पर जला दिया, किंतु नारी ने माता बन कर उनका पोषण ही किया है। यदि कहीं स्त्रियाँ भी इस नारी-विरोधी नरसंतति का गला घोंटना प्रांरभ करतीं, तो आज विश्व की क्या दशा होती अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि नारी स्वभाव से देव है तो नर शैतान। पुरुष स्त्री को अपना भोग्य-पदार्थ ही मानता है, इससे कुछ अधिक नहीं। इतिहास की इस चेतावनी से प्रत्येक समझदार व्यक्ति को इस निश्चय पर पहुँचना चाहिए कि संसार के भावी विकास के लिए और व्यापक जीवन को अधिक सुखी और शांतिमय बनाने के लिए स्त्रियों का उचित अधिकार पाना अत्यंत आवश्यक है। स्त्री-पुरुष संबंधी ऐसी ही व्यवस्थाओं, और विवशताओं को सामने रखकर साहित्य में यह सामाजिक संजीवन उपस्थित किया गया है। इसका तीखापन स्वाभाविक है।

मानव-जीवन में स्त्री-पुरुष के संबंध विषयक उनके विचार उल्लेखनीय हैं – किसी-किसी की धारणा है कि अपने सर्वतोमुखी विकास के उपरांत स्त्री का पर्वत के शिखर के समान उच्च परंतु उसी के समान एकाकी हो जाना निश्चित हैं, क्योंकि तब अपने जीवन की पूर्णता के लिए उसे किसी संगी की अपेक्षा ही न रहेगी। परंतु वास्तव में यह धारणा प्रत्यक्ष सत्य का उल्लंघन कर जाती है। अपने पूर्ण से पूर्ण विकास में भी एक वस्तु दूसरी नहीं हो सकती, यही उसकी विशेषता है। अतः उससे जो भिन्न है, उसका अभाव अवश्यंम्भावी है। अपने पूर्ण से पूर्ण गौरव से गौरवान्वित स्त्री भी इतनी पूर्ण न होगी कि पुरुषोचित स्वभाव को भी अपनी प्रकृति में समाहित कर ले, अतएव मानव-समाज में साम्य रखने के लिए उसे अपनी प्रकृति से भिन्न स्वभाव वाले का सहयोग श्रेयस्कर होगा। इस दशा में प्रतिद्वन्द्विता संभव नहीं। इसी प्रकार के अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ लेखिका ने शांत और तटस्थ भाव से समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों की संतुलित विवेचना की है। वास्तव में सामाजिक जीवन की नींव अर्थ-विभाजन और स्त्री-पुरुष संबंध की सुचारुता पर ही खड़ी है, इन प्रश्नों का सम्यक सुझाव महादेवी ने स्पष्टतया सामने रखा है, जो आदरणीय और अनुकरणीय है। इन निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी-जाति की समस्याओं के उद्‌घाटन पुरुषों ने अपने दृष्टिकोण से किया था; किंतु इनमें प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओं का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवी ने विवेचनात्मक गद्य भी लिखा है। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो आलोचक उनका निरीक्षक, इसलिए कवि भावप्रधान

तथा अलोचक विचारप्रधान होता है। महादेवी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों स्वरूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, उनकी साहित्य-विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समुचित और संतुलित सामञ्जस्य का सुफल है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पुस्तक इसका प्रौढ़ प्रमाण है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निष्पक्ष निरूपण इन विवेचनाओं में जिस परिमार्जित एवं प्रांजल, सरस स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र सहज सुलभ नहीं। विचारक महादेवी का एक संकेत, एक शब्द और एक वाक्य पाठकों के अंतःकरण में अनुभूति तथा चिंतन की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है, इसमें संदेह नहीं। उनके सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, उनके सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, उनके आत्मानुभूत सिद्धांतों की प्रतिपादना और उनकी जीवन-दर्शन की व्यापकता से संरक्षित और संचालित उनका आलोचक सूक्ष्म और स्वस्थ साहित्यिक अभिप्रायों के उद्बोधन में अद्वितीय है, यह मेरी दृढ़ धारणा है। ठीक भी है, जीवन की स्वाभाविक संयोजना, सौंदर्य की सात्विक आराधना तथा साहित्य की सहेतुक साधना के लिए आत्मा के जिस पूर्ण परिष्करण की अपेक्षा रहती है, वह महादेवी जैसी कलाकारों की अपनी चीज है। संभवतः इसी कारण संसार के श्रेष्ठ साहित्य और ज्ञान में कलाकार का व्यक्तित्व मूल की भांति समाया रहता है।

महादेवी की विवेचनाओं में आलोचना के टेकनीक के अतिरिक्त अन्तस्थल में प्रवेश करने वाली मार्मिक साहित्यिक सूझ और 'बैक ग्राउण्ड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध सुंदर सहृदयता की जो अपूर्व अभिव्यंजना हुई है, वह हिंदी आलोचना-पद्धति के विकास में निश्चय ही पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होगी। काव्य की भांति हिंदी का गद्य-साहित्य भी महादेवी की कृतियों से गौरवान्वित है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध' महादेवी जी के आलाचेनात्मक निबंधों का बहुप्रशंसित संग्रह है। छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य-चिंतन की, नये काव्य-शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नींव रखी, तो यह स्वाभाविक ही था। समालोचना की इस प्राणवन्त प्रणाली में, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन में पाठकों को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य-सिद्धांत की स्थापना का भी उद्देश्य रहा हो तो आश्चर्य की बात नहीं। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से आबद्ध ह्रासोन्मुख-युग में कवि, जब पाठकों की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नहीं रहता तब उसके लिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है।

कवि समालोचक की दृष्टि में काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष-साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता तो होती है, सर्जन के विभिन्न और विविध तत्वों से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओं का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वयं कवि के स्वानुभूत, मार्मिक स्पंदनों से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता में भी अमोघ रहती है।

छायावादी कवियों ने अपनी विस्तृत भूमिका में तथा वक्तव्यों और विज्ञप्तियों द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल और सार्थक चेष्टाएँ की हैं। महादेवी जी ने ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं, जो छायावाद-युग मात्र की भूमिकाएँ मानी जा सकती हैं। वस्तुतः वे छायावाद की सबसे समर्थ समालोचक हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न हो कर जीवन को संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल-स्वच्छ और सतत प्रसरणशील है।

बाह्य जीवन की स्थूलता और अंतर्जगत की सूक्ष्मता के व्यापक अनुभव, चिंतन और मनन से प्राप्त सत्य, शिव और सौंदर्य के बल पर समालोचक के पूर्व निर्मित सिद्धांतों और परम्परापोषित विचारों को चुनौती देते हुए काव्य के सच्चे मापदण्ड स्वयं कवि की रचनाओं से ही खोजने का उन्होंने जो उचित आग्रह किया है, वह समालोचना के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन के साथ काव्यालोचन की नयी प्रणाली का भी स्वस्थ सूत्रपात करता है। हिंदी समीक्षा के स्वरूप में उनकी इस मौलिक देन का ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

यदि पुरानी काव्य-लीक के प्रेमी और छायावाद के अकारण विरोधी तथाकथित आलोचकों ने उनकी संश्लेषणात्मक विवेचना का अध्ययन किया होता तो उनकी आलोचना की वह हास्यास्पद स्थिति न हुई होती, जो सबके सामने प्रत्यक्ष है।

महादेवी जी की समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन-दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। उनकी मान्यता है – 'किसी मानव-समूह को, उसके समस्त परिवेश के साथ तत्वतः जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध हैं, उनमें सबसे पूर्ण और मधुर उसका साहित्य ही कहा जाएगा। साहित्य में मनुष्य का असीम, अतः अपरिचित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अंतर्जगत बाह्य-जगत में अवतरित होकर निश्चित परिधि तथा सरल स्पष्टता में बँध जाता है तथा सीमित, अतः चिर परिचय के कारण पुराना लगने वाला बाह्य-जगत अंतर्जगत के विस्तार से मुक्त होकर चिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इसी प्रकार हमें सीमा में असीम की और असीम में संभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती है। दूसरे शब्दों में हम कुछ क्षणों में असंख्य अनुभूतियों और विराट ज्ञान के साथ जीवित रहते हैं, जो स्थिति हमारे शान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे विशेष सार्थकता और सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह में बनने-मिटने वाली लहर नव-नव रूप

पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परंतु प्रवाह से भटककर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू-मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को, ऐसे एकाकी अंत से बचाकर उसे जीवन के निरंतर गतिशील प्रवाह में मिलाने का सम्बल देता है।'

'धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर में मनुष्य का हृदय किसी उन्नत स्थिति के भी पाषाणीकरण को अभिशाप मानता रहा है। इस स्थिति से बचने के लिए उसने जितने प्रयत्न किए हैं, उनमें साहित्य उसका निरंतर साक्षी रहा है।'

'दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य-रूप में अवतरित होकर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है। पर इस स्वेच्छा स्वीकृत अपूर्णता या परिवर्तनशीलता से जीवन और उसके विकास की एकता का सूत्र भंग नहीं होता।'

'नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नहीं, नवीन तरंग-भंगिमा है। देश-विदेश के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य में नवीन तरंगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नहीं करती, वरन् उन्हीं नवीन तरंग भंगिमाओं की अनन्त आवृत्तियों के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति पाती है।'

'इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करें तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से संबंध रखने वाले अनन्त परिवर्तनों की भीड़ में भी उसमें एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी, जिसके प्रभाव में किसी परिवर्तन की स्थिति संभव नहीं रहती। समुद्र की बेला में जो धरती व्यक्त है, उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अपार जलराशि को सँभालती है। समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न संबंध के मूल में भी जीवन की ऐसी ही धरती है।'

'सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना में जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरों तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को संचालित करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यों के सृजन का तो प्रश्न ही क्या, जब जगत के भौतिक तत्वों की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नहीं करता कि वह भौतिक तत्वों का स्रष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अंतर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति-पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अंश में उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है, वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति अपने ऋतु रूप सत्य को भिन्न चेतना-खण्डों के लिए सहज संभव कर देती है।'

अपने इसी बोध-विचार और जीवन-दर्शन के आधार पर महादेवी जी ने काव्य-कला के विवेचन-विश्लेषण में यह आर्ष वाक्य लिखा है – 'सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।' 'एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।' इस कथन में उनकी काव्य संबंधी धारणा स्पष्ट है। व्यक्त अनेकता में अंतर्निहित एकता की खोज करने वाले की आस्था सामंजस्य और समन्वय पर ही आरूढ़ रहती है। साहित्यालोचन में उनका दृष्टिकोण इसी पृष्ठाधार पर संस्थित है। उन्होंने लिखा भी है :

'जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलतः और लक्ष्यतः सामंजस्य-वादिनी होती है। साहित्य का आधार कभी आंशिक जीवन नहीं होता, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाँही वस्त्र में दो रंगों के तार, अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं संभव नहीं। उसके लिए न हमारा अंतर्जगत त्याज्य है न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है आंशिक नहीं।

मनुष्य के पास बाह्य जगत के समान एक सचेतन अंतर्जगत भी है, अतः उसका सौंदर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामंजस्य पर प्रसन्न नहीं होता, वरन् विचार-भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामंजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अंतर्जगत का सामंजस्य बाह्य-जगत में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत का सामंजस्य अंतर्जगत में अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।'

साहित्य में संपूर्ण तथा व्यापक जीवन की यह माँग उनकी विवेचना में अत्यंत सफलता के साथ प्रतिफलित हुई है। उनके सभी निर्णय-निष्कर्ष इसी अनुभूत जीवन-दर्शन, आस्था और विश्वास के परिणाम हैं। जिस प्रकार उनका काव्य जीवन के विराट भाव-बोध को जागृत करता है उसी प्रकार उनकी विवेचना अनुभूत बौद्धिक-चिंतन के उन्मेष को विस्तार देती है। व्यष्टि के अनुभव-चिंतन को समष्टि के साथ संयोजित करने के अन्य अनेक

साधनों के साथ उनकी विधायक कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है, क्योंकि साहित्य में मूर्ति-विधान और सौंदर्यबोध का माध्यम यही मानस-व्यापार है।

वस्तुतः भाव, विचार और कल्पना की समन्वित त्रिवेणी से प्रभावित तथा प्रवाहित उनकी समालोचना जीवन-भूमि को सब ओर संसक्ति और स्निग्ध करती चलती है। उनकी मर्मभेदी, दूरदर्शी दृष्टि के सामने जीवन अपने परिपूर्ण व्यापकत्व और विराटत्व के साथ उपस्थित होकर विवेचना को गहनता और विस्तार के सूत्रों से ग्रंथित करता चलता है।

छायावाद के प्रति फैले बहुमुखी भ्रामक विचारों और अबोधता से उद्भूत नाना भ्रमों के कुहासे को दूर करने में उनकी विवेचना ने जिस किरण-कला का काम किया है, वह किसी से छिपा नहीं। श्री नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है – 'छायावाद संबधी सभी आलोचनाओं का उत्तर महादेवी जी को देना पड़ा। इसीलिए, उन्होंने बड़े विस्तार से छायावाद में प्रकृति, नारी-भावना, कल्पना, दुःखवाद, स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद संबंधी भ्रमों का उच्छेद करने में महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियों से अधिक काम किया।' श्री विनयमोहन शर्मा की यह उक्ति भी है - 'छायावाद-युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन', सच है। वास्तव में छायावादी काव्य-धारा के सौंदर्य-संवेदन को, उसकी सांस्कृतिक समृद्धि को, तथा उसकी स्थिति की विवेचनात्मक दृढ़ता को हृदय-स्पर्शी बनाकर सर्व-सुलभ स्पष्टता देने के भगीरथ विधान में महादेवी जी की सफलता सहज ही अनन्य है; यह निर्विवाद है।

विशेषता यह है कि छायावाद की महत्वपूर्ण स्थापना और उसकी विस्तृत विवेचना के साथ उन्होंने उसकी त्रुटियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है – 'छायावाद के कवि को एक नये सौंदर्य-लोक में ही यह रागात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है।' छायावाद की ऐसी आलोचना शायद ही और किसी ने की हो?

प्रगतिवाद की मौलिक त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए भी उन्होंने कवियों को यही सलाह दी है – 'अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आकर, जड़ सिद्धांतों का पाथेय छोड़कर अपनी सम्पूर्ण संवेदनशक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावें', क्योंकि उनका निश्चित विश्वास है – 'हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पंदनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिरसंवेदन रूप सक्रिय भावनाओं में जीवन के परमाणु खोजने होंगे।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी जी की विवेचना में साहित्य के विश्लेषण के साथ-साथ उसमें जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा का आग्रह सर्वाधिक महत्ता रखता है। इसी

से उसमें बौद्धिक तीक्ष्णता के साथ भावात्मक संश्लेषण का स्वर बराबर गूँजता चलता है, जो साहित्य की सार्थकता और उपयोगिता का सबसे प्रौढ़ और सनातन प्रतीक है। ऐसी जीवनवादी, मानवतावादी समीक्षा का सृजनात्मक प्रभाव साहित्य के शाश्वत सिद्धांतों की खोज में स्थायी रहता है, इसमें संदेह नहीं। डॉ0 नगेन्द्र ने बड़े पते की बात कही है - 'महादेवी के ये निबंध काव्य के शाश्वत सिद्धांतों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बबण्डर में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोक-स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।'

साहित्य भावात्मक सामंजस्य का प्रथम और अंतिम सत्य है, इसीलिए उसकी स्थिति मनुष्य के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे उसके हृदय की। स्वभावतः साहित्य का माध्यम स्थूल विधि-निषेध न होकर आंतरिक सामंजस्य ही होता है, तभी वह हृदय की भाँति जीवन के सभी अंगों को अपनी नवीन रक्तसंचारिणी शक्ति से जीवित तथा स्वस्थ रख सकेगा, अन्यथा नहीं।

इन निबंधों में महादेवी जी की व्यापक तथा गहन अनुभूति, समन्वयात्मक चिंतन-मनन और सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन का जो उन्मेष उद्घाटित हुआ है, वह जीवन और साहित्य के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता के साथ विवेचना के स्तर को ऊपर उठाने में भी सफल है। सिद्धांतों को धो-माँजकर चमाचम रखने वाले और जीवन में जंग लग जाने देने वाले आलोचकों के प्रति उनका कथन कितना मार्मिक है। आज का आलोचक 'मानिसक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्रय साथ लिए बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नही आती, क्योंकि ऐसी पुकार स्वयं उसी के जीवन को विरोधात्मक बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह एक अथक विवादैषणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नहीं दे सका, जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।'

छायावादी काव्य के पूर्व हिंदी-आलोचना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि आलोचक यही निर्णय नहीं कर पाये थे कि काव्यालोचन की कसौटी स्वयं आलोचक की रुचि से निर्मित हो, अथवा परम्परागत सिद्धांतों से, जीवन का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। केवल एक ही आदर्श सामने था - कविः करोति काव्यानि, स्वादं जानन्ति पंडिताः, इसी बल पर आलोचक फूला नहीं समाता था।

काव्यालोचन के संदर्भ में धर्म, नीति और लोकमंगल को स्थान देकर आचार्य शुक्ल ने कुछ उदारता का परिचय दिया, और जीवन की माँग को सीमित रूप में ही सही, सामने

रखा। सीमित इसलिए कि शुक्ल जी जीवन का अर्थ उस जीवन से लगाते थे, जो रामचरितमानस में व्यक्त हुआ है। उसके बाहर जीवन की किसी स्थिति पर उनकी आस्था नहीं के बराबर थी। किसी भी काव्य पर विचार करते समय वे यह देखना नहीं भूल पाते थे कि गोस्वामी जी के काव्य से उसकी पुष्टि होती है या नहीं।

छायावादी कवियों ने और विशेष रूप से महादेवी जी ने काव्यालोचन के सिद्धांतों को प्रथम बार जीवन के विकासशील सिद्धांतों के समकक्ष रखकर विवेचना के सूत्रों को केवल सिद्धांतवादी आलोचकों के हाथ से छीनकर कवि के जीवनव्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति कौशल के हाथों में रख दिया। जनतंत्रीय जीवनधारा का साहित्य में भी अभिषेक हुआ। इस प्रतिक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो समवर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था।

छायावादी स्वच्छन्द भावधारा और रहस्यवादी भावसूक्ष्मता तथा प्रेम के उदात्तीकरण को विदेशी तथा मात्र अभिव्यंजना एवं केवल काल्पनिक कहने वालों का मुँह बंद करने के लिए महादेवी जी ने उसे भारतीय काव्य की, जीवन के साथ सतत विकसित होने वाली वैदिक, पालि और प्राकृत काव्यों की परम्परा से संबद्ध सिद्ध करते हुए उसकी स्थिति को स्वाभाविक और उसकी अभिव्यक्ति को सांस्कृतिक महत्ता देने में जिस संश्लेषणी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह समीक्षा के इतिहास में अकेली है। परवर्ती आलोचकों की आलोचना में इसका प्रभाव और अनुसरण प्रत्यक्ष है।

'गीति-काव्य' पर उनका निबंध अपने ढंग का प्रथम और प्रामाणिक है। उनकी गीत की यह परिभाषा पाठकों और आलोचकों के लिए कंठहार बन गयी है 'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

छायावाद युग में गीतों की प्रधानता का कारण भी उन्होंने बताया है 'हिंदी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जाएगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। संभव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कहकर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।'

'यथार्थ और आदर्श' निबंध का प्रारंभ ही उनके मन्तव्य को स्पष्ट कर देता है– 'संतुलन का अभाव हमारा जातीय गुण चाहे न कहा जा सके, परंतु यह तो स्वीकार करना ही

पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में यही त्रुटि विशेषता बनती आ रही है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर संभव है या दूसरी पर, पर समन्वय के किसी भी रूप से हमारा हृदय जितना विरक्त है, बुद्धि उतनी ही विमुख। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच से ढँके वीर हैं कि जीवन की स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन बालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या ऐसे तन्मय स्वप्नदर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्ग्रीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते हैं।'

यथार्थ और आदर्श की प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रायः सम्पूर्ण भारतीय काव्य का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो दोनों की समन्वयात्मक स्थिति का बोध कराने में अत्यंत उपयोगी हैं :

'आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पंदन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।'

'जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आधार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है। ध्वंसात्मक अंधकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिगभ्रांत करता रहा है या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बाँधते रहे हैं।

'जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं, केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है।'

'सच्चा कलाकार व्यावसायिक कम पर संवेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ के संबंध में संतुलित और आदर्श के संबंध में व्यापक रह कर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है।'

इस प्रकार यथार्थ-आदर्श के सूक्ष्म ऐतिहासिक विवेचन और कलात्मक विश्लेषण के पश्चात् दोनों की सामंजस्यपूर्ण जिस स्थिति का उन्होंने आकलन और उद्भावन किया है, वह हिंदी साहित्य के इतिहास में नितांत नवीन होने के साथ सारगर्भित और साहित्य-सृजन के लिए उपादेय भी है। साहित्य की सप्राणता और संचरण के लिए इन दोनों वृत्तियों का संतुलन अनिवार्य है।

'सामयिक समस्या' में प्रगतिवाद के आंदोलन द्वारा उत्पन्न साहित्य-समस्या पर व्यापक रूप से विचार करते हुए साहित्य में विज्ञान, मनोविज्ञान, एवं बौद्धिक विकल्पों की स्थितियों और साहित्य में उनके उपयोग की विधियों का विवेचन किया गया है। पूरे निबंध के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है कि प्रगति से, चाहे वह मार्क्स से प्रभावित हो, चाहे गाँधी से और चाहे फ्रायड से, महादेवी जी का कोई विरोध नहीं, किंतु प्रगति का वास्तविक रूप वे साहित्य की उस विकासशील प्रवृत्ति में ही स्वीकार करती हैं, जो जीवन के स्वाभाविक विकास के साथ सृजन को प्रशस्त करती चलती है।

प्रगति के लिए 'जो मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद भी चाहता है। अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धांतिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। वह राजनीतिक दलों के समान साहित्यचरों का विभाजन कर अपने पक्ष में बहुमत और दूसरे पक्ष में अल्पमत चाहता है।' ऐसी प्रगति के उपासकों से उनका विरोध न होना आश्चर्य का ही कारण हो सकता था। किसी दल की संकीर्णता में बद्ध प्रगति की भावना साहित्य को सार्वजनिक कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकती। उसे केवल ऐसा अपरिणामदर्शी, दलबंद और बुद्धिजीवी राजनीतिक वर्ग ही स्वीकार कर सकता है, 'जो जीवन के स्वाभाविक स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है।'

प्रगतिपंथियों के लिए महादेवी जी का यह वाक्य सदा स्मरणीय रहेगा– 'सफल प्रगति-काव्य के लिए अनुभूतियों को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया में रखना उचित था, जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।'

गतिशील भाव-भूमि से सर्वथा विच्छिन्न करके काव्य को विशुद्ध तर्क-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का परिणाम केवल गतिहीनता ही हो सकती है, जैसे पानी को बर्फ बना देने से। भाव और सहज संवेदनीयता की नितान्त न्यूनता के कारण काव्य-प्रवाह का स्थिर हो जाना ही संभव है, आज हम इस सत्य से पूर्णतः अवगत हो चुके है। प्रगति के नाम पर वासना के नग्न चित्रों का प्रदर्शन, जीवन के केवल कुत्सित रूपों का चित्रण, विकृतियों

की चित्रशाला उपस्थित करने में भले ही कृत-कृत्य हो, किंतु उसके लिए सच्ची साहित्य-प्रगति का आचार बन सकना कभी किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता। साहित्य में किसी भी विचारधारा की सप्राणता का प्रमाण उसका उत्कृष्ट एवं जीवन्त सृजन ही होता है, न कि दूसरी विचार-धाराओं को नगण्य बताकर उनके नष्ट करने का प्रयत्न मात्र। विभिन्न साहित्यिक धाराओं को लेकर चलने वाले कटु विवादों की व्यर्थता पर महादेवी जी की धारणा महत्वपूर्ण है :

"विवाद जीवन का चिह्न है और निर्जीवता का भी। लहरें बाहर से विविध किंतु भीतर से एक रह कर जल की गतिशीलता प्रकट करती है, पर सूखते हुए पंक की कठिन पड़नेवाली दरारें भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा हैं। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देख चुके है। हम राजनीतिक और सामाजिक संगठन करने चले थे और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असंभव हो गया। हमने हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादों ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिंदी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान में तीन भाषाओं की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापों से ग्रसित और दुखद हैं, क्योंकि उनके मूल में जीवन के ऊपरी सतह की विवेचना नहीं है, वरन् उसकी अंतर्निहित एकता का खण्डों में बिखरकर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते हैं। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह एकता रखता है, जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतंत्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाते स्वयं मिट जाना चाहेगा, पर उन्हें बना-बनाकर स्वयं बनना उसे स्वीकार न होगा।"

प्रगतिवादी यथार्थ की उत्तेजक आकुलता में विकृत और अश्लील चित्रों की जो विवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में हुई, उससे महादेवी जी को शिकायत नहीं, पर वे यथार्थ अभिव्यक्ति की उच्चता का स्मरण दिलाना नहीं भूलतीं -- "व्यापक अर्थ में यह भाव (श्लील-अश्लील) जीवन के प्रति संभव और असंभव के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, संकल्प, संकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होती, वे सब अश्लील की परिधि में रखे जा सकते हैं। जो चिकित्सक रोगी के शरीर की परीक्षा करता है वह अश्लील नहीं कहा जा सकता। पर यदि राह में कोई उसी रोगी की पगड़ी उतार कर कहे कि जब चिकित्सक को पीठ दिखाने में लज्जा नहीं आयी तब यहाँ सिर उघड़ जाने में क्या हानि है, तो इस कार्य को श्लील नहीं कहा जा सकेगा। विकृत तथा अश्लील चित्रों के अंकन द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में एक मांगलिक आदर्श की स्थापना करने का हो, वह एक ऐसे गोताखोर की तरह हो, जो केवल तट पर कीचड़ और घोंघों का ढेर लगाने के

लिए समुद्र की अतल गहराई में नहीं··धँसता, वरन् उस मोती को निकाल लाता है, जिससे संसार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओं से भरे समुद्र को रत्नाकर नाम देता है।'

'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में मानवीय जीवन की विज्ञानसाध्य बाहरी संपर्क-सुलभ समीपता एवं निकटता और भीतरी भावात्मक दूरी का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया गया है– 'पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते है। और युद्ध भूमि पर परस्पर-विरोधी सैनिक भी, परंतु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक दूसरे के बचाने के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप कहे जायेंगे, परंतु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पास है, परंतु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वालों से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनों की निकटता पहली आवश्यकता है।'

निकटता की स्थिति-मात्र से राष्ट्र को सावधान करते हुए उन्होंने अपनी उस सांस्कृतिक मन की निकटता एवं एकता को जगाने का आग्रह किया है, जो हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में सामंजस्य की स्थापना से मानवमात्र की भीतरी एकता का भावन करती चली आ रही है। इस यंत्रयुग की कठोर, किंतु विशाल छाया में यदि हम सहज मानवीय संवेदना के प्रकाश को विकीर्ण कर सकें, तो हमारी सांस्कृतिक परम्परा का गौरव तो बढ़ेगा ही, हम भी अपने को उसके सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

वैज्ञानिक युग की निकट की दूरी से बचने के लिए हमें महादेवी जी का यह कथन स्मरण रखना होगा– 'जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वही वैतालिक रहे हैं। आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें। हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशंका के बादल उठते रहे, तो हमारे उजले संकल्प पथ भूल जायेंगे। अतः आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।'

इस कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने साहित्य की जीवनव्यापी विविधता और उसमें प्रतिफलित होने वाले प्रायः सभी महत्वपूर्ण विषयों को लेकर इतने विस्तार और इतनी गहनता से विवेचन किया है कि पाठक के मन में भाव-विचार, संकल्प-भावना, व्यष्टि-समष्टि, राष्ट्र-परराष्ट्र, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, यथार्थ-आदर्श, सामयिकता-शाश्वतता, ज्ञान-विज्ञान, श्लीलता-अश्लीलता, प्रत्यक्ष-परोक्ष, परम्परा-प्रगति, सभ्यता-संस्कृति, रूप-कुरूप, शिव-सौंदर्य, नूतन-पुरातन, भौतिकता-आध्यात्मिकता, एकता-अनेकता, अतीत-वर्तमान, बाह्यजगत-अंतर्जगत, बुद्धि-हृदय, भावन-चिंतन, सुख-दुःख, अधिकार-अनधिकार, सिद्धांत-क्रिया, धर्म-कर्म, कठोर-कोमल, राग-विराग, युद्ध-शांति, शोषक-शोषित, नैतिक-अनैतिक, स्वभाव-संस्कार, मूर्त-अमूर्त, ह्रास-विकास, आस्था-अनास्था, देश-काल, नर-नारी, राजनीति-अर्थनीति, नास्तिक-आस्तिक, आत्मा-परमात्मा आदि के विषय में उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी दृष्टि एवं उनके सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नहीं रह जाती और वह साहित्य के विराट स्वरूप से परिचित होकर उसके आधार जीवन और जगत के प्रति अनायास ही संवेदनशील हो उठता है।

अनुभूति के रंगों से रंजित और व्यवस्थित सांस्कृतिक चिंतन से चित्रित समालोचना के ये संश्लिष्ट चित्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी स्वयं-प्रकाश प्रज्ञा के प्रौढ़तम प्रतीक हैं। इस विवेचना-पद्धति की चर्चा करते हुए श्री इलाचन्द्र जोशी ने कहा है– 'हिंदी के अन्य आलोचकगण महादेवी जी के साधनात्मक और सहृदयतापूर्ण गहन चिंतन द्वारा प्रसूत इस विवेचना से लाभ उठा सकें तो यह हिंदी के लिए निश्चय ही बड़े सौभाग्य की बात होगी।'

अंत में यह कह देना आवश्यक है कि महादेवी जी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामंजस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एवं सरस-स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन में प्राण-प्रवेग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने में भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धांतों की सुबोध प्रतिपादना और जीवन-दर्शन की व्यापकता से संचालित यह विवेचना साहित्यिक अभिप्रायों के आकलन, अंकन और उद्घाटन में अद्वितीय है। जीवन की विकासशील संयोजना, सौंदर्य की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के जिस परिष्करण की अनिवार्यता होती है, वह महादेवी जैसे विदग्ध कलाकारों की निजी महत्ता है।

17. बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय

प्रयाग शुक्ल

वात्स्यायन जी का रचना-कर्म बहुमुखी था, यह बात लगभग सर्वविदित है। इसे दुहराने में या यहाँ इसके विस्तार में जाने में कोई लाभ मैं नहीं देखता। पर स्वयं इस तथ्य को याद करमे के कई लाभ हैं और इसका महत्व भी बहुत ज़्यादा है कि अभी दो साल पहले तक हमारे बीच एक ऐसा रचनाकार मौजूद था जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए कई विधाओं पर एक साथ भरोसा करता था।

दरअसल ऐसा भरोसा वह आजीवन करते रहे तथा यह उनके युग की विशेषता थी। या कि फिर उनका स्वभाव ही यही था। अगर इसे युग की विशेषता मानें तो पायेंगे कि उनके समकालीन महत्वपूर्ण रचनाकार ठीक वैसा ही काम नहीं कर रहे थे जैसा कि अज्ञेय ने किया और अगर इसे उनके स्वभाव की विशेषता माने तो पायेंगे कि वह सब समय स्वभाव से ही बँधकर बहुत-सी चीज़ें नहीं कर रहे थे। दरअसल वह कुछ ऐसा भी कर रहे थे जो उनके स्वभाव के विपरीत भले न रहा हो पर जिसे करने में उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा खटना पड़ता था।

पर यह खटना उन्होंने ज़रूरी माना। हो सकता है ऐसा खटना उन्होंने अपने रचनात्मक लेखन की क़ीमत पर भी किया हो।

मुझे कई बार यह लगा है कि वात्स्यायन जी ने कई विधाओं में जो काम किया वह अपने लिये एक रचनात्मक वातावरण बनाने की ख़ातिर भी किया। शायद उन्हें लगता रहा हो कि जैसा वातावरण वह अपने लिये साहित्य-जगत में पाना चाहते हैं वैसा वातावरण था नहीं। संभवतः इसी स्थिति के कारण उन पर ये आरोप भी लगते रहे कि वह जो कुछ भी करते हैं अपने को गरिमा मण्डित करने के लिए ही करते हैं।

तार सप्तक के प्रकाशन से लेकर **प्रतीक** तक तो ऐसे कई आरोप उन पर लगे ही, बाद में भी लगते रहे। यह भी कहा गया कि वह तो यह साबित करने पर तुले हैं कि 'मैं' जूते

गाँठने से लेकर बागवानी तक का काम उतने ही कलात्मक ढंग से कर सकता हूँ जितने कलात्मक ढँग से अपने व्यक्तित्व से जुड़े अन्य प्रमुख काम करता हूँ।

उन पर लगे इन आरोपों की बहस में मैं नहीं जाऊँगा। वैसा करने पर मेरी यह चर्चा भी स्वयं एक अन्य दिशा में मुड़ जायेगी। वह कुछ भूलभुलैया साबित होगी जिसमें मैं फिलहाल पड़ना नही चाहता। आरोपों के खण्डन-मण्डन का भी मेरा कोई उद्देश्य नहीं है।

पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि भले ही उनके कुछ कामों में गरिमा मण्डन का अंश भी रहा हो पर आज उनके किए हुए कार्यों का महत्व न केवल ऐतिहासिक लगता है, वह कई अर्थों में उत्प्रेरक भी हो सकता है।

आज जब वात्स्यायन जी पर हम यह चर्चा कर रहे हैं तब ऐसा दौर है जिसमें कई संस्थाएँ संस्कृति, साहित्य और कला की दुनिया में एक साथ काम कर रही हैं। स्वयं भारत भवन उनमें से एक है। सरकार कई सांस्कृतिक केंद्र स्थापित कर ही चुकी है। भारत महोत्सवों और उनके बदले में आयोजित होने वाले अन्य देशों के महोत्सवों की भी एक परम्परा पड़ चुकी है। सांस्कृतिक साहित्यिक दुनिया का यह दृश्य-परिवर्तन ऊपर से बहुत रंगारंग नज़र आता है। पर कुछ ऐसा कारण है कि स्वयं कई रचनाकारों के प्रयत्नों या उनके सम्मिलन से पैदा होने वाला यह परिदृश्य किसी रचनाकार को यह अहसास भी करा ही सकता है कि इस सबके बावजूद वातावरण उनके अनुकूल नहीं है। वह अपने स्तर पर, अपने मोर्चों पर खटने के लिए स्वयं बाध्य है या उसे बाध्य हो ही जाना चाहिए।

दरअसल एक रचनाकार के प्रयत्नों और एक संस्था के प्रयत्नों में फ़र्क होता ही है। वात्स्यायन जी के संदर्भ को ही ध्यान में रखें तो यह फ़र्क अच्छी तरह समझ में आ सकता है। मैं समझाता हूँ वात्स्यायन जी के बहुवचन को इस अर्थ में भी देखा जाना चाहिए। वैसे यहाँ यह याद करना भी ज़रूरी है कि स्वयं वात्स्यायन जी ने कुछ संस्थाएँ बनायीं या उनसे जुड़े और कई अवसरों पर उनका यह जुड़ाव विवादास्पद भी बना—मसलन 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' के साथ जुड़ाव। पर वह एक अलग प्रसंग है। मैं यहाँ एक रचनाकार के रूप में वात्स्यायन जी की उपलब्धियों की बात ही ज़्यादा करना चाह रहा हूँ या उन्हीं पर ज़ोर देना चाह रहा हूँ।

वात्स्यायन जी के बहुमुखी रचना-कर्म का एक और संदर्भ था। वह भी उतना ही ध्यान में रखने लायक है। एक ओर जहाँ वह अपने बहुमुखी रचना-कर्म से अपने और हिंदी के लिए एक नया वातावरण तैयार कर रहे थे, कई मोर्चों पर लड़ने की चुनौती स्वीकार कर रहे थे, वहीं कुछ चुनौतियाँ दे भी रहे थे। ये चुनौतियाँ वह अपने पूर्ववर्तियों से अधिक अपने परवर्तियों को दे रहे थे—ऐसा मुझे लगता है। जहाँ तक पूर्ववर्तियों का सवाल है, उनसे उनके संबंध आदर-भाव वाले अधिक थे। कुछ तनाव भी थे और ज़ाहिर है कि

वात्स्यायन जी बोध के मामले में उनसे कहीं अलग भी पड़ते थे पर कुल मिलाकर आदर-भाव और एक सामंजस्य उन संबंधों में था।

पूर्ववर्तियों से अपने संबंधों को वह स्वयं अपनी पुस्तक 'स्मृति लेखा' में दर्ज़ कर चुके हैं। और पुस्तक के आधार पर भी वही तथ्य उभरते हैं जिनका मैंने ऊपर उल्लेख किया है। एक 'रेणु' को छोड़ दें तो 'स्मृति लेखा' में सभी लेख-संस्मरण पूर्ववर्तियों के बारे में ही हैं।

ऊपर मैंने चुनौती शब्द का इस्तेमाल किया। वह शायद कुछ भारी शब्द है–इस संदर्भ में। पर अपने परवर्तियों को वह अगर बहुमुखी रचना-कर्म से चुनौती नहीं दे रहे थे तो कम-से-कम कौंच तो रहे ही थे। संभवतः कुछ इस भाव से कि 'देखो यह मैं कह रहा हूँ और तुमसे भी कुछ अपेक्षित है'।

यहीं यह भी याद कर सकते हैं कि अपने पूर्ववर्तियों, अपने समकालीनों और अपने परवर्तियों से एक साथ संवाद चलाने के मामले में वात्स्यायन जी हिंदी में एक बहुत अलग नज़र आते हैं। उनका बहुमुखी रचना-कर्म उनका बहुवचन, अतीत और वर्तमान और भविष्य को मानो एक साथ झकझोरने वाला था।

परवर्तियों से उनके संबंध स्नेह-प्रेम वाले भी रहे और तनाव वाले भी। पर उनसे दूर रहने वालों का भी उनसे एक संवाद बनता ही था। भले ही इकतरफ़ा। इस मामले में इकतरफ़ा कि वात्स्यायन जी उनसे सीधा संवाद भले न कर रहे हों पर जो दूर रहते थे वे भी उनकी उपेक्षा एकदम से कर नहीं सकते थे। कर नहीं पाते थे।

इस तरह देखें तो वात्स्यायन जी की स्थिति एक मामले में बहुत अच्छी थी। अपने बहुमुखी रचना-कर्म से उन्होंने अपने को कई दिशाओं की ओर उन्मुख कर रखा था–इन दिशाओं से अनुकूल-प्रतिकूल हवाएँ आती रहती थीं जो स्वयं उन्हें सक्रिय रखने का अतिरिक्त बल तो देती ही रही होंगी।

पर क्या कोई रचनाकार बहुमुखी रचना-कर्म की ओर इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उसे कई मोर्चों पर सक्रिय रखने वाली हवाएँ चलती रहें जिससे वह ज़्यादा जीवन्त बना रहे? नहीं, बहुमुखी रचना-कर्म भी अगर आन्तरिक ऊर्जा से प्रेरित नहीं होगा तो ये सब हवाएँ भी काम न आयेंगी।

ऐसे में जानने वाली बात यह भी है कि वात्स्यायन जी का बहुमुखी रचना-कर्म दरअसल किन आंतरिक ज़रूरतों से प्रेरित था या ऐसी कौन-सी आंतरिक ज़रूरते हैं जो उनके बहुमुखी रचना-कर्म में परिलक्षित होती हैं। एक आसान जवाब तो यही होगा कि उन्होंने जीवन ही इतनी विविध प्रकार का जिया कि उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकारों में ही हो

सकती थी। एक ओर **शेखर** है तो दूसरी ओर **अरे यायावर रहेगा याद** है, उनकी घुमक्कड़ी है, पुरातत्व में दिलचस्पी है, फ़ोटोग्राफ़ी का शौक है, पक्षियों-वनस्पतियों-पेड़ों के बारे में अध्ययन और जिज्ञासा है। पर इस आसान जवाब से काम चलने वाला नहीं है। क्योंकि वात्स्यायन जी की बाद की कविताओं और उनके चिन्तन-परक निबंधों को **शेखर** और **अरे यायावर रहेगा याद** के साथ रख कर देखें तो पायेंगे कि इनके बीच कोई सीधी समानता है नहीं।

अभिव्यक्ति के रूप भी कुछ ऐसे है कि कुछ कृतियाँ तो उनके जीवन तथ्यों का जहाँ-तहाँ प्रकटीकरण लगती हैं पर कुछ के स्रोत ढूँढ़ पाना आसान नहीं है। फिर उनकी पत्रकारिता, कलाओं के प्रति उनका लगाव है और उस क्षेत्र में उनका बहुतेरा काम है। यह किन आंतरिक ज़रूरतों का परिणाम है?

दरअसल वात्स्यायन जी के संदर्भ में आंतरिक और बाह्य या परिस्थितिगत ज़रूरतें एक साथ काम करती हुई लगती हैं। मैं फिर उसी बात पर लौट आना चाहता हूँ कि उनका बहुमुखी रचना-कर्म इस बात का भी परिणाम था कि वह अपने लिये और भिन्न बोध वाली आधुनिक रचनाशीलता के लिए एक ऐसा वातावरण चाहते थे जो उन्हें मानो सामान्यतः मिल नहीं रहा था। 'प्रतीक' से लेकर 'दिनमान' तक की पत्रकारिता यही तो बताती है। 'सैनिक' और 'विशाल भारत' जैसे पत्रों में उन्होंने काम किया ही था।

एक बात और याद करने वाली है। वात्स्यायन जी अपने समय के कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। ये व्यक्ति ज़रूरी नहीं कि साहित्य के क्षेत्र के ही रहे हों। जाने-अनजाने कई कामों की प्रेरणा उन्हें इन व्यक्तियों से भी मिली। पिता की छाप तो पड़ी ही; रायकृष्ण दास जैसे कई व्यक्तियों ने भी उनके कई कला-संस्कारों और उनके बहुवचन को गहरा किया। उन पर प्रभाव डाला।

वात्स्यायन जी के बहुवचनात्मक रूप को एक और तरह से भी जाना जाना चाहिए। जहाँ तक हिंदी के आधुनिक काल का सवाल है, उसमें प्रसाद और निराला जैसे दिग्गज थे ही जिन्होंने प्रायः सभी विधाओं में लिखा और पत्रकारिता की। इनका प्रेरक रूप तो वात्स्यायन जी के सामने रहा ही होगा। जहाँ तक विधाओं का सवाल है वात्स्यायन जी ने लगभग उतनी ही विधाओं में काम किया, जितनी विधाओं में इन लोगों ने काम किया था। कविता, कहानी, उपन्यास, लेख, समीक्षा, आलोचना, इन्होंने भी लिखी ही थीं। और जहाँ तक कला-संस्कृति का सवाल है, प्रसाद ने **काव्य और कला** शीर्षक से एक गंभीर पुस्तक लिखी थी। इसके अलावा भी इस क्षेत्र में प्रसाद का बहुत-सा काम है जिसमें, स्वयं राय कृष्ण दास के साथ मिलकर भारत कला भवन के लिए कलाकृतियाँ इकट्ठा करने का काम तक शामिल है।

दरअसल हिंदी में रचनाकार के बहुवचन की शुरुआत तो स्वयं भारतेंदु से हो गयी थी। शायद ही कोई विधा ऐसी हो जिसमें उन्होंने न लिखा हो। पत्रकारिता, अनुवाद इन सभी क्षेत्रों में भी उनका योगदान न केवल सुपरिचित है, वह हिंदी की नींव को पुख्ता करने वाला भी सिद्ध हुआ। साहित्य की विधाओं के अलावा उन्होंने कलाओं पर और न जाने कितने अन्य विषयों पर लिखा है। संगीत पर लिखा हुआ भारतेंदु का **संगीत-सार** है। सन् 1817 में 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक से जो व्याख्यान उन्होंने हिंदी वर्धनी सभा में दिया था उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं :

विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन ते लै करहु भाषा माँहि प्रचार।

इस अर्थ में देखें तो वात्स्यायन जी का 'बहुवचन' इस परम्परा का एक विस्तार भी था। पर किसी परम्परा का विस्तार भी हम तभी करते हैं जब उसे ज़रूरी मानें। तो एक परम्परा के विस्तार वाले अर्थों में भी वात्स्यायन जी बहुवचन को ज़रूरी मान रहे थे। यह ज़रूरत आन्तरिक भी थी और परिस्थितिगत भी। लेकिन ज़ाहिर है कि इस परिस्थितिगत ज़रूरत को उन्होंने अपने अभ्यन्तर में अच्छी तरह बैठा लिया था।

'प्रतीक' के प्रकाशन को ही लें। यह आज़ादी के कुछ वर्षों बाद निकला। यह उस काल में भी निकला जब विभिन्न विधाओं में आधुनिक बोध की नयी सुगबुगाहटें शुरू हो गयीं थीं। फ़िल्म, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला में साहित्य की तरह ही नयी ज़मीन तलाशने की एक नयी बेचैनी दिखायी पड़ने लगी थी। आज कोई 'प्रतीक' की पुरानी फ़ाइलें उठाकर देखे तो पायेंगे कि 'प्रतीक' में इन सब चीज़ों की नोटिस ली जा रही थी। यह वह दौर भी था जब कलाओं पर सैद्धांतिक लेखों की ही नहीं, समीक्षात्मक लेखों की ज़रूरत भी बढ़ रही थी।

वात्स्यायन जी के बहुवचन को अंग्रेज़ी की दुनिया के बरक्स रखकर भी देखना ज़रूरी है। वह अंग्रेज़ी की दुनिया से और अन्य भारतीय भाषाओं की दुनिया से भी दूर तक परिचित थे। उन्हें यह भी लगा होगा कि हिंदी की मौलिक ज़रूरतों के कारण उसमें फिर कई क्षेत्रों में, मौलिक तरह से कई काम होने चाहिए। 'प्रतीक' से लेकर 'दिनमान' तक उन्होंने एक बदले हुए परिदृश्य में हिंदी की दुनिया के लिए ये काम ज़रूरी माने और किये। इसी अर्थ में 'दिनमान' 'टाइम' या 'न्यूज़वीक' की नकल नहीं था जैसा कि एक ज़माने में उसके बारे में प्रचारित किया गया था।

सच्चाई तो यह है कि 'दिनमान' में शुरू में और फिर रघुवीर सहाय के सम्पादन में संस्कृति-कला की दुनिया में और अन्य कई क्षेत्रों में, कई ऐसे काम हुए जो अंग्रेज़ी की

दुनिया में या अन्य भारतीय भाषाओं में भी संभवतः निरन्तरता और समग्रता से न हुए होंगे।

वात्स्यायन जी के संदर्भ में इन तथ्यों को आज याद करना पहले से भी अधिक प्रासंगिक है। आज संस्कृति की दुनिया में अंग्रेज़ी पहले से कहीं ज़्यादा हावी है। सांस्कृतिक संस्थाओं पर भी। ऐसी स्थिति में यह चुनौती बन रही है कि हिन्दी फिर इस क्षेत्र में गम्भीर काम करने के लिए—लगातार करने के लिए—बल और वातावरण अर्जित करे। हो यह रहा है कि हिंदी में विभिन्न क्षेत्रों में मौलिक और गम्भीर काम करने के लिए लोगों को लगातार हतोत्साहित होना पड़ रहा है। दुर्भाग्य से आज उत्तर भारत के हिंदी-भाषी समाज में अपनी ही भाषा को प्रति एक उचाटपन है।

ऐसी स्थिति में भारतेंदु से लेकर वात्स्यायन जी तक की 'बहुवचनी' परम्परा का स्मरण ज़रूरी तो है ही, उसे आगे बढ़ाने की भी ज़रूरत है।

ज़ाहिर है कि हर युग और दौर की अपनी ज़रूरतें अलग भी होती हैं पर उस उत्कट बेचैनी और उस खटने की स्मृति तो बड़े काम की है ही जो भारतेंदु, निराला, प्रसाद और अज्ञेय में थी।

18. एक व्यक्ति : एक युग
शिवप्रसाद सिंह

प्रेमचन्द हिंदी में सिर्फ़ एक व्यक्ति का नाम नहीं है, बल्कि यह एक पूरे युग का अभिधान हो गया है। उनका कथा-साहित्य हमारे समाज के एक युग का दर्पण है। इसी को लक्ष्य करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, 'अगर कोई उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, सुख-दुःख और सूझ-बूझ को जानना चाहें तो प्रेमचन्द से अधिक उत्तम परिचायक इस युग में नहीं पा सकेगा। इसे इससे अधिक सच्चाई के साथ दिखा सकने वाले परिदर्शक को हिंदी और उर्दू की दुनिया नहीं जानती।'

वस्तुतः प्रेमचन्द का युग परस्पर विरोधी अनेकानेक भाव-धाराओं से क्रमित था। भारतीय पुनर्जागरण के वे वाक्-वाहक थे। कथा-साहित्य, किसी भी युग की जाग्रत विकासशील चिन्तनधारा और सामान्य जन-जीवन के बीच एक भावकल्प-सेतु का काम करता है। प्रेमचन्द इस सेतु के निर्माता थे और उसके यान्त्रिक भी। इसी कारण उनके साहित्य में समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, मानववाद और व्यक्ति-मर्यादा आदि अनेक भावों का अद्‌भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर इन नयी परिस्थितियों से उत्पन्न परिवर्तनों को वे खुद जीते और भोगते दिखाई पड़ते हैं। अनमेल विवाह, ग़रीबी, तंगदस्ती, विदेशी शासन के अत्याचार, टूटते हुए परिवारों की कसक और पीड़ा, विधवा-विवाह, जमींदार, कारिन्दा और पटवारी के हथकंडे, शोषण, तत्कालीन शासन की चापलूसी और व्यक्ति-सम्मान के विकेन्द्रीकरण के प्रश्न, जो उनके कथा-साहित्य के विषय बने, किसी-न-किसी रूप में उनके व्यक्तिगत जीवन से भी सम्बद्ध रहे। उन्होंने इन प्रश्नों की सारी भयावह और कष्टदायक पीड़ा को स्वयं झेला। उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व उनके चरित्रों में पूर्णतः निक्षिप्त दिखाई पड़ता है।

ऐसे व्यक्ति की जीवनी स्वयं में जितनी भी महत्वपूर्ण हो, सरल नहीं हो सकती। प्रेमचन्द ने अपने जीवन के विषय में लिखा है– 'मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, इसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं; पर टीलों, पर्वतों, घने-जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान

नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौक़ीन हैं, उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।' प्रेमचन्द का यह 'सपाट' जीवन किसी भी चित्रकार के लिए चुनौती हो सकता है, क्योंकि यह एक ऐसा 'लैण्डस्केप' है जिसमें प्रकृति अपनी वदान्यता से चित्रकार को सहायता न पहुँचाकर उसे हतोत्साहित ही करती दिखाई पड़ती है।

इस ज़मीन और खमीर की चुनौती को स्वीकार करने के लिए कई प्रकार की अर्हताएँ चाहिए– 1. व्यक्ति का ज्ञान, 2. सामग्री और उसके आधार पर चरित्र को पुनः निर्मित कर सकने की क्षमता, 3. तत्कालीन युग की मूल प्रवृत्ति से वाकफ़ियत और व्यक्ति को उसकी व्यापक सीमाओं से जोड़ सकने की कुशलता।

अमृतराय ने इस सपाट 'लैण्डस्केप' की चुनौती स्वीकार की और उन्होंने प्रेमचन्द की जीवनी को अपनी पूरी योग्यता के साथ एक जीवन्त 'डाकुमेण्ट' बना दिया, यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

जीवनी साहित्य– 'दि रिनेसाँ' की देन माना जाता है। राजपुरुषों की ऐतिहासिक अथवा धर्म-प्रचारकों की सांस्कृतिक जीवनियाँ पहले भी लिखी जाती रही हैं, किन्तु ये या तो युद्धों का इतिहास बन गयीं या धर्मग्रन्थों की प्रचारिकाएँ जिसे शिप्ले ने Biographic a the' se कहा है। व्यक्ति के व्यक्तित्व पर ज़ोर देनेवाली जीवनियाँ तो रिनेसाँ की ही देन हैं। और फिर प्रेमचन्द का जीवन तो भारतीय रिनेसाँ की एक जीवित तसवीर ही है, उनका पूरा जीवन ही इस रिनेसाँ का परिणाम है।

जहाँ तक व्यक्ति को जानने का प्रश्न है, अमृतराय की योग्यता स्वतःसिद्ध है। उन्होंने प्रेमचंद के जीवन को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। प्रेमचन्द के संबंध में जीवनी, संस्मरण, चिट्ठी-पत्री, नज़दीकी लोगों की साखी, गवाहियाँ, यह सब कुछ इस विशाल इमारत के लिए ईंट-पत्थर का काम करते हैं। लेखक का कौशल इस बात में है कि उसने इस पूरी सामग्री की छानबीन की और उसे इस प्रकार सजा-सँवार कर उपस्थित किया कि प्रेमचन्द का जीवन–जन्म से मृत्यु पर्यन्त का जीवन–धीरे-धीरे खुलता चला जाये। अमृतराय ने निःसन्देह यह सब एक बड़ी आत्मीयता और महान् कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर किया है; किन्तु इसी के साथ ख़तरा, एक प्रत्यवाय भी चिपका हुआ था। नज़दीकी व्यक्ति प्रायः ही इस ख़तरे के शिकार हो जाते हैं। यह ख़तरा है अतिमूल्ययन का। यह दुहरा होता है। एक तो निकटता के कारण जीवनीकार व्यक्ति को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित करता है, दूसरे उसकी त्रुटियों और कमज़ोरियों को तोप-ढाँककर उपस्थित करता है यदि ऐसा न कर सके तो उन्हे दार्शनिक जामा पहनाकर बड़ी बात का रूप देने की कोशिश करता है। यह दोहरा ख़तरा अमृतराय के भी सामने था। परन्तु वे इससे काफ़ी हद तक बचने में सफल हुए हैं।

अमृतराय इससे पूरी तरह बच सकें हैं, यह कहना तो शायद ठीक न होगा; पर इससे वे बचे रहे। इसलिए उन्होंने शायद आवश्यकता से अधिक तटस्थता की एक आंतरिक चेतना को सब जगह प्रधानता दी है। इसी कारण जब वे प्रेमचन्द की ऐसी प्रवृत्तियों का चित्रण करते हैं जो स्वयं में अच्छी और महान् हैं, किन्तु व्यवहार में उन्हें कमज़ोर या असफल सिद्ध करती हैं, तो एक हलके-से व्यंग्य का पुट अपने-आप आ जाता है। यह जीवनीकार और वर्ण्य व्यक्ति के बीच की तटस्थता को समाप्त कर देता है। उदाहरण के लिए कृष्णकुमार मुखोपाध्याय का प्रसंग। इस प्रसंग में प्रेमचन्द की कोई ग़लती थी तो सिर्फ़ यही कि "वे आँखें बिछाये बैठे रहते हैं कि कब कोई प्रतिभावान् दिखाई पड़े और वे उसका स्वागत करें।" बहरहाल इस बार का स्वागत उनके लिए बहुत महँगा पड़ा। "तब यह बात खुली कि यह सब मुन्शीजी के 'नये बेटे' की करतूत थी और मुन्शीजी थे कि झेंप के मारे उनकी आँखें बीवी के सामने न उठती थीं। 'नये बेटे' का यह व्यंग्य एक ऐसी तटस्थता का सूचक है जिसमें अनजाने ही 'पुराने या असली बेटे' का वाजिब आक्रोश भी थोड़ा-सा घुला-मिला लगता है, यह सही है कि ऐसा शायद इसलिए होता है कि पाठकों को अमृत और प्रेमचन्द का रिश्ता पहले से मालूम है। ऐसा इस जीवनी में अनेकशः हुआ है। जब लेखक एक आदर और प्यार-मिश्रित भाव से प्रेमचन्द पर फ़बतियाँ कसने में नहीं चूकता।

इस जीवनी की सबसे करारी मुहिम शायद प्रेमचन्द का प्रथम पत्नी से संबंध-विच्छेद की है। जीवनीकार सर्वत्र प्रेमचंद को पक्का गृहस्थ, किसान मानता है। पूरी जीवनी में प्रेमचन्द को रूढ़ियों से निरंतर जूझनेवाला संघर्षरत प्राणी कहा गया है। वे एक प्रबल सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। प्रथम पत्नी का त्याग इनके इन सभी रूपों के सामने प्रश्न–चिह्न लगा देता है। यह न तो सामान्यतः किसान करता है, न गृहस्थ और न तो सुधारक। जीवनीकार लिखता है– "विदाई हुई। और नवाब (!) अपनी शीरीं, अपनी लैला को ऊँटगाड़ी पर बिठाकर [हाँ, ऊँटगाड़ी ! नियति कभी अधूरा व्यंग्य नहीं करती !] अपने घर ले चला। × × देखते ही शकल से नफ़रत हो गयी, भद्दी, थुलथुल, फूहड़। इतना ही नहीं 'उनके' चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे दाग थे और एक टाँग कुछ छोटी थी, जिसके कारण ग़रीब को कुछ भचककर चलना पड़ता था। महीने मे एकाध बार हबुआती भी ज़रूर थीं, जब इन पर भूत-प्रेत आते थे। सुनते हैं दिमाग़ में कुछ ख़लल भी था। क्योंकि लड़ाई होने पर अपने पति से कहतीं थीं–हम तुम्हें गदहा छानने के पगहे में बँधवाकर मँगा लेंगे। ऐसे-ऐसे जादू-टोने हैं हमारे पास।"

इस चित्र में, जिसे जीवनीकार 'औरत का कार्टून' कहता है, एक साथ ऐबों की इतनी बड़ी तालिका सामने आती है कि सहसा सन्देह हो जाता है कि क्या सच इतनी-इतनी 'खूबियाँ' उस औरत में एक साथ इकट्ठा हो गयी थीं। प्रमाणों के बिना एक क़दम आगे

न चलने वाला लेखक यहाँ अपने 'सुनते हैं' पर भरोसा कर लेता है। बहरहाल यह प्रसंग प्रेमचन्द के जीवन का सबसे कमज़ोर अंश है और इस जीवनी के बाद भी वह अपनी जगह पर ही वर्तमान है। कमज़ोर यह इसलिए नहीं है कि एक लेखक के जीवन की घटना है बल्कि इसलिए कि यह पूरी घटना प्रेमचन्द के व्यक्तित्व से मेल नहीं खाती। इसलिए हमें इसे उनकी विवशता ही मान लेनी चाहिए जैसा कि लेखक ने लिखा है, "अगर यह बात सच भी हो कि स्त्री जानकी मैया के समान ही निर्दोष थी तो भी शायद इस मामले में प्रेमचन्द को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो, क्योंकि यह प्रसंग केवल दुःखकर है।"

इस जीवनी का दूसरा पक्ष है व्यक्ति को तत्कालीन परिवेश के साथ सही ढंग से जोड़ने और प्रतिष्ठित करने का। अमृतराय को यहाँ भी स्पृहणीय सफलता मिली है। उन्होंने भारतीय पुनर्जागरण के प्रत्येक पहलू का विशद परिचय इस एकाग्रता के साथ दिया है कि उससे प्रेमचन्द के जीवन के उस पहलू को चमकाया जा सके। राजनीतिक आन्दोलनों के चित्रण और उद्धरण कई स्थानों पर आवश्यकता से अधिक विस्तृत और भारी प्रतीत होते हैं। सुधारवादी, आदर्शवादी प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियाँ 'कफ़न', 'पूस की रात' आदि गहन निराशा में समाप्त होती हैं। 'गोदान' के होरी में भी यह निराशा किसी-न-किसी रूप में झलक जाती है। ये प्रश्न प्रेमचन्द के हर पाठक को परेशान करते हैं। ऐसा क्यों हुआ? जीवनी के अट्ठाईसवें प्रकरण में राष्ट्रीय आंदोलनों की विफलता और प्रेमचन्द की निजी स्थिति की विषमता का जो चित्रण किया गया है वह इस 'क्यों' का उत्तर भलीभाँति दे देता है। दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।

चुनार में खेल के मैदान में गोरे सैनिकों से लड़ाई और गोरखपुर में कलक्टर या इन्स्पेक्टर के साथ उनकी मुठभेड़ के दो किस्सों को छोड़कर उनके जीवन में उग्रमतवाद का प्रभाव ढूँढ़ना उचित नहीं मालूम होता। किसान स्वभाव से ही समझौतावादी होता है, और गान्धीवादी का तो वह फ़लसफ़ा है ही। तिलक का प्रभाव रहा होगा, क्रान्तिकारियों से सहानुभूति थी, पर वे मूलतः गोखले और गान्धी के शान्ति-पथ के ही पथिक थे। वे क़लम के सिपाही थे; पर सत्याग्रही कोटि के, हिंसक कोटि के नहीं।

जीवन की सामग्री के रूप में प्रेमचन्द की कहानियों का भी बहुत बार इस्तेमाल हुआ है। 'दफ़तरी' जैसी कुछ कहानियों में जहाँ प्रेमचन्द की दृष्टि से तख़य्युल का बहुत कम दख़ल है, भले ही जीवन संबंधी कुछ सूत्र हाथ आ जायें। वैसे अमूमन उनकी कहानियों के भीतर उनकी जीवन-चर्या ढूँढ़ना उनके साथ अन्याय करना कहा जायेगा। यह सही है कि परिवेश, चरित्र आदि के चित्रण में लेखक के अनुभव और दृष्टिकोण की पूरी छाप होती है; पर उसे जीवन मान लेना कथा-साहित्य में 'तख़य्युल' के उचित अधिकार में हस्तक्षेप करना कहा जायेगा। इसमें एक दूसरी तरह की भी लाभ-हानि दिखाई पड़ती है।

अनेक अवसरों पर उनकी कहानियों या उपन्यासों को चरित्र या घटनाओं के उनके जीवन की असली घटनाओं या चरित्रों से जोड़ देने के कारण एक नये अर्थ की सृष्टि हुई है। यह अर्थ कभी ज़्यादा सुन्दर तो कभी ज़्यादा बदतर भी हो सकता है। साहित्य को तटस्थ साहित्य के रूप में पढ़नेवाले पाठक के मन में उत्पन्न सांकेतिक रूप-सौन्दर्य या अर्थ कभी-कभी क्षतिग्रस्त भी हो सकता है।

जो भी हो, प्रेमचन्द की यह जीवनी प्रेमचन्द के पूरे व्यक्तित्व और साहित्य को एक व्यापक जीवन्त पृष्ठभूमि प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कहीं ज़्यादा स्थूल, स्पष्ट, धूल-माटी से लिपटा, संघर्षरत, रोज़मर्रा की समस्याओं से जूझता, गिरता-उठता हमारे सामने खड़ा हो गया है। यह जीवनी एक प्रकार से हिंदी के आधुनिक युग के आरंभ का ज्ञान-कोश बन गयी है। इसके माध्यम से अनेक समस्याएँ–राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, जो हमारे देश के इतिहास का अंग बन गयी है, नये सिरे से एक व्यक्ति का संदर्भ बनकर उठी हैं और ये 'प्रेमचन्द व्यक्ति' को समझने में सहायक हुई हैं। इनसे हमारे साहित्य पर एक नया प्रकाश पड़ा है।

अमृत ने इसे कथा की शैली में लिखा है, इसे वे एक परिचित व्यक्ति पर आधारित उपन्यास कहना चाहते हैं। उन्हें अफ़सोस है, "घटना-प्रसंगों का आविष्कार करने की मुझे छूट नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से मैं अच्छी तरह खूँटे से बँधा हुआ हूँ लेकिन मुझे उसकी शिकायत नहीं है।" वस्तुतः प्राप्त सामग्री के आधार पर अमृत ने प्रेमचन्द को पुनर्निर्मित नहीं तो पुनः अन्वेषित अवश्य किया है। वे अपने चरित्र के साथ इतने तन्मय हो रहे हैं कि उनका चित्रण जीवन से स्पन्दित और अनुभूतियों से अनुप्राणित दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द के बचपन को तो जैसे उन्होंने 'अशिथिल' समाधि की अवस्था में पहुँचकर लिखा है, हिंदी में बचपन का इतना सुन्दर, मार्मिक, भावपूर्ण वर्णन कम ही दिखाई पड़ता है।

'कलम का सिपाही' अमृतराय की प्रशंसनीय कथोपलब्धि मानी जायगी। यह अद्‌भुत क़िस्सागोई और षट्‌रस ज़ुबान किसी को भी एक बार अपनी लपेट में ले लेगी, इसमें तनिक सन्देह नहीं। हिंदी भाषा की शुद्धता के प्रेमी शायद भाषा से नाक-भौ सिकोड़ें; पर भाषा की जीवनी-शक्ति से जो परिचित हैं, वे इसकी प्रशंसा ही करेंगे और अमृत को हार्दिक बधाई देने में कभी संकोच का अनुभव न करेंगे।

19. राहुल का हिमालय-प्रेम
गुणाकर मुले

सन् 1951 की गर्मियों की बात है। सहारनपुर के पं. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' मसूरी पहुंचकर राहुलजी के 'हर्न क्लिफ' निवास के नज़दीक के 'हर्न हिल' बंगले में टिके। दोनों 1938 ई. से एक-दूसरे से परिचित थे। शाम को टहलने निकलते, तो प्रभाकरजी राहुलजी से उनके जीवन की कई तरह की बातें पूछते चलते। एक दिन राहुलजी अपने घुमक्कड़ी के जीवन के कुछ रोचक संस्मरण सुना रहे थे, तो प्रभाकरजी ने उन्हें बीच में ही टोका, और पूछा - 'आप खूब घूमे हैं और आपने संसार के अनेक सौंदय-केंद्र देखे हैं। आपको संसार में सबसे सुंदर क्या लगता है?'[1]

राहुलजी का उत्तर था – 'हिम (बर्फ) मुझे सुंदर लगता है। हिम पड़ा हो, दूर तक हिम ही हिम और बीच-बीच में कहीं-कहीं कुछ और, बस बहुत सुंदर है।'

प्रभाकरजी ने आगे पूछा –'और दूसरे नंबर पर?' तो बोले –'देवदारु बहुत सुंदर लगता है।'

सचमुच ही, देवदारु और हिमपात का नज़ारा राहुलजी को बेहद पसंद था । उनके उद्‌गार भी हैं : 'पड़ती हुई बर्फ का दृश्य बड़ा मोहक मालूम होता है....। हिमराशि और हिमपात बड़े सौंदर्य की वस्तु हैं....। देखने में नयनाभिराम हिमराशि की श्वेतिमा मन को मोहक मालूम होती है।'[2]

जनवरी 1957 के आरंभ में मसूरी में बर्फ पड़ी, तो राहुलजी उसका वर्णन करते हैं : 'ज़मीन पर दो फुट बर्फ पड़ी हुई थी, मानो छोटे दाने वाली चीनी बिछी हुई हो। ... देवदार दिन के 9 बजे तक भी हिमयुक्त नहीं हुआ था। उसकी सुई-जैसी पत्तियाँ अपने स्वाभाविक रंग को छोड़कर रुपहली बन गई थीं और पत्ती सहित डालियाँ हाथ के पंजे की तरह बर्फ के लौंदों से ढ़की विचित्र-सी मालूम होती थीं। ... ऊपर वाली पहाड़ी पर जो सीधे खड़े हरे-हरे शिखरदार देवदार दिखाई पड़ते थे वे सब सिर से पैर तक बर्फ से ढके कुछ दूसरे ही वृक्ष मालूम होते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि खंभों के सहारे विकराल मक्के की बालें लटकाई गई हैं। या पृथ्वी से स्वर्ग के रुपहले देवदारु निकले हुए हैं ..!'[3]

तिब्बत की अपनी अत्यंत कष्टप्रद चार यात्राओं में प्रकृति की जिस एक चीज़ ने राहुलजी को सबसे ज्यादा सुख पहुँचाया, उन्हें स्फूर्ति प्रदान की, वह थी देवदारु वृक्षों की हरीतिमा। देवदारु वृक्षों के बीच पहुंचकर वे पीछे की अपनी यात्रा के सारे कष्ट भूल जाते थे। अपनी पहली तिब्बत-यात्रा (1929 ई.) में वे छद्मवेश में नेपाल के सीमांत इलाको के एल्मो गाँव की ओर जा रहे थे। नए बूट ने काट खाया था, चलना बहुत मुश्किल हो रहा था, ज्यादा चढ़ाई आने पर एक हट्टे-कट्टे आदमी की पीठ पर चढ़कर किसी तरह आगे बढ़ रहे थे। लिखते हैं : "एल्मो गाँव अभी कुछ दूर रह गया था, तभी से देवदारु वृक्षों का अनुपम हरित सौंदर्य दिखलाई देने लगा। अब यहाँ काठमांडो की तरह गरमी नहीं थी। ऊपर से यह स्वर्गीय हरीतिमा हमारी आंखों को अपने कोमल मधुर स्पर्श से आप्लावित कर रही थी। मुझे बहुत खुशी हुई इस सुंदर दृश्य को देखकर ...।"[4]

राहुलजी तीसरी तिब्बत-यात्रा (1936 ई.) से लाछेन-गंतोक (सिक्किम) के रास्ते भारत लौट रहे थे, अकेले ही। लाछेन-जोत पार करके नीचे उतरने पर आगे बढ़े, तो "चार बजे से नंगे पहाड़ों की जगह झाड़ी वाले पहाड़ आने लगे, फिर देवदार आ गए, और बीस मील तक अब पहाड़ों पर देवदार ही छाए हुए थे ...... साढ़े चार महीने बाद तरसती आँखों को फिर वृक्षों से आच्छादित पर्वत देखने को मिले, और यह थे देवदार के सुंदरतम वृक्ष।"[5]

देवदार कहीं भी क्यों न हो, उन्हें बेहद आकर्षित करता था। 1935 ई. में भिक्षु राहुल जापान गए थे और वहाँ नित्ता में करीब डेढ़ महीने ब्योदो महाशय के घर में रहे थे। बताते हैं : "मंदिर और घर के हाते में एक छोटा-सा बाग , जिसमें देवदार के भी कुछ वृक्ष थे। ... देवदार के सौदर्य पर वह (जापानी) मुग्ध हैं और हिमालय के देवदार को तो सौंदर्य-शिखामणि मानते हैं। हिमालय से देवदार यहाँ लाए गए हैं और उसके आठ-आठ दस-दस हाथ के पौदे बिकते दिखाई पड़ते हैं। नित्ता छोड़ने से पहले ब्योदोसान् (ब्योदोजी) का आग्रह हुआ, कि मैं अपनी स्मृति के लिए किए हिमालयीय देवदार को मंदिर के सामने लगा जाऊँ। स्मृति पर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दस पीढ़ियों के लिए एक सुंदर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज़ हैं।"[6]

अप्रैल 1949 में राहुलजी कालिंपोड्. में रहने गए। तब तक उनका कहीं कोई निजी मकान नहीं था, न ही वे 'नई गृहस्थी' के चक्कर में फंसे थे, हालाँकि उसके लिए अब ज्यादा देर नहीं थी। मगर मुख्यतः अपने तिब्बती अनुसंधान-कार्य के ख्याल से वे, अपने अकेले के लिए ही,एक स्थायी निवास की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। इसके लिए भी उन्हें हिमालय की वही भूमि पसंद थी जहाँ देवदार हों। लिखते हैं : "स्थायी निवास बनाने के ख्याल ने एक बार सिक्किम के अंतिम गाँव लाछेन् की ओर भी मन खींचा। तिब्बत से लौटते वक्त दो बार मैं इस गाँव से गुजरा था। इधर सेबों के लिए वह कोटगढ़

और कुल्लू बन गया है। एक फिनिश मिशनरी महिला ने इस शताब्दी के आरंभ में वहाँ अपना अड्डा जमाया। सोचा, और निशनरियों की तरह शायद वह भी अपने बंगले को बेचे, उसे ही क्यों न ले लिया जाए। न बेचे, तब भी देवदारों की सुंदर छाया में सोई इस भूमि में मकान बनाने के लिए जगह मिल सकती है।"[7]

राहुलजी हिमालय के सौंदर्य पर मुग्ध थे। उन्होंने लिखा भी है : "हिमालय के साथ पर्यटक के तौर पर मेरा घनिष्ट संबंध है, मैं नगाधिराज का परम भक्त हूँ।"[8]

मगर राहुलजी दूसरे बहुतों की तरह नगाधिराज के केवल भक्त ही नहीं थे। हिमालय से उनका सरोकार सिर्फ स्वान्तः सुखाय नहीं था। उन्होंने हिमालय के विभिन्न खंडों के बारे में और हिमालय की अपनी विविध यात्राओं के बारे में जितना अधिक लिखा है, उतना शायद अन्य किसी पर्यटक ने आज तक नहीं लिखा। सन् 1949 ई. तक राहुलजी अपनी कुछ हिमालय-यात्राओं के विवरण लिख चुके थे, परंतु हिमालय-परिचय की पुस्तकें लिखने का निश्चय उन्होंने 'दोर्जेलिङ -परिचय' लिखने के बाद किया। 'दोर्जेलिङ-परिचय' (1949-50) के बाद उन्होंने 'हिमालय-परिचय' की क्रमशः पुस्तकें लिखीं – कुमाऊँ (1950), गढ़वाल (1950-52), नेपाल (1952-53), जौनसार-देहरादून (1953) और हिमाचल प्रदेश (1954)।

किस अंतःप्रेरणा और प्रयोजन से राहुलजी ने 'हिमालय परिचय' प्रस्तुत करने का यह इतना विराट कार्य हाथ मे लिया? स्वयं बताते हैं : "सारे हिमालय का मुझ पर ऋण था। मैं वर्षों हिमालय की शीतल छाया और शीतल जल का आनंद लेता आया था। उसके पर्वतों, उपत्यकाओं, हिमानियों और सीधे-सादे लोगों से आत्मीत्या पैदा की, उनसे परिचय प्राप्त किया। यात्रा करते वक्त मेरा हमेशा ध्यान रहा कि वह केवल स्वान्तः सुखाय नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसके आनंद में दूसरों को भी सहभागी बनाना चाहिए। इसीलिए मैंने अपनी हरेक यात्रा के विवरण लिखे। अब हिमालय कह रहा था, हमारे ऋण से भी तुम्हें उऋण होना चाहिए। इसीलिए मैंने निश्चय किया, दार्जिलिङ के बारे में लिखना चाहिए। कालिंपोंग में ही मैंने 'दोर्जेलिङ -परिचय' लिखना शुरू कर दिया और सामग्री उसी समय जमा कर ली। 'दोर्जेलिङ -परिचय' के बाद फिर नैनीताल में रहते 'कुमाऊं' में हाथ लगाया। मसूरी में आने पर गढ़भूमि (गढ़वाल) का आग्रह हुआ, और उसे भी लिखा। फिर नेपाल कहने लगा, मुझे क्यों बीच में छोड़ रहे हो। उसे भी लिखा डाला, और अंत में 'देहरादून-जौनसार' और 'हिमाचल प्रदेश' लिखकर भूटान की पश्चिमी सीमा से जम्मू-कश्मीर की पूर्वी सीमा तक फैले हिमालय के बारे में लिखकर मैंने अपने को उऋण करना चाहा।"[9]

राहुल का हिमालय प्रेम

हिमालय के प्रति राहुलजी का इतना अधिक लगाव पहली बार कब और किस तरह हुआ? पन्दहा-कनैला (आजमगढ़) की भूमि में पहाड़ तो क्या, पहाड़ियाँ भी कहीं नहीं हैं। केदारनाथ (राहुलजी का बचपन का नाम) ने पहाड़ियों के भी पहली बार दर्शन 1902 ई. में तब किए जब वह नौ साल का था। उस साल अप्रैल में उसका जनेऊ हुआ, कनैला या पन्दहा में नहीं, बल्कि विंध्याचल में। वह अपने चचा प्रताप पांडे के साथ बनारस-मुगलसराय होते हुए विंध्याचल पहुंचा था। तभी केदार ने पहली बार पहाड़ियाँ देखीं।

केदारनाथ ने पहली बार पहाड़ की – गढ़वाल-हिमालय की – यात्रा 1910 ई. में की, जब वे 17 साल के थे। प्रेरणा-स्रोत थे कनैला के नजदीक के एक आश्रमवासी बाबा हरिकरणदास। "हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहले बदरीनाथ हो आए थे। वैराग्य और अरण्यवास की बात रोज चलती ही थी। एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथ-यात्रा का वर्णन किया। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-हरे देवदार, सफेद-सफेद बर्फ, ठंडे पानी के चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही, क्योंकि वे मेरी पर्यटन की सतत उपस्थित लालसा को जगाते थे; ... आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबा से उत्तराखंड की ओर जाने का अपना इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया ...।" [10]

केदार बिना पैसे-धेले के पैदल ही हरिद्वार की ओर चल पड़े। उन पर अब वैराग्य का भूत सवार था; हर समय जबान पर रहता था वह श्लोकांश : का चिंता मम जीवने यदि हरिर्विश्वंभरो गीयते। हरिद्वार में संस्कृत की पढ़ाई की व्यवस्था नहीं हुई, तो ऋषिकेश से आगे बढ़कर देवप्रयाग, टेहरी, जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, जोशीमठ और बदरीनाथ आदि की यात्रा की। यात्रा में कई बाबाओं-साधुओं का सत्संग रहा। इस यात्रा के बाद राहुलजी काशी लौटे, और वहां संस्कृत की पढ़ाई में जुट गए।

सन् 1910 में, सत्रह साल की आयु में, राहुलजी की यह पहली हिमालय-यात्रा थी। इस पहली यात्रा में ही हिमालय ने उन्हें मोह लिया। बताते भी हैं : 'हिमालय किसको अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता? मेरा तो उसके प्रति आकर्षण 1910 ई. से ही हुआ ....।' [11]

राहुलजी की अगली हिमालय-यात्रा (नेपाल-यात्रा) काफी अंतराल के बाद हुई, 1923 ई. में। उसके पहले देश के दो अत्यंत रमणीय पर्वत-स्थलों – कर्वी (चित्रकूट) और कुर्ग (कर्नाटक) में निवास करने का उन्हें अवसर मिला था, मगर हिमालय के स्थलों से इनकी कोई तुलना नहीं थी। लिखते भी हैं : "मैं कई बार चित्रकूट-पर्वत की परिक्रमा करने गया। ... वाल्मीकि काल के एक ऐतिहासिक स्थान के तौर पर अभी उसके प्रति सम्मान नहीं पैदा हुआ था, किंतु प्रकृति देवी की एक विचित्रता का आकर्षण जरूर था, यद्यपि हिमालय के दर्शन के कारण वह परिमित सीमा ही तक हो सकता था।"

राहुलजी 1921 ई. में करीब चार महीने कुर्ग में रहे थे। कुर्ग और हिमालय के प्रकृति-सौंदर्य की तुलना करते हुए लिखते हैं : "वैसे तो सारा कुर्ग पार्वत्यदृश्यों से भरा है, किंतु ... कावेरी-स्रोत दर्शनीय स्थान है। ... कावेरी-स्रोत कुर्ग का सबसे ऊंचा पहाड़ नहीं है, तो भी वह ऊंचे पर्वतों में है। लेकिन, हिमालय की नदियों के स्रोतों की बहार यहाँ कहाँ? हिमालय की सनातन श्वेत हिमानियाँ शुरू ही में उन्हें पिघली रौप्यधार प्रदान करती है, और यहां नदियों के उद्गम हैं, जहाँ-तहा के झरने और कुंड। हरे-हरे जंगलों और विशाल वृक्षों से आच्छादित होने पर भी सदा हरित वृक्षराज देवदार के अभाव में ये पहाड़ नगाधिराज हिमालय का मुकाबिला नहीं कर सकते।" [13]

राहुलजी की दूसरी हिमालय यात्रा – प्रथम नेपाल-यात्रा – मार्च-अप्रैल 1923 में हुई। उन दिनों वे बिहार के छपरा जिले में सामाजिक-राजनीतिक कार्य कर रहे थे – बाबा रामोदारदास के नाम से। गर्मियाँ आने लगीं, तो चल पड़े नेपाल की यात्रा पर, शिवरात्रि के दिनों में। रक्सौल से काठमांडू पैदल गए, पैदल ही लौटे। काठमांडू-उपत्यका में करीब डेढ़ महीना रहकर ऐतिहासिक-धार्मिक महत्व के कई स्थान देखे, राजगुरु पं. हेमराज शर्मा से भी मिले। राहुलजी ने अपनी यह पहली नेपाल-यात्रा एक बैरागी साधु के रूप में की थी।

लेकिन 1926 ई. में अगली हिमालय-यात्रा – लद्दाख और कनौर की यात्रा – उन्होंने एक आर्यसमाजी के रूप में की, गेरुआ लुंगी और चद्दर में रहकर। उन दिनों राहुलजी बड़ी दुविधा की स्थिति में थे : बिहार में वे वैष्णव साधु रामोदारदास थे, तो पंजाब की तरफ आर्य समाजी प्रचारक। इस हिमालय-यात्रा में उन्हें आर्यसमाजियों से बड़ी मदद मिली। खैबर दर्रे में लंडीकोतल तक गए। फिर श्रीनगर पहुंचकर लदाख, हेमिस की यात्रा की। चीनी तुर्किस्तान जाने की बड़ी इच्छा थी, परंतु पासपोर्ट मिलने की कोई आशा नहीं थी। फिर साढ़े-पांच हजार मीटर ऊंची खर्दोड़.ला (जोत)' को पार करके सुरम्य नुब्रा घाटी में पहुंच गए थे। आगे लेह-लदाख की यात्रा के बाद सिंधु के तट पर पहुंचे, तो वहाँ के एक नजारे ने राहुलजी को सदा के लिए मोह लिया। वह नजारा था : कुछ स्त्री-पुरुष अपने भेड़ों की पीठ पर नमक व अन्य सामान लादे जा रहे थे। उनके साथ एक-दो गदहे भी थे, जिन पर तंबू, चाय मथने का फोंका (चा-दुड़.) और दूसरा सामान लदा हुआ था। राहुलजी लिखते हैं :

'उस वक्त मेरे दिल में एक जबरदस्त लालसा पैदा हुई। क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता। जहाँ मन आता, वहाँ तंबू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीज़ों की रखवाली करते। तरुणी चाय

बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य-उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वंद्व विचित्र-सा जीवन बिताते। ... इस प्रकार कभी लदाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में टशील्हुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् हमारे पैरों के नीचे रहता ...।" [14]

राहुलजी को अपनी किसी भी यात्रा में गए रास्ते से वापस लौटना पसंद नहीं था। वे कनौर (रामपुर-बुशहर) के रास्ते शिमला वापस लौटे। लदाख-हिमालय की यह यात्रा राहुलजी की आगे की यात्राओं के लिए बहुत बड़ा प्रेरणा-स्रोत बनी। उन्हें बौद्ध धर्म और संस्कृति को निकट से जानने का मौका मिला। कनौर की भूमि से उन्हें विशेष लगाव हो गया। राहुलजी ने 1929 ई. में छद्मवेश मे पहली बार तिब्बत की यात्रा की थी, तो उनका छद्मनाम था – खुन्नू छेवङ. (कनौर का छेवङ्.), संक्षेप में, खुनूपा (कनौरवाला)। तिब्बत के कुछ गाँवों में उन्हें कुछ लोगों ने लदापा (लदाखवाला) समझा, तो आगे वे अपने को लदापा बताने लगे थे।

राहुलजी की पहली यात्रा-पुस्तक भी इस लदाख-यात्रा के बारे में ही है। अपनी इस लदाख-यात्रा के बारे में राहुलजी ने उसी समय कई लेख प्रकाशनार्थ भेजे थे। बताते हैं : "खर्दोङ्. की चढ़ाई और आगे की यात्रा का मैंने एक बड़ा सुंदर वर्णन लिखा था, जिसे सुनकर राजेंद्र बाबू इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने मेरी लदाख-यात्रा संबंधी लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बनारस के अपने एक मित्र को पत्र लिख डाला।" [15]

लदाख-यात्रा के बाद राहुलजी की अगली हिमालय-यात्रा थी – पहली तिब्बत-यात्रा (1929-30 ई.)। श्रीलंका के विद्यालंकार विहार में करीब 19 महीने (1927-28 ई.) रहे, अध्यापन-कार्य किया, साथ ही पालि बौद्ध साहित्य का गहन अध्ययन किया, 'त्रिपिटकाचार्य' हुए। अधिकतर संस्कृत बौद्ध साहित्य भारत से लुप्त था, परंतु तिब्बती व चीनी अनुवादों में उपलब्ध था। उस बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए राहुलजी ने तिब्बत जाने का निर्णय किया और भारत के बौद्ध स्थलों की यात्रा करके 1929 की शिवरात्रि को काठमांडू पहुंच गए। यह उनकी दूसरी नेपाल-यात्रा थी।

आगे छद्मनाम और छद्मवेश धारण करके राहुलजी ने किस तरह नेपाल-तिब्बत सीमा को पार किया और फिर किस तरह अपार कष्ट झेलते हुए वे ल्हासा पहुँचे, इसका रोमांचकारी विवरण पाठक उनकी पुस्तक 'तिब्बत में सवा वर्ष' या 'मेरी जीवन-यात्रा', भाग-2 में ही पढ़ें, तो उपयुक्त होगा। राहुलजी तीन सरकारों – ब्रिटिश, नेपाल और तिब्बत – की आँखों में धूल झोंककर ल्हासा पहुंचने में सफल हुए। रास्ता कठिन था, खतरनाक भी, मगर अपरिचित नही था, जैसा कि कई लोग समझते हैं। राहुलजी ने भी लिखा है : "यह नेपाल से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता है। फरी-कालिंपोङ्. का रास्ता जब नहीं खुला था, तो नेपाल ही नहीं, हिंदुस्तान की भी चीजें इसी रास्ते तिब्बत जाया करती

थीं। यह व्यापारिक ही नहीं, सैनिक रास्ता भी था, इसलिए जगह-जगह फौजी चौकियाँ और किले बने हुए हैं।"[16] नालंदा के आचार्य शांतरक्षित (750 ई.), उनके शिष्य कमलशील और बाद के कई भारतीय पंडित इसी रास्ते से तिब्बत गए थे। भारतीय बौद्ध तीर्थों की अपनी यात्रा के लिए बहुत-से तिब्बती भी इसी मार्ग को अपनाते रहे।

हिमालय के आर-पार राहुलजी की यह पहली यात्रा थी। महत्व की बात यह है कि वे छिपकर जा रहे थे और पहली बार पाँच-छह हजार मीटर ऊंची जोतों को पार कर रहे थे। आज रक्सौल से काठमांडू और वहाँ से सीधे ल्हासा तक बस-यात्रा संभव हो गई, और तिब्बत भी काफी-कुछ बदल गया है। मगर राहुलजी की तिब्बत-यात्राओं का, विशेषकर उनकी प्रथम तिब्बत-यात्रा (1929-30 ई.) का, महत्व बरकरार रहेगा। एक बार राहुलजी से उनकी सर्वोत्तम यात्रा-पुस्तक के बारे में पूछा गया था, तो उनका उत्तर था : "तिब्बत-यात्रा (तिब्बत में सवा वर्ष)। वह तिब्बत, जिसमें मैं गया था, अब तेजी से बदल रहा है, फिर भी मेरी पुस्तक उस काल का स्वरूप तो है ही।"[17]

प्रथम तिब्बत-यात्रा मे ल्हासा पहुँचने के बाद राहुलजी ने अपने को प्रकट कर दिया था, और दलाई लामा की ओर से उन्हें वहाँ रहने की अनुमति मिल गई थी। अब वे खुले रूप में भारत लौट सकते थे। अतः फरी-कालिंपोङ् के रास्ते वापस लौटे। तिब्बत में चहुंओर वृक्ष-रहित नंगे पहाड़ हैं। फरी (दक्षिणी तिब्बत, भूटान की सीमा के पास) से आगे बढ़े, तो "छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हुए और आगे बढ़ते-बढ़ते काफी देवदार आने लगे। ... बरस भर से आँखें हरियाली के लिए तरस रही थीं, अब पहाड़ में जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी।"[18]

प्रथम तिब्बत-यात्रा से भारत लौटने के बाद राहुलजी सीधे श्रीलंका पहुंचे। फिर जल्दी ही, 2 जून, 1930 को, वहाँ के सुरम्य पहाड़ी-स्थल कांडी में उनकी उपसंपदा हुई, वे भिक्षु राहुल सांकृत्यायन हुए। लिखते हैं : "कांडी एक हरा-भरा पहाड़ी स्थान है। इसके लिए 'जनु वसंत ऋतु रही लुभाई' कहा जा सकता है। ... नगर बहुत स्वच्छ और उसका सरोवर अतिसुंदर था।"[19] श्रीलंका के एक अन्य पर्वत-स्थल नूर-एलिया के बारे में वे लिखते हैं : 'नूर-एलिया लंका का शिमला छै हजार फीट के ऊपर बसा हुआ है। ... यहाँ के पहाड़ों में जंगल है, किंतु देवदारों की मनमोहक सुंदरता और जाड़ों का बर्फ वहाँ दिखलाई नहीं पड़ता।"[20]

तात्पर्य यह कि राहुलजी को अन्य कई जगहों के रमणीय पर्वत-स्थल देखने के मौके मिले, मगर उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, हिमालय के बर्फ का और देवदार वृक्षों का नजारा। सन् 1932 में वे यूरोप की यात्रा पर गए। वहाँ जर्मनी में केवल एक स्थान पर

उन्हें देवदार देखने को मिले। वहाँ के एक बौद्ध विद्वान डॉ. पॉल डालके ने बर्लिन के उपनगर फ्रेनौ में एक पहाड़ी पर एक बौद्ध विहार बनवाया था, जहाँ देवदार के वृक्ष थे।

भारत लौटकर 1933 ई. की गर्मियों में राहुलजी लदाख-यात्रा पर गए – दूसरी बार। मुख्य प्रयोजन था – गिलगित में मिली भोजपत्रों पर लिखी हस्तलिपियों को देखना। हस्तलिपियों का एक भाग श्रीनगर में देखने को मिला। गिलगित जाने का आज्ञापत्र नहीं मिला, मगर लदाख जाने की अनुमति मिल गई। अच्छे साथी भी मिल गए – जर्मन बौद्ध कलाकार-विद्वान ब्रह्मचारी गोविंद। राहुलजी लेह में करीब ढाई महीने रहे। उस दौरान उन्होंने **तिब्बत में बौद्ध धर्म** पुस्तक लिखी, **मज्झिम निकाय** का हिंदी में अनुवाद किया, भोट भाषा व व्याकरण की कुछ पुस्तकें तैयार कीं और यात्रा पर कुछ लेख भी लिखे। स्पष्ट है कि, राहुलजी लेह और ल्हासा-जैसे स्थानों में भी गंभीर लेखन-कार्य करने में समर्थ थे। लाहुल और कुल्लू होते हुए वे वापस लौटे।

अगले साल (1934 ई.) की गर्मियों में राहुलजी दूसरी बार तिब्बत-यात्रा पर गए। इस बार कालिंपोङ्-फरी के रास्ते गए और त्रेनम्-काठमांडू (नेपाल) के रास्ते वापस लौटे।

अगले साल (1935 ई.) राहुलजी ने जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत रूस और ईरान की यात्रा की। एशिया की इस महायात्रा के दौरान उन्होंने कोरिया के अनेकानेक अद्‌भुत शिखरोंवाले कोङ्‌गो-शान (वज्र-पर्वत) की भी यात्रा की। इसके सबसे ऊँचे पर्वत विरहो (वैरोचन) की ओर आगे बढ़े, तो लिखते हैं : "पर्वतों के आकार नाना प्रकार के थे। कोई नाग के आकार का, कोई घोड़े के आकार का। जलमार्ग भी नाग, त्रिपुंड्री आदि आकार के थे। ... आखिरी तीन मील का दृश्य अत्यंत सुंदर था। दर्शनीय जलप्रपात, विचित्र शिला और शिखर, घनी वृक्षावली, जिसमें नीचे की ओर देवदार और ऊपरी भाग पर भोजपत्र थे।"[21]

एशिया की इस महापरिक्रमा के चार महीने बाद ही, फरवरी 1936 ई. में, राहुलजी तिब्बत की अपनी तीसरी यात्रा के लिए काठमांडू पहुंचे और वहाँ करीब दो महीने रहकर नेपाल के इतिहास व पुरातत्व का गहन अध्ययन किया, जिसका बाद में 'नेपाल' ग्रंथ लिखने में उपयोग हुआ।

इस बार के काठमांडू-निवास के दौरान बहुत साल बाद स्वामी प्रणवानंद से राहुलजी की भेंट हुई। हिमालय के अनन्य प्रेमी और अन्वेषक स्वामी प्रणवानंद के जीवन व कार्य से कई लोग परिचित हैं, परंतु कम ही लोग जानते होंगे कि राहुलजी और प्रणवानंदजी सहपाठी रहे हैं, कुछ साल तक दोनों एक ही मार्ग के पथिक रहे हैं। राहुलजी 1916 ई. में लाहौर के डी.ए.वी. कालेज के संस्कृत विभाग में 'विशारद' के छात्र थे, तब उनके

विद्यार्थी-मित्र बलदेव चौबे (बाद के स्वामी सत्यानंद सरस्वती) के साथ एक दक्षिण भारतीय विद्यार्थी रहते थे। बताते हैं : "वंशीधर के मंदिर में बलदेवजी के साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदंडी वेंकट सोमयाजुलू भी रहते थे, हम लोग उन्हें 'मिस्टर' कहा करते थे। वे भी हमारे लाहौर के घनिष्ट मित्रों में थे। उन दोनों मित्रों के कारण अक्सर मैं वंशीधर के मंदिर में जाया करता था। ... गर्मी के दिनों में साफ चिकने संगमर्मर के फर्श पर बैठने-लेटने में अच्छा लगता था। वहीं हम लोगों की घंटों अपने भविष्य, देश के भविष्य और आर्य-समाज के काम पर बातें हुआ करतीं।" [22]

लाहौर के डी.ए.वी. कालेज के मिस्टर सोमयाजुलू ही बाद के हिमालय-प्रेमी स्वामी प्रणवानंद (1896-1989 ई.) हैं। राहुलजी 1921 ई. में करीब चार महीने कुर्ग में रहे थे, उसके पीछे भी मिस्टर सोमयाजुलू ही की प्रेरणा थी। वहाँ के नौजवानों में मिस्टर सोमयाजुलू ने आर्य समाज के प्रचार का काम किया था, और वे चाहते थे कि राहुलजी उस काम को आगे बढ़ाएँ।

अब काठमांडू में सत्रह साल बाद पुनः दोनों मित्रों की भेंट हुई। दोनों हिमालय के प्रेमी थे, भक्त थे, मगर अब दोनों के विचारों में बहुत बड़ा अंतर आ गया था। राहुलजी लिखते हैं : "17 वर्ष पहले हम दोनों एक चौरस्ते पर खड़े थे। फिर हमने अपने-अपने पैरों को आगे बढ़ाया, और अब कितना अंतर है। वह घरबार छोड़कर योगी हुए। 1926 ई. तक वह भी कांग्रेस के काम में लगे हुए थे। फिर ब्रह्म और योग ने उन्हें अपनी ओर खींचा। उन्हें एक अच्छा गुरु मिला और दस-दस घंटे की समाधि लगने लगी। बतला रहे थे, बीमारी के कारण आपरेशन कराना पड़ा, इसलिए अब चार-पांच घंटे की ही समाधि रहती है। प्रणवानंद रमण-महर्षि और स्वामी सियाराम (स्वर्गीय) के बड़े प्रशंसक हैं। मैं उनके मुंह से योग की बातों को सुन रहा था, लेकिन इन सबके सुनने की मेरे दिल में कभी स्पृहा नहीं हुई। ज्यादा से ज्यादा मैं यही मान सकता था, क़ि शायद हमारे योगियों ने क्लोरोफारम के बिना भी बेहोशी की कोई युक्ति निकाल ली है। ऐसी युक्ति को समझना कोई बुरी बात नही है। लेकिन, मेरे पास उसका समय कहाँ था? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है, क़ि योग मनुष्य की प्रकृति में अंतर नहीं डाल सकता। अब भी प्रणवांनद 'मिस्टर' की तरह ही निस्संकोच भाषण कर सकते थे। जब मैं पहली बार सीलोन में था (1927-28 ई.), तो वह लदाख होकर मानसरोवर गए थे; तब से वह कई बार मानसरोवर हो आए हैं। एक बार तो सालभर से ज्यादा वहीं रहे। कच्चे योगी होने से, मैं समझता हूँ, उन्होंने कभी भी याक के कच्चे मांस का स्वाद नहीं लिया होगा। हां, कैलास के हवा-पानी में आध्यात्मिकता की विद्युत-तरंगे हैं, यह उनको विश्वास है। हम एक-दूसरे को एक मत का बनाने को लिए उत्सुक नहीं थे, इसलिए बातचीत का ही आनंद रहा। दो-चार दिन हम दोनों एक ही मकान में रहे। हमने अपने पुराने जीवन की स्मृतियां दौड़ाईं। एक बात में

जरूर हम दोनों एक थे, उनको भी तिब्बत के कष्टों का आह्वान करने में आनंद आता था, और मुझे भी।" [23]

स्वामी प्रणवानंद ने कैलास-मानसरोवर की अनेक परिक्रमाएँ कीं और इनके बारे में कई शोध-निबंध भी लिखे। राहुलजी कैलास-मानसरोवर की यात्रा नहीं कर पाए, मगर इसका उन्हें अफसोस नहीं था। लिखते है। : "मानसरोवर के न जाने का संतोष तो मैं अपनी ल्हासा की ओर की यात्राओं से कर सकता था।" [24]

राहुलजी की तीसरी तिब्बत-यात्रा बहुत सफल रही। इस बार उन्हें बड़े महत्व की संस्कृत तालपोथियाँ मिलीं, जिनमें प्रमुख थीं – धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' पर प्रज्ञाकरगुप्त का भाष्य (वार्तिकालंकार) और असंग की 'योगाचार-भूमि'। गए थे पूर्व-परिचित नेपाल के रास्ते से, मगर इस बार लौटे लाछेन-गंतोक (सिक्किम) के नए रास्ते से।

अगले साल (1937 ई.) की गर्मियों में राहुलजी लाहुल गए। कलाकार प्रो. निकोलस रोयरिक का भी निमंत्रण था, इसलिए उरुस्वाती (नगर) भी चले गए। प्रो. रोयरिक के दोनों बेटे – चित्रकार स्वेतस्लाव और तिब्बतीविद जॉर्ज – उस समय वहीं थे। राहुलजी करीब दो सप्ताह रोयरिक-परिवार के साथ रहे। लिखते हैं : "मैं लाइब्रेरीवाले घर के कोठे पर रहता था, जो कि परिवार के बंगले से कुछ सौ गज ऊपर था। इसके चारों तरफ बड़े-बड़े देवदारों का घना जंगल था। दुतल्ला मकान भी देवदार की लकड़ी का ही बना था; जिधर देखें, उधर देवदार की सुई-जैसी हरी-हरी पत्तियाँ दिखलाई पड़तीं और सांस मे हर वक्त देवदार की सुगंधि आती थी। मैं देवदार की भूमि में नहीं पैदा हुआ, लेकिन न जाने क्यों वह मुझे इतना प्रिय मालूम होता है। मैं उसे प्राकृतिक सौंदर्य का मानदंड समझता हूँ। यहाँ मैं देवदार-वन का एक अंग बन गया था।" [25]

उस साल के अंत में राहुलजी दूसरी बार सोवियत रूस गए, मगर दो महीने बाद ही लौट आए – चौथी बार तिब्बत जाने के लिए। इस बार (1938 ई.) राहुल-दल नेपाल के रास्ते नहीं, कालिंपोङ् – फरी के रास्ते गया और लाछेन-गंतोक के छोटे रास्ते से वापस लौटा। यह राहुलजी की अंतिम तिब्बत-यात्रा थी। इस तरह उन्होंने हिमालय की कुल आठ बार आर-पार यात्राएँ कीं।

चौथी तिब्बत-यात्रा से लौटने के बाद राहुलजी सक्रिय राजनीति में कूद पड़े और 29 मास (1940-42 ई.) हजारीबाग जेल व देवली कैंप में गुजारे। खूब लेखन-कार्य किया। सन् 1943 की गर्मियों (मई-जून) में राहुलजी ने उत्तराखंड की यात्रा की, साथी थे नागार्जुन। नेलङ् तक गए। मसूरी के रास्ते देहरादून लौटकर कालसी की यात्रा की। सन् 1910 के बाद गढ़वाल की यह उनकी दूसरी यात्रा थी।

फिर 1945-47 ई. में पच्चीस मास रूस में रहे। वहाँ से 17 अगस्त, 1947 को लौटे, तो भारत स्वतंत्र था। राहुलजी के जीवन का एक नया दौर शुरू हुआ, उन्होंने अपने शेष जीवन का अधिकांश समय हिमालय में गुजारा और हिमालय के बारे में कई पुस्तकें लिखीं।

राहुलजी अब (1948 ई.) हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे। अब डायबेटीज (मधुमेह) की व्याधि उनकी जीवन-संगिनी बन गई थी। उस साल की गर्मियों में वे कन्नौर (रामपुर-बुशहर) गए, ज्यादा समय चिनी में रहे, तिब्बत की सीमा के नज़दीक के नम्ग्या गांव तक गए, **किन्नर देश में** पुस्तक लिखी। अगले साल की गर्मियों में पुनः इसी प्रदेश में आने की योजना थी, मगर वह संभव नहीं हुआ।

अगले साल (1949 ई.) की गर्मियों में राहुलजी कालिंपोङ्. गए। सम्मेलन के परिभाषा-कार्य के लिए कुछ सहयोगी भी साथ में थे। अब राहुलजी अपना एक घर बनाकर एक स्थान पर बसना चाहते थे, यानी 'घरबारी' बनना चाहते थे। साथ ही 'घरबारी होने के पाप' से बचना चाहते थे मगर बच नहीं पाए, "असली अर्थ में यह बात कालिंपोङ्. में ही हो गई"; रालजी की नई 'गृहस्थी' वहीं पर शुरू हो गई, एक भारतीय नेपाली तरुणी के साथ।

साल के अंत तक राहुलजी कालिंपेङ्.में रहे। अपने अन्य कामों के अलावा उस हिमालय-खंड का परिचय लिखने के इरादे से काफी स्रोत-सामग्री एकत्र की, नवंबर 1949 ई. में दार्जिलिङ्. की यात्रा भी की। कालिंपोङ्. से दंड-कमंडल उठाने का समय आया, तो लिखते हैं : "दार्जिलिङ्. जिले का अन्न-जल इतने दिन तक खाकर उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए ज़रूरी था। और, उसी का क्यों, सारे हिमालय का मुझ पर ऋण था। ... अब हिमालय कह रहा था, हमारे ऋण से भी तुम्हें उऋण होना चाहिए। इसलिए मैंने निश्चय किया, दार्जिलिङ्. के बारे में लिखना चाहिए। कालिंपोङ्. में ही मैंने 'दोर्जेलिङ्.-परिचय' लिखना शुरू कर दिया ...।"[26] पूर्व की ओर से आरंभ करें, तो राहुलजी की 'हिमालय-परिचय' पुस्तकमाला की यह पहली पुस्तक है।

राहुलजी को अपनी नई 'गृहस्थी' के लिए अब एक स्थायी "नीड़' की ज़रूरत थी। मकान खरीदने के ख्याल से, अपनी नई गृहिणी को साथ लेकर, 1950 की गर्मियों में वे कुमाऊं गए और वहां नैनीताल के 'ओक लॉज' में करीब चार महीने उनका निवास रहा। यहां उन्होंने आदि-हिंदी की 'कहानियाँ और गीत' (कौरवी) का संकलन किया। फिर "लिखने के लिए अब कुमाऊं का ख्याल दिमाग में दौड़ रहा था। 'दोर्जेलिङ्.-परिचय' लिखकर हिमालय का परिचय देने का काम शुरू किया। मैं अब कुमाऊं में था, इसलिए

उसमें हाथ लगाने में सुभीता था। यहां उसके बारे में पुस्तकें जमा कीं और पढ़ते हुए अप्रैल (1950) के तीसरे सप्ताह में कुछ लिखना भी शुरू कर दिया।" [27]

'हिमालय-परिचय' की पुस्तकों के बारे में राहुलजी का प्रायः यह नियम रहा कि वे नियोजित हिमालय-खंड का भौगोलिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विवरण पहले लिख लेते थे; तदनंतर उस क्षेत्र की यात्रा करके वे उस विवरण को जांचते थे और यात्रा-वर्णन को भी पुस्तक में जोड़ देते थे। लिखते भी हैं : "कुमाऊं लिखने की धुन थी। लेकिन हिमालय के किसी भूभाग का परिचय अधूरा ही रहता है, यदि उसमें अपनी की हुई यात्रा का भी कुछ वर्णन हो।" [28]

राहुलजी अक्तूबर 1943 में भवाली और अल्मोडा गए थे, साथी भारद्वाज और सुमित्रानंदन पंत की जीवनी के नोट्स लेने, 'नये भारत के नये नेता' के लिए। मगर वह उनकी दौड़ती यात्रा थी। इस बार प्रभाकर माचवे को साथी बनाकर उन्होंने भवाली, अल्मोड़ा, कटारमल, बैजनाथ, बागेश्वर, द्वाराहाटा आदि स्थानों की यात्रा की, प्रमुखतः इतिहास-पुरातत्व की दृष्टि से।

राहुलजी ने जुलाई 1950 से मसूरी के 'हर्न क्लिफ' में अपना स्थायी घर बांधा, घर के साथ गृहिणी भी थी। आगे के करीब आठ साल तक, 1958 के लगभग मध्यकाल तक, राहुल-परिवार का स्थायी निवास गढ़भूमि के मसूरी शहर में ही रहा। मसूरी में बस जाते ही उन्होंने 'गढ़वाल' लिखने में हाथ लगा दिया था और अगले साल (1951) की गर्मियों में गढ़वाल-हिमालय की यात्रा करने का निश्चय कर लिया था। तदनुसार, मई 1951 में राहुलजी ने बदरी-केदार की यात्रा की, अकेले। यात्रारंभ के समय लिखते हैं : "गढ़वाल को बहुत कुछ मैं लिख चुका था। 'हिमालय-परिचय' संबंधी हरेक ग्रंथ में अपनी यात्रा का भी एक अध्याय देना चाहता था। इससे जहाँ पुस्तक की मनोरंजकता बढ़ जाती, वहां नए आंकड़े और जानकारी भी शामिल करने का सुभीता होता।" [29] गढ़वाल में केदार-बदरी यात्रा-विवरण 82 पृष्ठों का है, साथ में राहुलजी द्वारा लिए गए कई चित्र भी हैं। कुमाऊं-यात्रा में भी कैमरा उनके साथ था।

राहुलजी के मन में 'हिमालय-परिचय' पूरा लिख डालने का विचार, 'कुमाऊं' लिखने के बाद, मसूरी में बस जाने पर आया। उन्होंने निश्चय किया कि दार्जिलिङ् से चंबा (तिस्ता नदी से चनाब नदी) तक के हिमालय का परिचय हिंदी में प्रस्तुत कर देना है।

प्राचीन परंपरा के अनुसार हिमालय के पांच खंड हैं :

खण्डा : पंच हिमालयस्य कथिता नेपाल-कूर्माचलौ।
केदारोऽथ जंलधरोऽथ रुचिरः कश्मीर-संज्ञोऽन्तिम॥

अर्थात - 1. नेपाल, 2. कूर्मांचल (कुमाऊं), 3. केदार (गढ़वाल), 4, जलंधर (शिमला-कांगड़ा) और 5. कश्मीर।

'गढ़वाल' (हिमालय-परिचय : 1) एक मानक ग्रंथ है। इसे राहुलजी ने अपने मित्र 'गढ़भूमि के सुपुत्र' बैरिस्टर मुकुंदीलाल को समर्पित किया है। ग्रंथ छपा भी अच्छा है, किंतु राहुलजी के 'हिमालय-परिचय' के अन्य ग्रंथों के प्रकाशन की अंततः क्या दुर्दशा हुई, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

'गढ़वाल' को पूरा करने के बाद राहुलजी ने 'नेपाल' लिखने में हाथ लगा दिया और 1952 ई. के अंत तक उसे पूरा कर डाला। जैसी कि उनकी व्यवस्था थी, अब उन्हें नेपाल की यात्रा करनी थी। नया साल (1953 ई.) आया। राहुलजी अपनी नेपाली गृहणी को साथ लेकर 4 जनवरी को मसूरी से रवाना हुए। पहले की सभी यात्राओं में वे रक्सौल-भीमफेरी से आगे सीसागढ़ी-चंदागढ़ी के पहाड़ों को पार करके नेपाल पहुंचे थे। इस बार उन्होंने पटना से काठमांडू तक विमान-यात्रा की। वहां 1 फरवरी तक रहकर उन्होंने काठमांडू और आसपास के कई ऐतिहासिक-धार्मिक स्थान देखे। पटना लौटे, तो वहाँ के एक प्रकाशक ने 'नेपाल' को आग्रहपूर्वक प्रकाशन को लिए मांग लिया। राहुलजी ने 'नेपाल' का एक भाग उसी समय उन्हें दे दिया, लेकिन पूरा ग्रंथ आज तक नहीं छप पाया!

राहुलजी की यह अंतिम नेपाल-यात्रा नहीं थी। सन् 1956 में काठमांडू में विश्व बौद्ध सम्मेलन हुआ, तो राहुलजी को उसमें विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। इस बार वे अकेले ही नेपाल गए थे, अंतिम बार।

'दार्जिलिंड. से उठाए हिमालय-संबंधी ग्रंथों को जम्मू-कश्मीर की सीमा तक पहुंचा देना' था, इसलिए अगस्त 1953 में 'जौनसार-देहरादून' लिखने में भी हाथ लगा दिया। वह पुस्तक लिख डाली, तो जनवरी 1954 में 'हिमाचल प्रदेश' को लिखना शुरू कर दिया। बताते हैं : "यद्यपि हिमालय संबंधी लिखी हुई पुस्तकें अभी प्रकाशित होने को बाकी थीं, किंतु हमने जम्मू-कश्मीर की सीमा तक के हिमालय को लिखने का निश्चय कर लिया था, इसलिए अब अंतिम पुस्तक 'हिमाचल प्रदेश' (जलंधर-खंड) के लिखने में हाथ लगा दिया।"[30]

पुस्तक पूरी हुई, तो उसी साल (1954 ई.) अप्रैल-मई में राहुलजी ने हिमाचल-प्रदेश की यात्रा की। यात्रा के साथी थे जनकलालजी। कुल्लू, मनाली, मंडी, चंबा, भरमौर आदि अनेक स्थानों पर गए। इस यात्रा-विवरण को उन्होंने पुस्तक में शामिल कर दिया। 'किन्नर देश में' (1948 ई.) में 'हिमाचल-प्रदेश' के एक हिस्से का परिचय आ गया था, इसलिए उस पुस्तक को भी हिमाचल-प्रदेश की पांडुलिपि में सम्मिलित कर दिया।

राहुलजी का संकल्प पूरा हुआ। 'हिमालय-परिचय' के पांचवे खंड 'कश्मीर' को लिखने का आरंभ में उनका कोई संकल्प नहीं था। सन् 1953 में उन्होंने लिखा भी था : "साठ साल की उमर में किसी काम के लिए संकल्प करना अच्छा नहीं है। उसे तो सिर्फ हाथ में लिया जा सकता है। इसी ख्याल से 'हिमालय-परिचय' (5) – कश्मीर के बारे में मैं संकल्प नहीं करता। इस पांचवें खंड को मेरी लदाख-यात्रा में स्पर्श किया गया है, किंतु, कश्मीर के बारे में विस्तृत लिखने के लिए एक बार फिर वहां की यात्रा (चौथी) करनी होगी, जिसके लिए मेरा स्वास्थ्य और शरीर आज्ञा नहीं देता।" [31]

मगर कश्मीर के बारे में ग्रंथ लिखने का संकल्प उन्होंने छोड़ा नहीं था। शायद इसीलिए 1958 ई. की गर्मियों में वे कश्मीर की यात्रा पर गए थे, चौथी बार। दिसंबर 1955 में उन्होंने लिखा था : "नगाधिराज को जानना हमारे हरेक शिक्षित का कर्तव्य है। इस जानकारी को देने के लिए मैंने हिमालय पर लिखना शुरू किया। 'भूटान की सीमा से जम्मू की सीमा तक' पर लिख भी चुका। इन ग्रंथों में 'दोर्जेलिड्.-परिचय' और 'गढ़वाल' निकल चुके हैं। 'गढ़वाल' के पढ़ने वालों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन ग्रंथों में किस तरह हिमालय के हरेक अंग को दिखलाने की कोशिश की गई है। 'नेपाल', 'गढ़वाल' (पृष्ठ 569) से भी दूना (1200 पृष्ठों का) ग्रंथ बड़ी मेहनत से लिखा गया है, और यह कहना अत्युक्ति नहीं है, कि अंग्रेजी में भी कोई एक उस तरह की पुस्तक नहीं है। वह तीन वर्ष पहले लिखा जा चुका था। इसके 300 पृष्ठ छपकर अब कीड़ों और चूहों के शिकार बन चुके हैं। 'कुमाऊं' की नैया भंवर में है। 'जौनसार-देहरादून' की अभी पूछ ही नहीं आई। यमुना तट से चनाब के तट तक हिमाचल प्रदेश के सौ फर्मों के ग्रंथ का नाम सुनकर ही प्रकाशक कान पर हाथ रखते हैं। मेरी इच्छा थी, कि जम्मू-कश्मीर और भूटान-पूर्वोत्तर सीमांत के दो और ग्रंथों को लिखकर सारे हिमालय को पाठकों के सामने रख दूं। अभी भी उस संकल्प को मैंने छोड़ा नहीं है, पर कीड़ों को खिलाने से मन हिचकता है।" [32]

स्पष्ट है कि बाद में राहुलजी ने हिमालय के कश्मीर और पूर्वोत्तर सीमांत के खंडों के बारे में भी लिखने का मन बनाया था, मगर 'हिमालय-परिचय' की लिखी हुई पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो रही थी, इसलिए नई पुस्तकों में हाथ लगाने में हिचकिचा रहे थे।

हिमालय के अधिकतर हिस्सों की यात्राएँ करने के बावजूद राहुलजी, न तो मानसरोवर-कैलास की यात्रा कर पाए, न ही पूर्वोत्तर भारत और मणिपुर के पहाड़ों की, जबकि उन्हीं की प्रेरणा से बलभद्र ठाकुर [33] ने ये यात्राएँ पूरी कीं। लिखते हैं : "ठाकुर मोशाय मानसरोवर भी हो आए, और मनीपुर भी। मानसरोवर के न जाने का संतोष तो मैं अपनी

ल्हासा की ओर की यात्राओं से कर सकता था, लेकिन पूर्वोत्तर भारत और मनीपुर के पहाड़ों की यात्रा की लालसा तो मन की मन में ही रह गई।"

लेकिन 'हिमालय-परिचय' के चार खंड लिखकर राहुलजी ने अपने जिस संकल्प को पूरा किया, वह भी क्या सही अर्थ में पूरा हुआ? दास्तान दुःखद है।

राहुलजी को इलाहाबाद का लॉ जर्नल प्रेस बहुत पसंद था। मैनेजर कृष्णप्रसाद दर ने छपाई-सफाई और मुस्तैदी के मामले में इस प्रेस को भारत का एक सर्वश्रेष्ठ प्रेस बना दिया था। सन् 1933 से ही राहुलजी की पुस्तकें वहाँ से छपती आ रही थीं। बाद में प्रेस सेठों के हाथों में चला गया, मगर दर साहब को मैनेजर के पद पर कायम रखा गया। फिर प्रेस ने अपना प्रकाशन भी आरंभ किया, तो दर साहब ने राहुलजी से पुस्तकें माँगी। 'हिमालय-परिचय' की दो पुस्तकें – 'गढ़वाल' और 'कुमाऊं' – राहुलजी ने उन्हें दे दीं, कुछ अग्रिम रुपया भी मिला।

दर साहब की देखरेख में 'गढ़वाल' का प्रकाशन (1953 ई.) खूब बढ़िया हुआ। 'कुमाऊं' भी मोनो में पंच हो गई थी। मगर उसी समय मालिकों ने दर साहब को हटा दिया। दर साहब के साथ तय हुआ था कि लॉ जर्नल प्रेस 'हिमालय-परिचय' की सभी पुस्तकें प्रकाशित करेगा। किंतु जब 'नेपाल' के लिए अग्रिम देने से मालिकों ने इनकार कर दिया, तो राहुलजी ने वह पुस्तक पटना के एक प्रकाशक को दे दी।

'नेपाल' के न मिलने का बहाना बनाकर लॉ जर्नल प्रेस ने 'कुमाऊं' को छापने से इनकार कर दिया। राहुलजी कर ही क्या सकते थे, सिवाय यह 'आशीर्वाद' देने के कि, 'थैलीशाही तेरा बेड़ा गर्क हो!' उन्होंने अग्रिम के पैसे लौटा दिए और वाराणसी से 'कुमाऊं' के प्रकाशन की व्यवस्था की। बाद में यह पुस्तक इलाहाबाद से पुनर्मुद्रित हुई, परंतु 'गढ़वाल' दुबारा नहीं छपी।

'नेपाल' का क्या हुआ?

नेपाल-यात्रा (जनवरी 1953) से पटना लौटे, तो बताते है। : "श्री मोहनलाल विश्नोई के यहाँ चाय पी। उन्होंने आग्रहपूर्वक 'नेपाल' को प्रकाशित करने को लिए माँगा। हमने उसके कुछ भाग को उसी समय दे भी दिया। यह 2 फरवरी 1953 की बात है, आज 1956 का अंत है, तीन वर्ष हो गए, नेपाल उनके पास पड़ा है। 304 पृष्ठ छापकर न आगे बढ़ने का नाम लेते हैं, न पीछे। लेखक क्या करे? इतनी मेहनत करके नए आँकड़ों के साथ जिस पुस्तक को तैयार करके दिया वह खटाई में पड़ी हुई है। उन्हें टैक्स्ट बुक और दूसरी छपाइयों से फुरसत नहीं है। कोफ्त होती है, ख्याल आता है कब ऐसी स्थिति से छुटकारा मिलेगा।"

राहुलजी मई 1961 में बीमारी की हालत में श्रीलंका से दीर्जिलिंङ्. लौटे थे। उनकी बहुत-सी ज़रूरी चीज़ें विद्यालंकार विहार के उनके कमरे में थीं। राहुलजी 22 जून, 1961 को दार्जिलिंङ्. से आनंदजी को श्रीलंका में पत्र लिखते है। : "मैंने जिन पुस्तकों को भेजने को लिए लिखा उनमें 'नेपाल' के छपे फार्म (19) अतिमहत्व रखते थे। यदि वह गुम हो गए, तो पुस्तक नष्ट समझिए। इसलिए 'नेपाल' को रजिस्टर्ड-बुकपोस्ट से भेजने को कहा था। ... '**नेपाल**' के नए प्रकाशक कलकत्ता में तैयार हो गए हैं, जिसमें वे फार्म भी ज़रूरी हैं। उनकी और कॉपी भी नहीं है। प्रेसवाला देगा, इसमें संदेह है।"

'नेपाल' छापने के लिए तैयार हुए कलकत्ता के नए प्रकाशक कौन थे?

वे थे – भारतीय ज्ञानपीठ के श्री लक्ष्मीचंद जैन। दिसंबर 1961 में राहुलजी पर 'स्मृति लोप' का आघात होने पर, पता चलता है कि, नए प्रकाशक ने 'नेपाल' के बारे में राय देने के लिए पांडुलिपि श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री को सौंपी थी। पृथ्वीनाथजी लिखते हैं : "जैसा कि स्वाभाविक था, राहुलजी ने इसे जन-इतिहास के रूप में लिखा था और महाराजाओं और राणाओं की भूमिका की, शोषक के रूप में, यत्र-तत्र सर्वत्र आलोचना की थी। तथ्य बहुत थे, विश्लेषण कम। ... इस रूप में भी पुस्तक प्रकाशनीय लगी। यही अपनी रिपोर्ट में मैंने लिखा।" आगे वे यह भी जानकारी देते हैं कि भारतीय ज्ञानपीठ ने 'नेपाल' की पांडुलिपि को 'प्रकाशनार्थ-स्वीकृत' की श्रेणी में रखकर राहुलजी की पत्नी को 5000 रु. अग्रिम रायल्टी भिजवा दी।

परंतु 'नेपाल' ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से नहीं छपा। पृथ्वीनाथजी लिखते हैं : "इसका कारण भी बाद में मुझे पता चला, मगर यहाँ मैं उसकी चर्चा नहीं करना चाहता"

कारण का अनुमान लगाना ज्यादा कठिन नहीं है। सेठों की प्रकाशन संस्था ऐसी 'खतरनाक' पुस्तक छापकर नेपाल के प्रभुओं को क्यों भला नाराज़ करेगी? 'नेपाल' आज भी अप्रकाशित है। पता चला है कि राहुल जन्म-शताब्दी वर्ष (1993 ई.) में दिल्ली का एक प्रकाशक 'हिमाचल प्रदेश' को प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार, 'हिमालय-परिचय' का अब केवल एक ही ग्रंथ अप्रकाशित रह गया है – 'नेपाल'!

पुस्तक पूरी हो जाने पर वह तुरंत प्रेस में चली जाती थी, तो राहुलजी को बड़ी प्रसन्नता होती थी। एक जगह लिखते भी हैं : "पुस्तकों के लिखने में मुझे जितना आनंद आता है, उससे कहीं अधिक आनंद उसके प्रूफ देखने में आता है। पुस्तकों का लिखना मानो उसका गर्भ में आना है, और प्रकाशित होना जन्म लेना है। आदमी इससे अपने परिश्रम को सफल समझता है।"

अपने जीवनकाल में 'नेपाल' और 'हिमाचल प्रदेश' को अजन्मा रहते देख राहुलजी को कितनी मानसिक व्यथा हुई होगी, इसका अनुमान लगानां ज्यादा कठिन नहीं है।

'हिमालच-परिचय' की पुस्तकों में ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में बहुत-सी कड़वी-कसैली बातें हैं, पड़ौसी देशों के साथ की सीमाओं के बारे में आज ग्राह्य न हो सकने वाली प्रामाणिक जानकारी है, इसलिए भी इनके प्रकाशन में दिक्कतें हुई हैं। परंतु हिंदी में बड़े परिश्रम से लिखी गई इन पुस्तकों का बहुत महत्व है, आगे की पीढ़ियों के लिए भी, यह बात निर्विवाद है। इन पुस्तकों में त्रुटियाँ हैं, यह बात राहुलजी भी जानते थे। लिखते भी हैः 'हिमालय-परिचय' की त्रुटियाँ मुझे मालूम है। त्रुटियों को हटाकर और अच्छे ग्रंथ को प्रदान करना हमारी नई पीढ़ी का काम है।' इस तरह की बात वे अपनी प्रायः प्रत्येक पुस्तक के 'प्राक्कथन' में दोहराते हैं।

राहुल जन्म-शताब्दी वर्ष में 'हिमालय-परिचय' की सभी पुस्तकें सुसंपादित होकर एक स्थान से एक पुस्तकमाला (सेट) के रूप में प्रकाशित होती, तो बहुत अच्छा होता। लगता है कि इस दिशा में प्रयास नही किया गया।

सन् 1958 मे मसूरी का अपना मकान बेचकर उसी साल राहुलजी चीन-यात्रा पर गए। वहाँ से लौटे, तो 1959 के पूर्वार्ध में देहरादून में रहे। उसी साल सितंबर में वे अकेले श्रीलंका गए, वहाँ विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन के महाचार्य नियुक्त होकर। पत्नी ने अपने और बच्चों के लिए मायके (कालिंपोङ्) के नजदीक दार्जिलिङ् में नया मकान खरीदा। राहुलजी चाहते थे कि पत्नी व बच्चे श्रीलंका में उनके साथ रहें, परंतु पत्नी को यह मंजूर नहीं था। छुट्टियों में राहुलजी दार्जिलिङ् आए गए, मगर उन्हें वहाँ रहना पसंद नहीं था, यह बात आनंदजी को लिखे उन दिनों के पत्रों से स्पष्ट है। वे तो मानसिक रूप से इस बात के लिए भी तैयार थे कि 'शायद भस्मान्त सिंहल में ही हो!'

परंतु प्रकृति को, नगाधिराज को, यह मंजूर नहीं था। दार्जिलिङ् में ही 14 अप्रैल, 1963 को राहुलजी का देहावसान हुआ, भस्मांत हुआ। हिमालय के अनन्य प्रेमी को अंततः हिमालय की गोद में ही चिरशांति मिली।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', 'मंगलमूर्ति श्री राहुलजी', राहुल सांकृत्यायन, स्मृति ग्रंथ (नई दिल्ली, 1971), पृ. 42.
2. राहुल सांकृत्यायन, 'हिमपात', गति और रेखा, संचयन (नई दिल्ली, 1987), पृ. 36 व 37.
3. वही पृ. 35.
4. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2 (इलाहाबाद, 1950), पृ. 36.

5. वही, पृ. 414. उसी यात्रा में लाछेन् से आगे बढ़ने पर राहुलजी लिखते हैं : "मैं खाली हाथ था। एकाध जगह थोड़ी-सी चढ़ाई आती, नहीं तो बराबर उतराई ही उतराई थी। देवदारों से मंद-सुगंध बयार आती थी, और उन्हीं की छाया में चलना पड़ता था। हिमालय ने अपने सुंदरतम दृश्य को सामने रखा था। मैं शायद कविता करने लगता, लेकिन बहुत साल पहले ही मैंने हाथ-पैर मार के देख लिया था, कि कविता-सुंदरी को मेरी सेवाएँ पसंद नहीं है। एक समझदार आदमी की तरह मैंने फिर उस रास्ते मैं पैर बढ़ाने का ख्याल नहीं किया। लाछेन् से तीन मील नीचे उतरते-उतरते देवदार रास्ते पर से ग़ायब हो गए थे।" (पूर्वाक्त, पृ. 416).
6. वही, पृ. 327.
7. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4 (दिल्ली, 1967), पृ. 318-19.
8. राहुल, विस्मृत यात्री (इलाहाबाद, 1993), 'दो शब्द', पृ. 3.
9. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4, पृ. 388-89.
10. राहुल, मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1 (कलकत्ता, 1951), पृ. 75.
11. राहुल, गढ़वाल (इलाहाबाद, 1953), 'प्राक्कथन'.
12. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1, पृ. 302.
13. वही, पृ. 345.
14. वही, पृ. 415.
15. वही, पृ. 406.
16. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2 पृ. 52.
17. कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का लेख 'मंगलमूर्ति श्री राहुलजी', पूर्वोक्त, पृ. 38.
18. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 103.
19. वही, पृ. 13.
20. वही, पृ. 12.
21. वही, पृ. 339.
22. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-1, पृ. 246.
23. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 385, स्वामी प्रणवानंद के शोधकार्य और उनकी योग-साधना के बारे में जानकारी के लिए देखिए, ललित पंत का लेख 'स्वामी प्रणवानंद : मानस का हंस, पहाड़ 5/6, नैनीताल, 1992.
24. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-5, पृ. 319.
25. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पृ. 434.
26. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-4, पृ. 388-89.

27. वही, पृ. 457.
28. वही, पृ. 461.
29. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-5, पृ. 18.
30. वही, पृ. 232
31. गढ़वाल, 'प्राक्कथन'.
32. राहुल, विस्मृत यात्री (इलाहाबाद, संस्करण : 1993), 'दो शब्द', पृ. 3, बाद में 'कुमाऊं' और 'जौनसार-देहरादून' प्रकाशित हुई, राहुलजी के जीवनकाल में ही।
33. बलभद्र ठाकुर संस्कृत के अच्छे पंडित थे, रूसी भी जानते थे। सन् 1948 में वे राहुलजी की एक साहित्य-यात्रा के साथी थे। फिर वे वर्धा में रहे।

20. रांगेय राघव के रिपोर्ताज

मधुरेश

नाटकों की अपेक्षा रिपोर्ताज के क्षेत्र में रांगेय राघव का. योगदान बहुत मौलिक और स्थायी महत्व का है। बंगाल के भीषण अकाल में, आगरा से प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में डॉ. कुण्ठे के नेतृत्व में एक चिकित्सक दल पूर्वी बंगाल भेजा गया था। रांगेय राघव उन्नीस वर्ष की अवस्था में जब वह विद्यार्थी ही थे, इस दल के रिपोर्टर की हैसियत से गये थे। पूर्वी बंगाल में मृत्यु और भयावह विनाश का जो ताण्डव उन्होंने देखा उसे बहुत संवेदनशील ढंग से 'तूफ़ानों के बीच' शीर्षक से लिखे गये इन रिपोर्ताजों में उन्होंने अंकित किया है। जब ये रिपोर्ताज धारावाहिक रूप से 'हंस' में प्रकाशित हुए तो हिंदी जगत में इनका प्रकाशन एक ऐतिहासिक महत्व की घटना माना गया था। तब अमृतराय 'हंस' के सम्पादक थे बाद में, रांगेय राघव पर अपना संस्मरण लिखते हुए इन रिपोर्ताज के बारे में उन्होंने टिप्पणी की है...

> जहाँ तक मैं जानता हूँ रांगेय राघव के उन्हीं रिपोर्ताजों से हिंदी में रिपोर्ताज लिखने का चलन शुरू हुआ। मैंने और दूसरों ने रिपोर्ताज लिखे, लेकिन जो बात रांगेय राघव के लिखने में थी वह किसी को नसीब न हुई। जिन्हें उस वक्त की याद है वे याद करेंगे कि तब हवा में कैसी थरथरी थी। स्वाधीनता संग्राम अपने अन्तिम अध्याय में था। सन् बयालिस के दमन की पस्ती का दौर खत्म होकर आई.एन.ए. के जवानों की मुक्ति के प्रश्न को लेकर और फिर बम्बई में जहाजियों की बगावत को लेकर देश में फिर एक नया ज्वार आ रहा था। जगह-जगह जुलूस निकलते थे, लाठियाँ चलती थीं, गोलियाँ चलती थी, पकड़-धकड़ होती थी – और आज़ादी के उस जुलूस के साथ रांगेय राघव का रिपोर्ताज कन्धे से कन्धा मिलाये चल रहा था। '

(रांगेय राघव का रचना संसार, पृ. 37)

चाहे बंगाल के अकाल से संबंधित रिपोर्ताज हो या ग्वालियर में मज़दूरों पर हुए गोलीकाण्ड से, रांगेय राघव सब कहीं जनता की साम्राज्य-विरोधी चेतना, स्वाधीनता

संग्राम में हिस्सेदारी के उत्साह और साम्प्रदायिक सद्‌भाव को रेखांकित करते चलते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में नाज़ी बर्बरता के विरुद्ध साहित्य और पत्रकारिता के मिले-जुले, मानवीय रंगों से इलिया ऐहरनबर्ग, तिख्रनोव और यूजिनि क्रीगर आदि सोवियत लेखकों ने अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना सोवियत जनता की जिस प्रतिरोध चेतना का अंकन रिपोर्ताज की इस सद्यःविकसित विधा में किया था, हिदीं में रांगेय राघव का कार्य भी उसी कोटि का है।

'तूफ़ानों के बीच' में जो रिपोर्ताज संग्रहित है उनमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखक के आगे इस बात को लेकर कोई भ्रम नहीं है कि ये अकाल प्राकृतिक आपदा नहीं, साम्राज्यवादी षड्यंत्र का एक हिस्सा है। अपनी संक्षिप्त भूमिका में इस ओर संकेत करते हुए लेखक ने लिखा है ...

> 'बंगाल का अकाल मानवता के इतिहास का बहुत बड़ा कलंक है। शायद क्लियोपेट्रा भी धन के वैभव और साम्राज्य की लिप्सा में अपने गुलामों को इतना भीषण दुख नहीं दे सकी जितना आज एक साम्राज्य और अपने ही देश के पूँजीवाद ने बंगाल के करोड़ों आदमी, औरतों और बच्चों को भूखा मार दिया है ...'
>
> (ग्रंथावली-8, पृ. 188)

बंगाल की इस भुखमरी को वह इस देश की परतन्त्रता से जोड़ कर देखते हैं जिसके लिए जनता की महान् शक्ति और नये साहस पर उन्हें गहरा विश्वास है। बंगाली, असमिया, हिंदू और मुसलमान युवा साथियों का यह एक मिला-जुला दल था जिसने कुष्टिया, नारायन गंज और चटगाँव के दूरदराज क्षेत्रों में जाकर विनाश के उस ताण्डव के बीच जनता के साहस और उत्साह को देखा था। बंगाल की स्वर्णभूमि हाहाकार करती मृत्यु से एक महाश्मशान में बदल दी जाती है : बंकिम बाबू का 'आनन्दमठ' रांगेय राघव का 'विषाद मठ' बन कर रह गया है।

अपने विरुद्ध रचे गये इस भयंकर षड्यंत्र की ओर से न तो जनता उदासीन है और न ही किसी प्रकार का कोई भ्रम उसे है। इस मानवीय संकट ने चीज़ों को स्पष्ट रूप में देखने की क्षमता भी उसमें पैदा की है। कुष्टिया का मुस्लिम युवक कहता है ...

> 'उस दिन हमने देखा कि हिंदू-मुसलमान नहीं, हम भूखे थे, त्रस्त और शोषित थे। जब हम दोनों हिंदू-मुसलमान होकर हमारा रक्त चूसने के लिए एक हो सकते थे तो क्या हम अपने रक्त को बचाने के लिए एक नही हो सकते थे? उस दिन हिंदू, हिंदू नही था, न मुसलमान, मुसलमान। उस दिन दो वर्ग थे – लुटेरे और भूखे ...'
>
> (ग्रंथावली-8 पृ. 193)

जिस पद्मा पर बजरे में बैठकर एक दिन महाकवि ने अपने गीतों की रचना की थी, जिनकी गूंज से मानव की आत्मा में नवीन साहस और धमनी-धमनी में स्फूर्ति भरने वाली सृष्टि हुई थी, सब कुछ वैसा ही रहने पर भी जैसे कहीं बहुत कुछ बदल गया है ...

> 'वह शांत घर चाँदनी में सो रहे थे लेकिन मानव को इतना अवकाश, इतना समय नहीं था कि वह भी पानी पर बहती चाँदी-सोने की झिलमिल चादरों से आल्हादित होता। स्त्री यहाँ वेश्या हुई थी, पुरुष भिखारी, बच्चे घरघराते पशु ... समस्त वातावरण से मानों कराहे फूट पड़ती थी ...'

(वही, पृ. 194)

अपने ही पेट के बच्चों को सोता छोड़कर रूपलाल की पत्नी पति द्वारा कहीं से कैसे ही लाया गया चावल पकाकर, उसके लौटने की प्रतीक्षा किये बिना ही, खा जाती है ... लौटने पर क्रोध से बिफर कर रूपलाल अपने बच्चों समेत उसे गंड़ासे से काट डालता है और स्वयं पुलिस के पास पहुंचकर आत्म समर्पण कर देता है। दो जवान मुसलमान औरतें जिनमें से एक-एक और दूसरी दो बच्चों की माँ है, परिवार के पुरुषों द्वारा छोड़कर चले जाने पर बाज़ारू औरतों के घर चली जाती हैं। वे अकेली ही नहीं है, बंगाल की पच्चीस-तीस प्रतिशत औरतों के साथ यही हुआ था। बाहर से आये भट्टाचार्य जैसे कुछ लोग भले ही उनकी इस कारगुज़ारी को सुनकर रोष से थूक टिकती आवाज़ में कुछ भी कहें। वहीं का बूढ़ा मुसलमान उनके बारे में निर्णय को लेकर ऐसी कोई जल्दबाज़ी नहीं दिखाता। यह ठीक है कि जहाँ बहुत-सी औरतों ने वेश्या बनने के बदले भूखे रहकर मर जाना ठीक समझा, ये भी अगर मर जातीं तो क्या फ़र्क पड़ता। 'लेकिन फिर बहुत संजीदगी और उदासी भरे लहज़े में वह पलट कर पूछता है - लेकिन मरना भी क्या इतना आसान है? शिद्धिर गंज, ढाका में जब टोली का कोई सदस्य मरियल बैल के पास बैठे नारियल पीते बूढ़े बुनकर को टोली के सदस्यों का परिचय देते हुए गाँव के हालचाल पूछता है तो वह उत्तर देता है ... हाल चाल? ... वह देखो .. और उसने एक कब्र की ओर इशारा किया और कहता गया, ... शिद्धिर गंज के हालचाल सुनना चाहते हो? एक-दो तीन गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाओ। कसम है, अगर तुम किसी को हाय-हाय करते पाओ। नहीं, आज कुछ नहीं है। था एक दिन, जब गांव में रात-दिन रोने-कराहने के सिवा और कुछ भी सुनायी नहीं देता था। मगर अब तो वह सब कुछ नहीं है'...(वही, पृ. 208)

ढाके की जिस मलमल को कभी शहंशाह पहनते थे वहाँ के कारीगर चूहों की मौत मर चुके हैं। एक ही कतार में बनी चौदह कब्रें और पगडण्डियों पर बैठे भूखे और मरियल कुत्ते। एक भुतहा सन्नाटा कसे हुए तार की तरह पूरे गाँव पर, एक छोर से दूसरे छोर तक तना हुआ है ... साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवादी गठबन्धन के परिणामस्वरूप देश एक

भयंकर बूचड़खाने में बदल कर रह गया है। चटगाँव में बच्चों के अस्पताल में बच्चों के नाम पर अधिकांश जीव पल रहे हैं उन्हें देखकर उन्हें गोद में लेने को जी नहीं होता – जैसे हड्डियों पर चमड़ी मढ़ी है जिनके बारे में नर्स की टिप्पणी है 'अधिकांश सड़क की उपज है ...' उन्हें देखकर लेखक अपनी कल्पित प्रेमिका को पत्र में लिखता है ...

> 'इलिया ऐहरनबर्ग नात्सी बर्बरता के खिलाफ़ बहुत चिल्लाता है। पर मैं चिल्लाना नही चाहता क्योंकि तुम दूर से शायद नहीं समझोगी कि मेरे सामने क्या है? लौटने पर एक दिन तुम मेरे साथ श्मशान चलना। मैं हड्डियों पर एक दूसरी को टिका दूँगा और तुम विश्वास से देखना वह ढाँचा मुस्करा देगा ...।' (वही, पृ. 232)

अकाल के बाद चेचक, हैजा और महामारी से लड़ती जनता फ़ौजियों द्वारा बीमारियों की रोकथाम और इन स्वयंसेवकों की सहायता के अन्तर को अच्छी तरह समझती है। उसके साथ मरने और जीने वाले निर्णय को थोड़ा बदल कर लेखक इच्छा व्यक्त करता है – लेकिन साथ मरेंगे नहीं, साथ जियेंगे।

'यह ग्वालियर है!' ग्वालियर में मज़दूरों पर हुए गोलीकाण्ड से संबंधित है। यहाँ भी लेखक साम्राज्यवाद की दमन और निरंकुशता की नीति से ही इस घटना को जोड़ कर देखता है। इन मरने वाले मज़दूरों में भी हिंदू और मुसलमान दोनों थे। अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर युद्ध की यह हुँकार भारत की जनता में 1857 में भी है, जलियांवाला बाग में भी है, सन् '30 में भी है, सन् '42 में भी है। स्त्रियों को गोली से मारने की भर्त्सना करने वाला युवक अपनी छाती खोल कर खड़ा हो जाता है। उसके आगे वारेन हेस्टिंग्ज की विशाल मूर्ति और आठवें एडवर्ड का राज्य त्याग कितना हेच लगता है! उस रानी लक्ष्मीबाई की समाधि इसी ग्वालियर में है जिसने विदेशियों के दाँत खट्टे कर दिये थे। उसके हाथ की चमचमाती तलवार से पैदा हुई बिजलियों की लरज़ और कड़क आज सम्मिलित होकर एक नयी हुँकार का रूप ले रही है। आज साम्राज्यवाद के गढ़ में भी यह आग, युद्ध और हलचल दिखायी देती है क्योंकि मज़दूर वर्ग अँगड़ाई लेकर जाग रहा है। यह नंगों और भूखों की जागृति है जिसने विदेशी साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के वर्ग चरित्र को एकदम साफ़ कर दिया है। वातावरण में व्याप्त सड़ाँध नाली की मामूली सड़ाँध नही है, जैसा कि भ्रम होता है ... 'हिन्दुस्तान में सुबह के वक्त जब हवा साफ़ होनी चाहिए थी, मन मिचलाने वाली, उबकाई लाने वाली बदबू क्यों फैल रही है – क्यों वारेन हेस्टिंग्ज की लाश सड़ रही है, गल रही है, उसमें कीड़े पड़ गये हैं, चल रहे हैं, गिलगिले, गलीज़, घिनौने ...' (वही, पृ. 258)

स्पष्ट ही यह लाश अकेले वारेन हेस्टिंग्ज की न होकर पूरे साम्राज्यवाद की है।

21. श्रीकांत वर्मा की जिरह

अरविंद त्रिपाठी

हालाँकि श्रीकांत वर्मा मुख्यतः और अंततः एक कवि हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, 'मैं एक कवि के रूप में प्रकट हुआ, एक कवि के रूप में मरूँगा।' (साक्षात्कार : श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृ. 307)। यद्यपि उन्होंने कविता के अलावा कहानियाँ, उपन्यास, डायरी, आलोचना, अनुवाद, यात्रा-वृत्तांत जैसी विधाओं में कविता के समानान्तर लगातार लिखा – तीन दशक तक पत्रकारिता की। साहित्य और जीवन की खोज में तीन बार पूरी दुनिया की यात्राएँ कीं और अंत में कहा 'भारत अद्भुत और महान् देश है।'

इस तरह देखा जाय तो इस छोटे क़द के कुतुब आदमी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह एक अद्भुत कवि है, इसमें संदेह नहीं; पर कवि के अलावा उसके वैचारिक गद्य में एक सक्रिय बुद्धिजीवी की छवि उभरती है। यह छवि उसके कवि रूप से कम महत्वपूर्ण नहीं, जैसे अज्ञेय और मुक्तिबोध बुनियादी रूप से एक कवि के रूप में जाने-माने जाते हैं। पर इनका वैचारिक गद्य क्या कम मूल्यवान है?

श्रीकांत वर्मा रचनावली के तीसरे और चौथे खण्ड से गुज़रते हुए पाठक को श्रीकांत वर्मा के बौद्धिक व्यक्तित्व की ऊँचाइयों का पता चलता है। अगर वे हमेशा एक बेचैन और उत्तप्त लेखक रहे तो उसका सीधा साक्षात्कार उनके वैचारिक और आलोचनात्मक लेखों, टिप्पणियों, बहसों से करना होगा। जिनमें गहरी विविधता और सघन वैचारिक ऊष्मा का विस्फोट निहित है। उन्होंने वैचारिक गद्य लेखन की यात्रा कवि-कर्म के साथ-साथ की। ख़ासतौर से उन्होंने नयी कविता और नयी कहानी आंदोलन के दौर में चरम वैयक्तिकता का तीखा विरोध किया था। उनके आरंभिक आलोचनात्मक लेखन में इन आंदोलनों की भीतरी राजनीति और उनके निहित सरोकारों पर तीखे प्रहार हैं। तब वे साहित्य में व्यक्तिवाद, कलावाद से जूझ रहे थे।

भटका मेघ (1957) की भूमिका लिखते हुए श्रीकांत ने नयी कविता के व्यक्तिवाद, क्षणवाद पर तीखी टिप्पणियाँ की थीं। स्पष्ट रूप से वे अज्ञेय की नयी कविता के शास्त्र के विरुद्ध खड़े थे। वे प्रतिवाद करते हुए कहते है 'प्रश्न यही है कि आज की जीवंत

कविता में कौन-सा व्यक्तित्व उभर रहा है? आज के जीवंत मूल्य कौन-से हैं? राहों के अन्वेषण के लिए मशाल की ज़रूरत होती है। अंधकार के खंडहरों में भटककर चिमगादड़ के पंखों की फटफटाहट को ही जीवन का एकमात्र चिह्न मान लेना एक और बात है, पथ की खोज करना एक और बात है। (श्रीकांत वर्मा रचनावली, पृ. 458)।

यह वक्तव्य छत्तीसगढ़ के उस आरंभिक श्रीकांत का है जो अपनी कविता के ज़रिये जीवन-मूल्यों और आस्था की खोज करने निकला है। तब उसके व्यक्तित्व पर मुक्तिबोध की गहरी छाप मौजूद थी। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व की काली धधकती आँच और उनकी कविता के भयानक संसार ने उसे वह विद्युत स्पर्श दिया था, जिसके चलते वह नयी कविता आंदोलन में मुक्तिबोध और उनकी कविता की परम्परा के साथ विकसित हो रहा था। तब उसने नयी कविता में, मुक्तिबोध के साथ 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' को तोड़ने के लिए सप्तक परम्परा से बाहर आकर अज्ञेय के व्यक्तिवाद के क़िले को तोड़ने की पुरज़ोर कोशिश की थी।

वे अज्ञेय को आधुनिक काव्य का एक ग़लत प्रणेता मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि 'मैं इस नतीज़े पर पहुँचने लगा हूँ कि हिंदी को उसकी जड़ से सबसे अधिक अज्ञेय ने उखाड़ा है। उन्होंने उस पर बाहरी माँग, झूठी मान्यताएँ और नक़ली चिन्ताएँ आरोपित कीं, इससे हिंदी साहित्य और इससे भी अधिक हिंदी लेखकों का व्यक्तित्व बेडौल हो गया, जो एक व्यक्तित्व का अहं था वह दूसरों का बोझ बन गया।

अज्ञेय के साथ हिंदी लेखन एक ग़लत दिशा में मुड़ गया। हमें नियति का चमत्कार ही कहना चाहिए कि हिंदी लेखन ने 1940 के आस-पास अपने लिए वह भूमिका ओढ़ ली, जो उसके लिए नहीं थी।

तीस वर्षों में कहीं भी इतना छद्म लेखन नहीं हुआ जितना कि 1940 से 1970 के बीच हिंदी में हुआ। अज्ञेय की कविताएँ और गद्य हिंदी छद्म लेखन की शुरुआत हैं। 1965 से 1970 के बीच अकविता इस लेखन की चरम परिणति है।' (श्रीकांत वर्मा की डायरी 6 फरवरी 1972 रचनावली-2, प. 355)।

इस वक्तव्य के परिप्रेक्ष्य में देखें तो श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म की शुरुआत नयी कविता के व्यक्तिवाद के विरुद्ध जा कर की। वे अज्ञेय की धारा के विरुद्ध बह रहे थे। वह धारा मुक्तिबोध के समीप थी। पर वह निश्चित रूप से परिमल की नयी क़विता और अज्ञेय की कविता के विरोध में बह रही थी। उन्होंने 'मायादर्पण' संग्रह में 'नक़ली कवियों की वसुन्धरा' शीर्षक से लिखी अपनी बहुचर्चित कविता में जैसे नयी कविता के दौर के उन नक़ली कवियों का विरोध किया था और लगभग गाली की भाषा में चेतावनी दी थी– 'बरस रहा है अंधकार, मगर उल्लू के पट्ठे स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ लिख रहे हैं', ऐसा

कहकर उन्होंने नयी कविता की व्यक्तिवादी रोमाण्टिकता' को मुक्तिबोध की तरह एक कठिन चुनौती के रूप में पेश किया। 'मायादर्पण' में कवि की सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ अन्वेषी दृष्टि उनके सजग काव्य विवेक का प्रमाण है। इसे कवि के व्यक्तिगत सिनिसिज़्म मे रिड्यूस करना उसके सामाजिक सरोकारों को अनदेखा करना होगा।

श्रीकांत व्यक्तिवाद के समानान्तर उन नक़ली प्रगतिवादियों से भी संघर्ष करते दीखते हैं जो कविता को महज़ नारा और गाली बना रहे थे। वे मुक्तिबोध के नाम लिखे (13-12-63) अपने पत्र में युवा कविता का विरोध कर रहे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं – 'नयी पीढ़ी को कोसकर फिर से जीवित हुए पुराने प्रगतिवादी आलोचक ग़लती कर रहे हैं। यह सही है कि बहुत-सा फ़ैशनेबल साहित्य भी रद्दी, भद्दी पत्रिकाओं में छप रहा है, मगर आज के साहित्य का महत्वपूर्ण अंश पहले से अधिक मानवीय है ... मैं अब भी एक वामपक्षी समाजवादी समाज में विश्वास करता हूँ और करूँगा क्योंकि मनुष्यता के लिए एक मात्र रास्ता यही है। मगर जिस तरह का अवसरवाद हमारे सामाजिक जीवन के भीतर-ही-भीतर पनप रहा है उससे वामपक्ष भी बरी नहीं है। बल्कि अगर विचारधारा को छोड़ दिया जाये तो व्यवहार और कर्म से वाम और दक्षिण में कोई अन्तर नहीं रह गया है।' (श्रीकांत वर्मा रचनावली 4, पृष्ठ 423)।

ग़ौर किया जाये तो श्रीकांत के वैचारिक आरंभ में एक ओर मुक्तिबोध उन्हें काव्य और साहित्य के स्तर पर प्रभावित कर रहे थे तो दूसरी तरफ़ राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर वे डॉ. लोहिया के विचार और कर्म से गहरे स्तर पर आकृष्ट हुए। डॉ. लोहिया के प्रति श्रीकांत का यह आकर्षण केवल आकर्षण भर नहीं था बल्कि वे देश की राजनीति में नेहरू के विकल्प के रूप में डॉ. लोहिया को देख रहे थे। अन्य समाजवादी लेखकों और बुद्धिजीवियों की तरह श्रीकांत डॉ. लोहिया के ग़ैर कांग्रेसवाद और उनकी सप्तक्रांतियों में गहरी आस्था रखते थे।

श्रीकांत लोहिया के व्यक्तित्व की आँच से किस हद तक प्रभावित थे इसके लिए उनका लोहिया के बारे में यह वक्तव्य काफ़ी है – 'गलत दुनिया में पैदा होने का अहसास क्रांतिकारी की पहली शर्त है। राममनोहर लोहिया के पहले औरों को भी यह अनुभव हुआ होगा कि वे ग़लत हिंदुस्तान में पैदा हुए हैं ... और आक्रांता इतिहास से जूझते हुए राममनोहर लोहिया ऐसे समय में मरे जबकि युवक यह समझने लगे थे कि कुछ थोड़ा-मोड़ा नही सब कुछ ग़लत है ... लोहिया इस ख़तरे को जानते थे। इसलिए उन्होंने अस्वीकार के दर्शन को जिसे उन्होंने स्वयं ही रचा, कर्म का दर्शन बनाया।' (श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृ. 70)।

श्रीकांत मानते हैं कि डॉ. लोहिया का समूचा चिन्तन एक ऐसी तर्क प्रणाली है जिसकी चपेट में आकर कोई भी रूढ़ि बच नहीं सकती। वे मानते हैं कि डॉ. लोहिया के पूर्व भारतीय राजनीति में गाँधी ही एक ऐसे जननायक थे जिन्होंने हर प्रश्न को विशाल संदर्भ में देखा था। इसीलिए डॉ. लोहिया के प्रश्नों का अन्त नहीं है। वे मानते हैं, "डॉ. लोहिया के पास किसी भी प्रश्न का हल नहीं है। जो लोग हल की तलाश में उनके नज़दीक पहुँचेंगे, उन्हें सबसे अधिक निराशा होगी। बल्कि झुँझलाहट भी होगी क्योंकि उन्होंने हल ढूँढ़ने की बजाय केवल प्रश्न पेश करना अपना कर्त्तव्य समझा। उनका मन लाखों शंकाओं से भरा हुआ है। जैसे फ्रांस के अस्तित्ववादियों ने स्वयं जीवन के प्रति शंकाएँ उठायी थीं, वैसे ही डॉ. लोहिया ने इतिहास के प्रति शंकाएँ उठायी हैं। यह भी एक कारण है कि शासक राजनेताओं को डॉ. लोहिया का व्यक्तित्व समझ में नहीं आता। उनकी निगाह में लोहिया एक हताश राजनीतिज्ञ हैं, जो जीवन भर दूसरों को चुनौती देते रहे। लेकिन वास्तविकता यह है कि श्री लोहिया ने दूसरों को चुनौतियाँ दी नही है बल्कि अपनी वे शिकायतें और सवाल उठाये हैं, जिनसे जूझते हुए स्वयं उनका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो गया है।" (श्रीकांत वर्मा रचनावली-5,. पृ. 67)।

श्रीकांत ने भारतीय राजनीति और समाज में डॉ. लोहिया की स्थिति को 'आत्म निर्वासन' कहा है। वे कहते हैं इस तरह का निर्वासन आज के हर विद्रोही की नियति है। ज़ाहिर है लोहिया का यह आत्म-निर्वासन श्रीकांत की युवाकाल की वाणी का जैसे पाथेय बन गया। सन् '60 के बाद श्रीकांत के कवि कर्म में जो दूसरा निर्णायक मोड़ आया, उसके पीछे भारतीय राजनीति के इसी आत्मनिर्वासित जननायक की भूमिका है, जिसने श्रीकांत की कविता और विचार को दो टूक, निर्मम और नाराज़ बनाया। जिस तरह डॉ. लोहिया समाज और राजनीति में आत्मनिर्वासित नायक रहे, उसी तरह श्रीकांत की कविता का नायक आत्मनिर्वासित नायक है। जो लोहिया की तरह कविताओं में प्रश्न पूछता है, ज़िरह करता है।

श्रीकांत के वैचारिक गद्य में जो अंतहीन बहस, जिरह और प्रश्न खड़ा करने की आदत है, यह उन्हें विरासत में डॉ. लोहिया से मिली। जिससे श्रीकांत अपने विचारों के सबसे बड़े वकील बने। दरअसल लोहिया की वाणी और विचार का असर सिर्फ़ श्रीकांत पर ही नही है बल्कि उनके समकालीनों, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और विजयदेव नारायण साही सरीखे कवियों पर भी पड़ा है। श्रीकांत में लोहिया की वाणी की आक्रामकता और दो टूकपन सबसे ज़्यादा है। शायद इसीलिए श्रीकांत के गद्य और कविता की भाषा का तापमान हमेशा चढ़ा रहा, इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि लोहिया के बिना श्रीकांत की वैचारिक ऊष्मा की पड़ताल अधूरी है।

श्रीकांत की पहली भेंट डॉ. लोहिया से 1963 में हुई थी। श्रीकांत कहते हैं, 'मैं उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ था और उनका भी मेरे प्रति अनुराग था।' डॉ. लोहिया की असामाजिक मौत से श्रीकांत कितने गहरे सदमें में हैं, इसका अन्दाज़ा उनकी इस टिप्पणी से लगाया जा सकता है : 'ग़रीब बाप के बेटे राममनोहर लोहिया ने चालीस साल तक इस देश की ग़रीबी, अशिक्षा और भुखमरी के विरुद्ध अकेले संघर्ष किया है, पिछले दस दिनों से वह तमाम डॉक्टरों के बावजूद मृत्यु से अकेले संघर्ष कर रहे हैं ... हाल के इतिहास में किसी एक आदमी के लिए इतनी प्रार्थनाएँ नहीं की गयीं जितनी कि पिछले दस दिनों से डॉ. लोहिया के लिए की जा रही हैं। नयी दिल्ली का विलिंग्डन अस्पताल देश की चिन्ता और बेचैनी का केंद्र बना हुआ है।' डॉ. लोहिया की मृत्यु पर वे लिखते हैं – 'और लोग मरने के बाद सम्पत्ति छोड़ जाते हैं, सम्पत्ति के सबसे बड़े विरोधी डॉ. राममनोहर लोहिया कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये, यहाँ तक कि अपनी भस्मी भी नहीं, उनकी जो थोड़ी-सी भस्मी मिली, वह संगम पर प्रवाहित नहीं की जायेगी। डॉ. लोहिया को समुद्र से प्रेम था। इस प्रेम को दृष्टि में रखते हुए उनके कुछ मित्रों ने यह निश्चय किया है कि थोड़ी-सी राख कन्याकुमारी अन्तरद्वीप पर प्रवाहित कर दी जाये ... डॉ. लोहिया बेघर थे। मृत्यु के बाद अब उनके लिए घर की व्यवस्था की जा रही है।' (दिनमान, 22 अक्तूबर 1967)।

डॉ. लोहिया के अवसान के बाद समाजवादी आंदोलन बिखरने लगा। डॉ. लोहिया ने गाँधी की राजनीतिक विरासत के स्वप्न को ग़ैर कांग्रेसवाद में देखा था। श्रीकांत डॉ. लोहिया के जीवनकाल में इस ग़ैर कांग्रेसवाद के समर्थक थे। पर उनके न रहने पर गैर कांग्रेसवाद की सरकारों में एक गहरा अवसरवाद पैदा हुआ। इससे लोहियावादी बुद्धिजीवियों को एक बड़ा झटका लगा। श्रीकांत लिखते हैं 'समाजवादी आंदोलन बिखरने लगा और अन्य बुद्धिजीवियों की तरह मैं भी समाजवादियों से दूर जा पड़ा। 1969 में श्रीमती गाँधी ने ऐसे कई क़दम उठाये, जिन्हें मैं अब भी जनवादी मानता हूँ। मैं आकर्षित होकर श्रीमती गाँधी के निकट आया।' (वही, परिशिष्ट-ग पत्र)। हालाँकि श्रीमती गाँधी कितनी जनवादी थीं यह बहस का एक अलग मुद्दा है। पर इतना तय है कि राजनीतिक विचारधारा के स्तर पर श्रीकांत का समाजवादियों से मोहभंग और श्रीमती गांधी के आकर्षण में खिंचकर कांग्रेस में जाना उनके वैचारिक परावर्तन का एक गंभीर मोड़ है। श्रीकांत तर्क देते हैं कि 'डॉ. लोहिया यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक कांग्रेस नहीं टूटती है तब तक वह सत्ता भी नहीं टूटेगी जिसे वह सर्वग्रासी कहते थे। यह अजीब बात लग सकती है लेकिन सच यह है कि कांग्रेस को तोड़ने की प्रक्रिया दो स्तरों पर चली एक डॉ. राममनोहर लोहिया के स्तर पर, दूसरी श्रीमती गांधी के स्तर पर। लोहिया जी कुछ भिन्न कारणों से कांग्रेस को तोड़ना चाहते थे जबकि श्रीमती गांधी अन्य कारणों से। लेकिन दोनों के

उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था।" (श्रीकांता वर्मा रचनावली-4, पृ. 329)। श्रीकांत फिर प्रश्न करते हैं "क्या आप कल्पना कर सकते हैं। कि यदि लोहिया जीवित रहते तो 1969 में वही करते जो उनके अनुयायियों ने किया। वह सत्ता पर हावी होने की कोशिश करते, क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्ता सामाजिक क्रांति और परिवर्तन का अस्त्र है, उसे प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। शायद वे अल्पमत में जा रही कांग्रेस से सौदे करते, शर्तें रखते, सत्ता में हिस्सेदारी करते ताकि सामाजिक परिवर्तन का पक्ष प्रशस्त हो सके।" (वही, पृ. 339)। श्रीकांत के इस निष्कर्ष से हालाँकि सहमत होना कठिन है कि डॉ. लोहिया और श्रीमती इन्दिरा गांधी के उद्देश्यों में बहुत विरोध नहीं था। लेकिन वे श्रीमती गांधी से उसी तरह प्रभावित हुए जैसे कभी डॉ. लोहिया से। इसीलिए वे कांग्रेस में गये। क्योंकि कांग्रेस विभाजन के बाद इंडीकेट कांग्रेस की श्रीमती गांधी पर्याय थीं जो आजीवन बनी रहीं। पर श्रीकांत वैचारिक स्तर पर कभी कांग्रेस से जुड़े नहीं रहे। बल्कि कांग्रेस से जुड़े रहने का एकमात्र रहस्य ही उनके लिए श्रीमती गांधी थीं; क्योंकि श्रीमती गांधी के बाद श्रीकांत का मोहभंग कांग्रेस से उसी तरह होता है जैसे डॉ. लोहिया के न रहने पर समाजवादियों से। श्रीकांत के राजनीतिक रुझानों को समझने में इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। उनकी कांग्रेस से मोहभंग की कहानी जानने के लिए आज उनकी डायरियों के वे पन्ने विशेष महत्व रखते हैं जिन्हें उन्होंने अपनी मृत्यु के कुछ माह पहले लिखा था।

यहाँ राजेंद्र माथुर का श्रीकांत की राजनीति के सिलसिले में यह विश्लेषण सटीक लगता है "लोहिया से वे प्रभावित हुए अवश्य लेकिन **दिनमान** में की गयी पत्रकारिता उन्हें लगातार सक्रिय राजनीति की ओर ले आयी और जब 1968-69 में इंदिरा गांधी और तथाकथित सिंडिकेट के बीच मुक़ाबला चला तो वे इंदिरा गांधी के पक्षधर हो गये। पर श्रीकांत कांग्रेसी होते हुए भी कांग्रेसी संस्कृति के अंग नहीं बन सके। वे इंदिरा गांधी के व्यक्तित्व और उनकी कार्य-प्रणाली के कायल थे। और यही उनकी राजनीति थी। वे हमेशा उनको प्रति ईमानदार बने रहे। और हालाँकि आपात्काल के दौरान वे संजय गांधी के कारनामों से सहमत नहीं थे लेकिन इंदिरा गांधी का साथ उन्होंने नहीं छोड़ा।" (श्रीकांत वर्मा के निधन पर लिखा संपादकीय : नवभारत टाइम्स, 27 मई, 1986)।

देखा जाय तो राजनीतिक स्तर पर श्रीकांत शुरू से ही समाजवादी विचारधारा के समर्थक रहे। जब वे श्रीमती गांधी के संपर्क में आये तब भी उनका समाजवादी तेवर बुझा नहीं। वे सच्चे लोकतंत्र के हिमायती थे। वे चाहते थे कि समता के आधार पर समाज में सम्पन्नता आये। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वे लोकतंत्र में सबसे बड़ा मूल्य मानते थे। शायद इसीलिए उन्होंने जीवन भर किसी भी तरह की तानाशाही ताक़तों का विरोध किया। उनके कुछ आलोचकों का यह आरोप सही नहीं है कि वे इमरजेंसी के समर्थक थे। बल्कि

इसके विरोध में उन्होंने लेखकों के एक प्रतिनिधि मण्डल के साथ श्रीमती गाँधी से शिकायत की थी कि लेखकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हमला किया जा रहा है। इसलिए इमरजेंसी के दौर में कांग्रेस में बने रहने की उनकी नियति को इमरजेंसी का समर्थक नहीं घोषित किया जा सकता। इंदिरा गांधी के साथ तो वे तब भी बने रहे जब सन् '77 के आम चुनावों में कांग्रेस का सफ़ाया हो गया था। वे अगर अवसरवाद की राजनीति में विश्वास करते तो अन्य कांग्रेसियों की तरह जनता पार्टी में शामिल हो सकते थे। क्योंकि उस दौरान उन्हें पुराना समाजवादी मानकर जनता पार्टी के लोगों ने प्रलोभन दिये थे कि 'वापस आ जाओ' पर श्रीकांत पीछे नहीं लौटना चाहते थे। क्योंकि तब वे ग़ैर कांग्रेसवाद के औचित्य को नाकाफ़ी मान चुके थे।

चूँकि श्रीकांत एक लेखक होने के साथ ही देश की राजनीति में भी सक्रिय रहे हैं इसलिए उनके साहित्यिक-वैचारिक सरोकारों के साथ उनके राजनीतिक सरोकारों को भी ध्यान मे रखना ज़रूरी है। हालाँकि श्रीकांत साफ़-साफ़ कहते हैं कि "मेरे साहित्य और मेरी राजनीति की दुनिया अलग-अलग हैं। दोनों को एक में मिलाना मेरे साथ ज़्यादती है।" पर क्या एक लेखक का साहित्य उसकी राजनीति से बिल्कुल अलग है? श्रीकांत के साहित्य और राजनीति के सिलसिले में यह बहस का एक दिलचस्प मुद्दा है। जो हमेशा विचारणीय रहेगा।

जैसा कि पहले कहा गया अपने साहित्यिक जीवन में श्रीकांत मुक्तिबोध से गहरे स्तर पर प्रभावित रहे। उनकी कविताओं को लेकर हमेशा उनमें तीव्र आकर्षण रहा। मुक्तिबोध की कविता में जो भयानक तनाव और अंतर्द्वंद्व हैं उसे श्रीकांत ने अपने कवि-कर्म में आज़माया। पर वैचारिक स्तर पर उन्होंने डॉ. लोहिया की समाजवादी अवधारणाओं पर विश्वास रखने के चलते मुक्तिबोध की विचारधारा से अपनी असहमति व्यक्त की थी। इसीलिए वे मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों से जीवन भर असहमत रहे। क्योंकि वे इस दर्शन को मनुष्य की मुक्ति का अंतिम दर्शन नहीं मानते थे। इसीलिए वे शुरू से लेकर आख़िर तक अपनी ज़िरह में मार्क्सवाद से प्रश्न पूछते हैं, असहमत होते हैं और लगातार झगड़ते हैं। पर इस झगड़ने में उनकी मुद्रा मार्क्सवाद को रद्द करने की नहीं है जैसा कि कुछ मार्क्सवादी लेखकों ने श्रीकांत को मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी मान लिया। जैसे कट्टर विरोधी अज्ञेय, नरेश मेहता और निर्मल वर्मा सरीखे घोर कलावादी और व्यक्तिवादी लेखक हैं।

अगर ऐसा होता तो श्रीकांत मुक्तिबोध और परसाई सरीखे कट्टर मार्क्सवादी लेखकों को अपना आदर्श नहीं बनाते। वे मुक्तिबोध की कविता को हिंदी कविता का एक महान् युग मानते हैं। मुक्तिबोध के जीवन और कविता पर उनकी यह टिप्पणी कितनी अर्थवान है, यह देखने की चीज़ है – "तालाब के किनारे बैठकर रोमैण्टिक हो जाना स्वाभाविक है।

मुक्तिबोध दूसरी तरह के रोमैण्टिक थे। उनके पास न प्रेम-कथाएँ थीं न सस्ती भावुकता थी। उनके पास मालवे की यादें थीं। प्रकृति की स्मृतियाँ थीं। और उनकी प्रकृति भी जैसा कि उनकी कविता से स्पष्ट है और कवियों की प्रकृति से अलग है, अज़ीबोगरीब है। पेड़ों में बरगद उनका मनपसंद पेड़ था और पक्षियों में घुग्घू, देवताओं में, देव-प्रतिमाओं में अगर उन्हें कोई प्रिय था तो भैरों। यह विशालता, विश्वबोध जो अक्सर कालातीत हो जाता है मुक्तिबोध के काव्य और व्यक्तित्व की विशेषता थी। वह कहीं भी हों, लगता था किसी बड़े संदर्भ से जुड़े हुए हैं। उनका हर अनुभव किसी महानुभव से जाकर जुड़ जाता था। चाहे वह जुम्मा टैंक हो या टेकड़ी--मुक्तिबोध के लिए वे केवल प्रसंग थे। संदर्भ था - वह महाजीवन जिससे मुक्तिबोध एक इतिहासज्ञ, एक पुरातत्ववेत्ता और एक वैज्ञानिक की तरह जूझ रहे थे।' (श्रीकांत वर्मा रचनावली-4, पृ. 65)।

इस तरह श्रीकांत मुक्तिबोध के जितने कट्टर समर्थक हैं, शिवदान सिंह चौहान जैसे जड़ मार्क्सवादियों के उतने ही विरोधी। वे शिवदान सिंह के वर्ग संघर्ष के एलान को एक राजनीतिक कार्यकर्ता का एलान मानते हैं। वे साहित्य में प्रतिबद्धता की बहस को फ़िजूल मानते हैं – 'भेद न करना दृष्टिहीनता की ही दृष्टि की व्यापकता का परिचायक है। साहित्य-दवा की बोतल नही है जिसमें भेद किया जा सके। साहित्य में कोई पक्ष-विपक्ष नहीं होता। पक्षधरता राजनीति का स्वभाव है। जो साहित्य को भी पक्ष-विपक्ष में विभक्त कर देखता ही नहीं मूल्यांकन करता है, वह वास्तव में एक राजनीतिक कार्यकर्ता है साहित्यकार नहीं। (श्रीकांत वर्मा रचनावली-3, पृ. 44)।

साहित्य में प्रतिबद्धता के सवाल को रद्द करने के बावजूद श्रीकांत जार्ज लुकाच जैसे मार्क्सवादी आलोचक को अस्वीकार नहीं कर पाते हैं, जो साहित्य में पक्षधरता और प्रतिबद्धता के प्रश्न को सबसे बड़ा मूल्य मानता है। श्रीकांत जार्ज लुकाच के अवदान को रेखांकित करते हुए कहते हैं, 'इसमें कोई संदेह नहीं कि जहाँ तक उन्नीसवीं सदी और उसके साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच की व्याख्याएँ प्रामाणिक हैं ... जहाँ तक मार्क्सवादी साहित्य का प्रश्न है जार्ज लुकाच उसके विधाता हैं। यदि मार्क्सवादी साहित्य ने कुछ भी पैदा न किया होता केवल लुकाच पैदा किया होता तो भी वह हमेशा बुद्धिजीवियों और रचनाकारों के अध्ययन का विषय होता।' (वही, पृ. 221)।

ग़ौर करने की बात है कि श्रीकांत वर्मा मार्क्सवाद से असहमत क्यों हैं? यद्यपि वे अपने साहित्य में समाज और साहित्य के रिश्ते को अनेक बार, अनेक तरह से व्याख्यायित करते हैं और मनुष्य की नैतिक आवाज़ को ही साहित्य का मुख्य स्वर मानते हैं। शायद इसकी एक बड़ी वजह यह है कि वे अपने जीवन और लेखन में आधुनिकता का विकल्प नहीं ढूँढ़ पाये। कहना न होगा कि वे नयी कविता के दौर में आधुनिकता और आधुनिक

साहित्य के सबसे बड़े पैरोकार थे। उनकी यह पैरोकारी शुरू से आखिर तक झलकती है। पर वे पश्चिमी आधुनिकता के हिमायती नहीं हैं बल्कि उसके विरोधी हैं। वे कहते हैं "पश्चिम की यह आधुनिकता जो हमारे साहित्य और जीवन मे आयी वह नक़ली है।" इसके बरक्स वे मानते हैं कि "आधुनिक जीवन में भारत में एक देसी आधुनिकता भी विकसित हुई है, यही आधुनिकता हमारे साहित्य और समाज के लिए यथेष्ट है।"

'बीसवीं शताब्दी के अँधेरे में' में जिरह करते हुए श्रीकांत मानते हैं कि बीसवीं शताब्दी की कल्पना बिना आधुनिकता के असंभव है। वे कहते हैं कि आधुनिकता का जब इतना विरोध है तो यह बताना ज़रूरी होगा कि आख़िर आधुनिकता का विकल्प क्या है? पर श्रीकांत आधुनिकता के पक्ष में ज़िरह करते हुए आँख नहीं मूँद लेते हैं बल्कि वे आधुनिकता से भी ज़िरह करते हैं। वे आधुनिकता के उन मानवविरोधी मूल्यों में तीव्र अहसमति प्रकट करते हैं जो डिमाक्लीज की तरह मनुष्यता की गर्दन पर आज झूल रहा है। वे मानते हैं "इस समय कलाओं पर दोहरा दबाव है। एक ओर उन्हें मनुष्यता के संकट को व्यक्त करना है और दूसरी और स्वयं उनका अस्तित्व संकट में है। टेक्नोलॉजी ने और टेक्नोलॉजी से उत्पन्न खिलवाड़ ने कलाओं को बहुत हद तक असंगत कर दिया है ... विशिष्टता और व्यक्तित्व का सबसे अधिक ह्रास इस शताब्दी में हुआ है।" ('बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' की भूमिका : रचनावली-1, पृ. 474)। उनके अनुसार, बीसवीं शताब्दी में "मूल्यहीनता से टकराते और भटकते हुए मनुष्य के सवालों को सबसे अधिक संवेदना के साथ साहित्यकारों ने उजागर किया है। यह साहित्य के प्रति मेरी पक्षधरता नहीं है, यह सच्चाई है और इससे वे परिचित हैं जो तमाम देशों में रचे जा रहे साहित्य के कुछ सम्पर्क में हैं।" (वही, पृ. 474)।

श्रीकांत वर्मा की दृष्टि में आज बीसवीं शती के साहित्य के सामने मुख्य प्रश्न मनुष्य के अस्तित्व और उसके भविष्य का है। उनका कहना है कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के सामने भी प्रश्न यही है। वे मानते है कि "दरअसल अस्मिता का प्रश्न अतीत के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। कोई भी रचनाकार अपनी अस्मिता की तलाश अपनी परम्परा के बाहर जाकर नहीं कर सकता।" ज़ाहिर है वे आधुनिकता के बरक्स परम्परा की खोज भी ज़रूरी मानते हैं। बिना अपनी परम्परा से गुज़रे, उसका मूल्यांकन किये हम अपनी आधुनिकता और बीसवीं शताब्दी के प्रश्नों से जूझ नहीं सकते। यह आकस्मिक नहीं है कि इधर बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप भारतीय साहित्य अपनी स्मृतियों की ओर सभी भाषाओं में लौटा है। श्रीकांत ने इस तथ्य की ओर इशारा आज से पच्चीस साल पहले किया था, जो उनके अचूक भारतीय आधुनिक होने का सबूत है।

वे आधुनिक भारतीय साहित्य के वर्तमान चेहरे को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं – "भारत में भी कुछ वर्षों में एक नयी छटपटाहट आरंभ हुई है। अतीत और वर्तमान पर

पुनर्विचार हुआ है। और इस पुनर्विचार के साथ ही लेखक की अपनी स्थिति पर पुनर्विचार भी शुरू हुआ है। फिर भी एक भारतीय लेखक को यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ प्रश्न सार्वभौमिक होते हैं, कुछ निजी और कुछ राष्ट्रीय। वह किसी भी प्रश्न से कतरा नहीं सकता। जब तक प्रश्न है तभी तक साहित्य है।" (वही, पृ. 480)।

श्रीकांत की इस ज़िरह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे मानते हैं कि एक लेखक के जीवन में बसंत कभी नहीं आता। वे कहते हैं– "मैं बसंत की तलाश में हूँ। मेरी रचनाओं में बसंत कभी नहीं आया ... अगर मैं चाहूँ भी तो यह कह सकता हूँ, यही इस युग का सत्य है। लेकिन मैंने युग सत्य की तलाश का दावा कभी नहीं किया। इसलिए सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि मैंने जो और जैसा जीवन जिया–उसका यही सत्य था।" ('प्रसंग' की भूमिका : श्रीकांत वर्मा रचनावली-1, पृ. 466)।

श्रीकांत की ज़िरह में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वे सिर्फ़ साहित्य के प्रश्नों से ही नहीं जूझते बल्कि विचारधाराओं की तानाशाही के विरुद्ध मानवीय स्वतंत्रता, जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सबसे बड़ा मूल्य है, जैसे प्रश्नों के साथ कला, समाज, राजनीति के विश्वव्यापी संकटों से जूझते हैं और मनुष्य के सम्मुख संकटों को बहुत सुलझी हुई विचार दृष्टि के साथ उद्घाटित करते हैं। जिनसे आप टकरा सकते हैं, कतरा नहीं सकते।

चूँकि वे अपने विचारों के सबसे बड़े वकील थे। इसलिए, उनके वैचारिक गद्य में एक अंतहीन बहस के साथ-साथ लम्बी ज़िरह भी मौजूद है जिससे गुज़रना उस अंतहीन बहस में शामिल होना है, जहाँ श्रीकांत के शब्द बीसवीं शताब्दी के अवसान के समीप पूरी आवाज़ के साथ बज रहे हैं। जीवन के आखिरी वर्षों में उनकी यह आवाज़ अपनी प्रखर बौद्धिकता के साथ भारतीय और विश्व आधुनिकता से गुज़रती हुई भारतीयता के उस जीवन-मूल्य की खोज पर टिकी, जहाँ वे ईमानदार और खरे क्षोभ से अंततः गहरे उदास विवेक तक पहुंचे थे। यह गहरा उदास विवेक ही उन्हें सच्चा भारतीय लेखक बनाता है। उनकी यह वैचारिक यात्रा दरअसल बीसवीं शताब्दी के एक सच्चे आधुनिक भारतीय मनुष्य की अंतहीन ज़िरह है।

('श्रीकांत वर्मा', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से साभार)